सोवियत रूस में
भारत के क्रांतिकारी

[पूरब मे कम्युनिस्ट आंदोलन के मुख्याधार के प्रमुख स्तंभ]

लेखक

एम० ए० पेरसित्स

सम्पादक

प्रो० आर० ए० उल्यानोव्स्की

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लि.

चमेलीवाला मार्केट, एम आई. रोड, जयपुर 302001

REVOLUTIONARIES OF INDIA IN SOVIET RUSSIA
का हिन्दी अनुवाद

English Edition

अनुवादक :
मोहन श्रोत्रिय
डॉ० जीवन सिंह

हिंदी संस्करण

दिसंबर 1985 (RPPH 6)

मूल्य : 12.50

प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित तथा रामपाल द्वारा
पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०, जयपुर की ओर से प्रकाशित।

अक्तूबर क्रांति और पूरब एक ऐसा विषय है जो कि इसके संबंध में किए गए अध्ययनों की विपुलता के बावजूद अभी भी चुका नहीं है। और अधिक शोध-निष्कर्षों के उपलब्ध होने तथा साक्ष्यों की खोज के साथ ही यह स्पष्ट हो रहा है कि एशिया पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव आरंभिक आकलनों की तुलना में कहीं अधिक व्यापक व गहरा रहा है। यह वह निष्कर्ष है जो साम्राज्यवाद द्वारा दमित-उत्पीड़ित जनगण के संघर्ष पर महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के प्रभाव के अब तक अपरिचित पक्षों को उद्घाटित करने वाली किसी पुस्तक को पढ़ते हुए कोई भी आसानी से निकाल लेता है।

यह पुस्तक सोवियत रूस में भारत के साम्राज्यवाद-विरोधियों, जो अपने देश की आजादी के लिए लड़ रहे थे, के उत्प्रवास आंदोलन के संदर्भ में अंतर्दृष्टि प्रस्तुत करती है। नाटकीय क्रांतिकारी संघर्ष, आस्था एवं उत्साह से भरे इस आंदोलन को न तो हिमालय रोक पाया और न हिन्दू कुश, और न सर्वदृष्टा तथा सर्वज्ञाता खुफिया विभाग अथवा भारत में निर्दय ब्रिटिश उपनिवेशी प्रशासन ही इसे रोक पाया।

जारशाही के शासन के दौरान मध्य एशियाई प्रांतों में भारत से आने वालों में सिर्फ व्यापारियों व सूदखोरों की प्रविष्टि का ही स्वागत किया जाता था। शासकीय अधिकारियों के मन में भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं होती थी। अक्तूबर क्रांति के पश्चात, रूसी सोवियत समाजवादी गणराज्य उन भारतीय क्रांतिकारियों के लिए आश्रय बन गया जोकि अपने देश की आजादी के संघर्ष में सहायता के लिए उसकी ओर मुड़े।

रूस में भारत के क्रांतिकारी प्रवासियों की इस कथा का बखान करके, उनकी वर्गीय पृष्ठभूमि, क्रिया-कलाप तथा उनके दृष्टिकोणों व विचारों का विश्लेषण

रके इस पुस्तक के लेखक ने भारत के क्रांतिकारी चिंतन के इतिहास तथा कम्युनिस्ट आंदोलन की प्रारंभिक हलचलों के अल्प-ज्ञात तथा दिलचस्प पृष्ठ खोले हैं।

सोवियत रूस आने वाले भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों में से कुछेक तो राजनीतिक दृष्टि से संगठित थे, शेष असंगठित ही थे। इस पुस्तक में 1915 में काबुल में महेन्द्र प्रताप द्वारा गठित तथाकथित भारत की अस्थायी सरकार के क्रांतिकारियों तथा उक्त सरकार से अलग हुए क्रांतिकारियों—जिन्होंने अप्रेल 1920 में ताशकंद में अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के भारतीय अनुभाग का गठन किया—के वैचारिक एवं कार्यनीति संबंधी दृष्टिकोणों पर विचार किया गया है। अब्दुर रब बर्क तथा प्रतिवादी आचार्य के नेतृत्व वाले भारतीय क्रांतिकारी संघ से जुड़े क्रांतिकारियों की भी चर्चा की गयी है। राजनीतिक दृष्टि से संगठित उन समूहों ने भारत की पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा भारतीय संघीय गणराज्य की स्थापना के लक्ष्य को ध्यान में रखकर बेहद मिलते-जुलते क्रांतिकारी-जनवादी कार्यक्रमों को आगे बढ़ाया। उनके समाजवाद संबंधी विचार अविकसित तथा आदिम थे जिनकी जड़ें बुनियादी रूप से समाजवाद की सार-वस्तु की प्राक्-मार्क्सीय अवधारणाओं (समता आदि से संबंधित) में खोजी जा सकती हैं। उन सबने अक्तूबर क्रांति का स्वागत ऐसी क्रांति के रूप में किया जिसने जातियों (राष्ट्रीयताओं) के आत्म-निर्धारण के अधिकार को कायम कर दिया। अक्तूबर क्रांति की यह व्याख्या पूरी तरह से समाज में आने योग्य है। भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारी अभी तक क्रांति के समस्त विचारों को समझ पाने की स्थिति में नहीं थे, खासकर उसके कार्यक्रम के समाजवादी सार को आत्मसात् करने के लिए बौद्धिक रूप से तैयार नहीं थे। किन्तु यह स्पष्ट था कि वे भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा सोवियत रूस के बीच निकट संबंधों के विचार के प्रबल हिमायती थे। सोवियत रूस को वे अपने प्रमुख रक्षक एवं मुक्तिदाता के रूप में देखते थे।

यह आश्चर्यजनक नहीं माना जाना चाहिए कि इन वर्णित समूहों तथा व्यक्तियों में से कई ने अपनी असंदिग्ध अग्रगामी धारणाओं को प्रतिगामी विचारों—व्यापक जन क्रांति के भय, षड्यंत्रकारी कार्यनीतियों एवं वैयक्तिक आतंकवाद के प्रति निष्ठा, हथियारों की ताक़त पर भारत की मुक्ति पर जोर देने, तथा ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन के अंत के लिए सशस्त्र विदेशी हस्तक्षेप तक पर जोर देने से संबंधित—के साथ न केवल संयोजित किया बल्कि इन प्रतिगामी विचारों को रेखांकित भी किया।

ताशकंद स्थित अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के भारतीय अनुभाग से संबद्ध क्रांतिकारी अन्य भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की तुलना में समाजवादी आदर्शों के अधिक निकट आए तथा उनकी समझ में यह आ गया कि अपने देश की आज़ादी

स्वयं भारत की जनता के व्यापक एवं सक्रिय संघर्ष के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है। इस समूह की यह बड़ी उपलब्धि थी, ख़ासकर इसलिए कि भारत के भीतर जन-आंदोलन गांधीवादी अहिंसक सविनय अवज्ञा (सिविल नाफरमानी) तक ही सीमित था।

इस पुस्तक में राजनीतिक दृष्टि से असंगठित भारतीय क्रांतिकारियों का भी चित्रण मिलता है, सोवियत सरकार प्रणाली के प्रति उनके रवैये का वर्णन मिलता है तथा उन क्रांतिकारियों का विशेष उल्लेख मिलता है जिन्होंने मध्य एशिया में **श्वेत गार्डों** तथा Basmach Bands के विरुद्ध शस्त्र उठाकर समाजवादी क्रांति की रक्षा की।

जैसाकि तथ्यात्मक सामग्री की पड़ताल से स्पष्ट है, सोवियत रूस पहुँचने वाले अधिकांश भारतीय सोवियत सरकार से यह अपेक्षा रखते थे कि वह उन्हें भारत में मुक्ति संघर्ष की शुरुआत के लिए सैन्य सहायता प्रदान करे। उनका यह मानना था कि भारत में ब्रिटिश शासन समाप्त करने का एकमात्र तरीका था हथियारों की ताकत का उपयोग, जिसका अर्थ यह था कि जन-समूहों को हथियारों से लैस किया जाए तथा सोवियत रूस की **लाल फौज** से सैन्य सहायता प्राप्त की जाए। उन राष्ट्रीय क्रांतिकारियों को **यथार्थ बोध** से संपन्न कर पाना आसान काम नहीं था, इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिए कि वे मार्क्सवाद की विचारधारा एवं कार्य-नीतियों को आंशिक रूप से ही स्वीकार कर पाए।

लेकिन कुछ क्रांतिकारी प्रवासी ऐसे भी थे जोकि सोवियत रूस में मार्क्सवाद की शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे ताकि वे ब्रिटिश शासन से अपने देश की मुक्ति की राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में उसका इस्तेमाल कर पाने में समर्थ हो सकें। ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी, जिसका अर्थ यह था कि क्रांति का मार्क्सवादी सिद्धांत भारतीय स्वाधीनता के आगे बढ़े हुए योद्धाओं के दिमागों को प्रभावित कर रहा था। क्रांतिकारियों के इस समूह के बहुत से सदस्य कुछ समय बाद ही भारत में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा मजदूर वर्ग के, किसानों के तथा कम्युनिस्ट आंदोलन को संगठित करने में जुट गये।

प्रस्तुत पुस्तक में भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के उद्भव के कुछेक पक्षों पर भी विचार किया गया है। सोवियत रूस में प्रवासी भारतीय क्रांतिकारी समुदाय ने प्रथम कम्युनिस्ट समूह को जन्म दिया जिसने स्वयं को भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की संज्ञा दी, हालांकि यह समूह वास्तव में पार्टी बन नहीं पाया।

यह पुस्तक इस बात के निर्णायक एवं अकाट्य साक्ष्य प्रस्तुत करती है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के गठन की प्रक्रिया लम्बी तथा चक्करदार थी। यह एक ऐसे देश में हुआ जहाँ जनसंख्या का बड़ा हिस्सा अर्द्ध-सामंती किसान वर्ग से आता

तथा सर्वहारा—जिसकी वर्ग चेतना का स्तर काफी नीचा था—का अनुपात कदम नगण्य था। दूसरी ओर, पूँजीपति वर्ग के पास एक निश्चित सीमा तक जनीतिक अनुभव था जिस पर वह भरोसा कर सकता था। जाति एवं धर्म की रंपराओं ने देश को जकड रखा था। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने सैनिक एवं जनीतिक आतंक की एक ऐसी व्यवस्था क़ायम कर ली थी जिस पर समाज के गभग सभी वर्गों से निर्मित प्रचंड राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती थी।

भारत तथा उस जैसे अन्य देशों में स्वतंत्र कम्युनिस्ट आंदोलन को अपने भार के दौरान काफ़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। यहाँ यह बताना उपयोगी ही होगा कि लेनिन ने इन देशों में 1920 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में, मार्क्सवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध, सर्वहारा की सच्ची कम्युनिस्ट पार्टियों के उदय की सभावना मात्र के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगाया था। यह तथ्य कि प्रथम कम्युनिस्ट समूह का गठन सोवियत रूस में क्रांतिकारी प्रवासियों द्वारा किया गया तथा उसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना वर्षों बाद हुई, इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि भारत में उदीयमान कम्युनिस्ट आदोलन को विभिन्न कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करनी पड़ी।

II

भारतीय क्रांतिकारी प्रवासी ही इस कथा के पात्र नही हैं। यह पुस्तक चीन, तुर्की, ईरान, कोरिया के उन क्रांतिकारियों तथा नागरिकों की कहानी भी कहती है जो 1917 में तथा 1920 के दशक के आरंभिक वर्षों के दौरान सोवियत रूस पहुँचे। उस समय एशियाई देशों के कम-से-कम दस लाख नागरिक ऐसे थे जोकि रूस की सीमा पर थे। इन लोगों में किसान एवं दस्तकार ही नहीं थे जो अपने देशों में बरबाद तथा निर्धन हो गए थे। इनमें बड़ी संख्या में मजदूर तथा संपत्ति-हीन (शायद्विन) लोग भी थे जो ईरान तथा चीन से आये थे तथा किसी भी प्रकार के उत्पादन-कार्य में संलग्न नहीं थे। लेखक ने सोवियत मध्य एशिया, तुर्की तथा साइबेरिया में बड़ी संख्या में एकत्र पूरब के कामगारों—जो काफी बड़ी साम्राज्यवाद विरोधी शक्ति निर्मित करते थे—पर सोवियत प्रभाव के कम्युनिस्ट एवं अन्यनिरपेक्ष कारकों का भी विस्तार से विश्लेषण किया है।

रूस की क्रांतिकारी घटनाओं के चश्मदीद गवाह के रूप में तथा उन घटनाओं के मुक्तिकारी प्रभाव का अनुभव कर पाने के बाद, उपरोक्त नागरिकों में जो राजनीतिक दृष्टि से अधिक सजग थे, उन्होंने स्वेच्छ नारों तथा विदेशी शास-

ताओं के खिलाफ सोवियत जनता के सशस्त्र संघर्ष मे हिस्सा लिया। उन्होंने यह दिखाया कि वे यह समझ गए थे कि नवम्बर 1917 के बाद के उत्पीडित जनगण के समस्त राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षो—जिनका वे स्वय को अंग मानते थे—की सफलता रूस मे सोवियत सत्ता के दृढीकरण पर सीधे तौर पर निर्भर करती थी तथा उससे जुडी हुई थी।

इसके अतिरिक्त, अक्तूबर क्रांति तथा बोल्शेविकों द्वारा किए गये राजनीतिक कार्य के प्रभाव के अन्तर्गत, पूरब के क्रांतिकारियो तथा अधिक सचेत कामगारो ने कम्युनिस्ट समूहो तथा गुटो का गठन करके कम्युनिस्ट आंदोलन का शुभारम्भ किया।

यह भारत, चीन, तुर्की तथा ईरान की राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियो के नेतृत्वकारी दस्तो के प्रशिक्षण की शुरुआत के रूप मे ऐतिहासिक महत्व की घटना थी। कहने का अर्थ यह है कि कई एशियाई देशों के उन सगठनो का, जो बाद मे कम्युनिस्ट पार्टियो के रूप मे जानी जाने लगी, निर्माण न केवल उन देशों के भीतर हुआ, बल्कि बाहर भी, यानि सोवियत रूस मे, हुआ। यह वह तार्किक ऐतिहासिक जुड़वाँ प्रक्रिया थी जो महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति की विजय से उत्पन्न हुई थी। अत: यह पुस्तक पूरब की कम्युनिस्ट पार्टियों—खासकर उन देशो मे जिनकी सीमाएँ रूस से मिलती थीं—के जन्म की परिस्थितियों के अध्ययन की व्यापक महत्व की समस्याओं को उजागर करती है तथा उनकी पडताल भी करती है।

भारत तथा पूरब के अन्य देशो की कम्युनिस्ट पार्टियों के वैचारिक एवं राजनीतिक मतों की परीक्षा करके, लेखक ने उनकी समानताओ—खासकर उनके वाम-संकीर्णतावादी तथा सकल्पवादी दृष्टिकोणों मे—को प्रदर्शित किया है। दूसरे शब्दो मे, पूरब के उभरते हुए कम्युनिस्ट खास तौर पर वामपंथ के बचकाने मर्ज से पीडित थे, जिसका सीधा अर्थ यह है कि पूरब के जनगणों की विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति तथा राष्ट्रीय परिस्थिति की पूरी तरह अनदेखा करके वे रूसी अनुभव को यांत्रिक तथा गैर द्वंद्वात्मक तरीके से (उधार लेकर) अपना लेने के पक्ष मे थे। जनसमूहो को अपनी ओर करने के कम्युनिस्टों के प्रयासों को सबसे अधिक दिक्कतों का सामना इस वामपंथ के कारण ही करना पड़ा।

इस पुस्तक के लेखक अकेले व्यक्ति नही हैं जिन्होंने भारत के तथा पूरब के अन्य देशों के आरभिक कम्युनिस्टो के वाम-संकीर्णतावादी विचारों का अध्ययन किया है तथा आलोचना की है। अन्य अध्येताओं ने भी एकाधिक बार इसको उठाया है। प्रस्तुत लेखक की विशिष्टता यह है कि उन्होंने विषय से सबंधित रिकार्ड फ़ाइलो से प्राप्त करके सुसगत सामग्री को सयोजित व प्रस्तुत किया है। दूसरे, उन्होंने न केवल वैयक्तिक वाम-सकीर्णतावादी विचारो की पहचान व

विश्लेषण किया है बल्कि 1920 के दशक की पूरब के देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों व समूहों के विभिन्न विचारों तथा कार्यनीतियों की पड़ताल करके उनका विश्लेषण किया है।

इस कम्युनिस्ट परिघटना के पीछे के कारणों को विस्तार से व पूरी छानबीन के साथ उजागर किया गया है तथा लेनिन के इस निष्कर्ष की सटीकता को पुष्ट किया गया है कि "उन आर्थिक संबंधों को छिपाते हुए हैं, अथवा जो अपने विकास में पिछड़ जाते हैं, का परिणाम यह होता है कि मजदूर आंदोलन में ऐसे समर्थक निरंतर प्रकट होने लगते हैं जोकि मार्क्सवाद के व नई विश्वदृष्टि के मात्र कुछेक पक्षों को आत्मसात् कर पाते हैं, तथा जो पूंजीवादी विश्व-दृष्टि—व खासकर पूंजीवादी-जनवादी विश्व-दृष्टि—की परंपराओं से पूरी तरह अपने आपको अलग कर पाने की असामर्थ्य के कारण एकाध नारा व मांग ही उठा पाते हैं।"[1]

यह पुस्तक सुगम रूप से यह सिद्ध करती है कि पूरब में कम्युनिस्ट आंदोलन के उदय के जो बड़े ऐतिहासिक कारक थे उनमें प्रमुख यह था कि ईमानदार एवं देशभक्त क्रांतिकारी जनवादियों ने विज्ञान के रूप में समाजवाद के अनुसरण को अनिवार्य मानते हुए अंगीकार किया। लेखक के शब्दों में: "भारतीय क्रांतिकारी मजदूर आंदोलन के माध्यम से मार्क्सवाद की ओर नहीं बढ़े—उनमें से कोई भी, बिना किसी अपवाद के, उससे कतई जुड़ा हुआ नहीं था, तथा अधिकांश उसके महत्व को समझने में विफल रहे—बल्कि साम्राज्यवाद विरोधी मुक्ति संघर्ष तथा राज्य सत्ता की सोवियत प्रणाली, जो विश्व की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उप-निवेशवाद-विरोधी शक्ति एवं पूरब के जनगणों के मुक्ति आंदोलनों के समर्थन के वास्तविक आधार का रूप ले चुकी थी, के प्रति अपने प्रेम के माध्यम से आगे बढ़े" (देखें, पृ० 112)। वह अन्यत्र यह जोड़ते हैं कि "पूरब के देशों में प्रमुख रूप से राष्ट्रीय क्रांतिकारी तथा क्रांतिकारी जनवादी बुद्धिजीवी ही सबसे पहले कम्युनिस्ट बने तथा उन्होंने ही प्रथम कम्युनिस्ट समूहों का गठन किया व कम्युनिस्ट आंदोलन को आगे बढ़ाया" (देखें, पृ० 282)।

समय बीतने के साथ, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में जड़ें पकड़ती सामाजिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर राष्ट्रीय क्रांतिकारी मार्क्सवाद के और अधिक निकट आए। यह तब की बात है जब भारत के प्रमुख औद्योगिक पूंजीवादी केंद्रों में मजदूर वर्ग ने स्वतंत्र कार्यवाही की शुरुआत कर दी थी। भारतीय राष्ट्रीय क्रांति-कारी समाजवाद के वैज्ञानिक सिद्धांत की ओर तथा लेनिन के मार्गदर्शन में रूसी कम्युनिस्टों द्वारा किये गये इसके व्यावहारिक प्रयोग से उत्पन्न साक्ष्य की ओर

1. वी० आई० लेनिन, 'यूरोपीय मजदूर आंदोलन में मतभेद', संकलित रचनाएँ, खंड 16, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1963, पृ० 348

ध्यान दिखाने लगे, यह समझने के उद्देश्य से कि अपनी स्वय की राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने तथा अत्यत महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं के समाधान की दिशा मे उन्हें कैसे आगे बढना था।

पूरब के कम्युनिस्टो का अनिवार्य रूप से निम्न-पूँजीवादी उद्‌भव ही दरअसल उनके वाम-सकीर्णतावादी भटकाव (विज्ञान पर आधारित समाजवाद, जिसे उन्हें अभी हासिल करना था, से विचलन) का असली कारण था। पूरब के आरभिक कम्युनिस्टों की दृष्टि तथा निर्वासित राष्ट्रीय क्रातिकारियो के विचारो का अध्ययन करके लेखक ने यह सिद्ध किया है कि वे सब मार्क्सवाद की वैचारिक स्वीकृति की विभिन्न अवस्थाओं मे थे।

एशिया के अग्रगामी कम्युनिस्टो की वाम-संकीर्णतावादी अवधारणाओ का लेखक का विश्लेषण तथा उनकी आलोचना व्यावहारिक एव वैज्ञानिक दोनो ही दृष्टियो से मूल्यवान हैं। भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों की कम्युनिस्ट पार्टियो के लिए ये इस रूप मे विशेष सहायक हो सकते हैं कि वर्तमान परिस्थितियो मे वामपथी दर्शन व कर्म की पुनरावृत्ति को वे रोक सकें।

इस पुस्तक में निकाले गये निष्कर्ष ऐतिहासिक साक्ष्य सपदा—खासकर सोवियत जन अभिलेखो से—की सपूर्ण खोजपरक पड़ताल पर, तथा लेनिन की कृतियो—जातीय सबधो और उपनिवेशवाद से सबधित—पर आधारित हैं।

पेसिरम एम० एन० रॉय के साथ हुए लेनिन के उस विवाद के महत्त्वपूर्ण पक्षो को भी उजागर करने मे सफल रहे हैं जिस पर अभी तक ऐतिहासिक प्रकाशनो मे वाछित व समुचित ध्यान नही दिया गया है यद्यपि, जैसाकि लेखक ने दिखाया है, बहुत से पूँजीवादी अध्येता इस विषय मे अतिरिक्त रुचि प्रदर्शित कर रहे हैं। उन्होंने पूरब के क्रातिकारियो, जिन्होने मार्क्सवाद के सिद्धातों को संपूर्णता में स्वीकार किये बिना स्वय को कम्युनिस्ट घोषित कर दिया था, के प्रति (कम्युनिस्ट इटरनेशनल की दूसरी काग्रेस मे व्यक्त) लेनिन के नजरिये का तथ्यात्मक तथा विश्वसनीय चित्राकन प्रस्तुत किया है। लेखक ने यह दिखाया है कि लेनिन ने न केवल वामपंथ के लिए उनकी आलोचना की बल्कि उन्हें कुछ रियायतें भी दी क्योकि उनका मानना था कि कम्युनिस्टो की उपयुक्त कार्यनीति "सर्वहारा की ओर मुड़ने वाले तत्त्वों के लिए रियायतों की माँग करती है—जब कभी भी तथा जिस सीमा तक भी वे सर्वहारा की ओर झुकाव दिखायें।"[1]

इस पुस्तक की एक प्रमुख विशिष्टता पूरब की कम्युनिस्ट पार्टियो के उद्‌भव को तोड-मरोड कर प्रस्तुत करने वाली अवधारणाओं के खिलाफ प्रस्तुत सटीक व

---

1. वी० आई० लेनिन, 'वामपथी कम्युनिज्म—बचकाना मर्ज', सकलित रचनाएँ, खड 31, 1977, पृ० 75

गंभीर तर्क है। वह ऐसे लोगों की इस मान्यता का खंडन करते हैं कि एशियाई जनगण की कम्युनिस्ट पार्टियां बाहरी तथा अस्वाभाविक थीं। लेखक यह सिद्ध करने में सफल रहे हैं कि कम्युनिस्ट आंदोलन उत्पीड़ित एशिया की राष्ट्रीय धरती पर उगी फसल (क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों—अनुवादक) द्वारा औपनिवेशिक नीतियों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप, गठित किया गया था।

वर्तमान समय में ये निष्कर्ष बेहद मूल्यवान हैं जब पूरब के देशों का कम्युनिस्ट आंदोलन वाशिंगटन के साम्राज्यवादी सिद्धान्तकारों का निशाना बना हुआ है। यह पुस्तक मुख्य सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की समस्याओं से संबंधित है। इस समस्या, जोकि एकदम सीधे तौर पर प्रासंगिक है, की परीक्षा ऐतिहासिक शोध के सिद्धांतों के अनुरूप की गई है तथा उस काल पर लागू की गई है जिसमें कि पूरब की, खास कर भारत की, कम्युनिस्ट पार्टियों के उदय को देखा था। पाठक को यहां अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध उत्पीड़ित एशिया की क्रांतिकारी शक्तियों के साथ सोवियत संघ के सहमेल के गठन का प्रभावोत्पादक चित्र मिलेगा। लेनिन को इसका पूर्वानुमान था तथा वह इसके बारे में अत्यंत विश्वास के साथ चर्चा कर चुके थे जैसे-जैसे साम्राज्यवाद के खिलाफ ऐतिहासिक लड़ाई जारी रही तथा औपनिवेशिक साम्राज्य छिन्न-भिन्न होते गये, यह सहमेल विश्वव्यापी बन गया है तथा एशिया, अफ्रीका व लातिन अमरीका के सभी समाजवादी देशों व साम्राज्य-वाद-विरोधी शक्तियों को आकर्षित कर रहा है।

उदीयमान देशों की क्रांतिकारी शक्तियों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनके विकट संघर्ष में तथा स्वतंत्रता, शांति, जनवाद एवं सामाजिक प्रगति के लिए किये जाने वाले संघर्ष में, अभी तक जो विशाल व शक्तिशाली सहायता मिली है, वह अब भी जारी है।

—प्रोफ़ेसर रोस्तिस्लाव उल्यानोव्स्की

यह महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति का ही प्रभाव था कि सभी महाद्वीपों में *संगठित सर्वहारा के हिरावल दस्ते—कम्युनिस्ट पार्टियाँ—कायम होने लगे।* पूरब के देशों में यह प्रक्रिया उस विशिष्ट वातावरण में विकसित होने लगी जो औपनिवेशिक दमन तथा सामाजिक एवं आर्थिक द्वारा निर्मित हुआ था। यही नहीं, सोवियत रूस की सीमाओं से लगे एशियाई देशों में कम्युनिस्ट आंदोलन के उदय पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव खास तौर से इसलिए भी उल्लेखनीय था क्योंकि यह उन देशों के कामगारों—जो संयोग से उस समय रूस में था—के माध्यम से सीधे तथा तत्काल पड़ा। 1917 से लेकर 1920 तक सोवियत गणराज्य में चीन, कोरिया, भारत, तुर्की व ईरान के ऐसे नागरिकों की संख्या कम-से-कम दस लाख थी।

महान अक्तूबर क्रांति तथा सोवियत सरकार की सबसे पहली कुछ कार्रवाइयों का औपनिवेशिक देशों की सभी वर्गों की जनता पर बेहद प्रभाव पड़ा। पराधीन जनगणों के बहुसंख्यक लोगों की उपनिवेशवाद-विरोधी तथा साम्राज्यवादी दृष्टि को निर्मित करने वाला यह प्रमुख कारक था। यही कारण था कि लोगों की नज़र में उनका राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष सोवियत सरकार प्रणाली की रक्षा के विचार के साथ जुड़ने लगा। श्वेत गार्डों तथा विदेशी आक्रांताओं के खिलाफ़ सोवियत जनता के सशस्त्र संघर्ष में पूरब के हज़ारों कामगारों की भागीदारी ने भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया।

अक्तूबर क्रांति तथा सोवियत सरकार की कार्यवाहियों ने पूरब के बौद्धिक एवं पेशेवर तबकों में समाजवाद के विचारों में तीव्र रुचि को बढ़ाया। उनमें यह रुचि बहुत पहले विकसित होने लगी थी किन्तु क्रांति ने औपनिवेशिक दमन तथा सामंतवाद से स्वयं को मुक्त करने से जुड़ी उनकी समस्याओं के समाधान के लिए यह आवश्यक बना दिया कि वे रूसी अनुभव का अध्ययन एवं अनुसरण करने का संकल्प लें। पूरबी क्रांतिकारी ताकतों के बहुत से प्रतिनिधि सोवियत रूस के लिए रवाना

हो गये। 1920 में बड़ी संख्या में भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी सोवियत रूस में प्रवासी बने। सोवियत रूस पूरबी क्रांतिकारी ताकतों का वास्तविक मिलन-बिन्दु तथा उनके मुक्ति संघर्ष में नैतिक एवं भौतिक समर्थन का आधार बन गया, लेनिन, कामिंटर्न तथा सोवियत कम्युनिस्टों जैसे शिक्षकों से राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त करने का स्थान बन गया।

जीवन की हलचल ने बोल्शेविकों को सोवियत गणराज्य में बड़ी संख्या में आये हुए पूरब के क्रांतिकारियों तथा कामगार समूहों के बीच प्रचार एवं संगठनात्मक कार्य करने को प्रेरित किया। कामिंटर्न तथा सोवियत कम्युनिस्टों ने समाजवाद के विचारों तथा उत्पीड़ित राष्ट्रों की मुक्ति के विचारों से उन्हें परिचित कराने के लिए कड़ी मेहनत की तथा क्रांतिकारी रुझान वाले तुर्को, चीनियों, कोरियाइयों तथा भारतीयों को अपने स्वयं के कम्युनिस्ट समूह गठित करने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद को अंगीकार करने में सहायता की।

सोवियत रूस में ही एशियाई कम्युनिस्ट आंदोलन की अग्रगामी शक्तियों को कामगार जनता के क्रांतिकारी उभार के संदर्भ में प्रशिक्षित एवं गठित किया गया। वहीं उन्होंने व्यावहारिक कार्य के माध्यम से—मात्र सिद्धांत के माध्यम से नहीं—यह अनुभव किया कि उन्हें एक शक्तिशाली संगठक एवं मार्गदर्शक तत्त्व के रूप में मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी की जरूरत है क्योंकि वही ऐसी शक्ति थी जो लाखों लोगों के संघर्ष को नेतृत्व प्रदान करने में सक्षम व समर्थ थी। वहीं पर ही भारत के प्रथम कम्युनिस्ट एम० एन० रॉय के साथ लेनिन का प्रसिद्ध विवाद छिड़ा। लेनिन रॉय के साथ अपने विवादों व विचार-विमर्श के लिए अत्यधिक ऊर्जा एवं समय का व्यय करते थे क्योंकि वह उन्हें पूरबी प्रवासी क्रांतिकारियों—जो मार्क्सवाद की ओर झुक रहे थे—के विशिष्ट प्रतिनिधि के रूप में देखते थे, तथा उनकी दृष्टि में उस वामपंथी विचार प्रणाली की विशिष्ट भंगिमाओं को भी देखते थे जो पूरब के उभरते हुए कम्युनिस्टों में उस समय पनप रही थी।

उक्त विवाद के दौरान लेनिन ने केवल यह खोज ही नहीं की कि वाम-संकीर्णतावादी गलतियाँ एशिया के समूचे कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए गम्भीर खतरा थी, बल्कि इस खतरे से निपटने के तरीकों की रूपरेखा भी प्रस्तुत की तथा समाजवाद तक की ऐतिहासिक विश्व-व्यापी यात्रा की रणनीति एवं कार्यनीति के मूलभूत सिद्धांतों को भी निरूपित किया जिनका अनुसरण एशिया के कम्युनिस्टों को करना था।

एशियाई जनगण के कम्युनिस्ट तत्त्वों के उदय की गति को तेज करके महान अक्तूबर क्रांति ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को उसकी शैशवावस्था से ही पूरब के
...नों—राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा कम्युनिस्ट आंदोलन—के संबंधों
...समस्या को उठाने में व उसका समाधान करने में सहायता की।

राष्ट्रीय सवालों तथा उपनिवेशवाद संबंधी लेनिन के सिद्धांतों—जिन्हें कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस ने अनुमोदित किया था—ने तब से अब तक पूरबी देशों में कम्युनिस्टों की गतिविधियों के मूलभूत पक्षों को निर्धारित किया है।

1918 व 1921 के मध्य उत्पीड़ित पूरब के जो नागरिक सोवियत गणराज्य में थे उनके मध्य कम्युनिस्ट आंदोलन विकसित होने लगा। इसका ऐतिहासिक महत्व इस बात में निहित था कि यह चीन, भारत, ईरान, तुर्की एवं कोरिया में एक साथ सदे समय तक चलने वाले राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना के कार्य की नींव रखने की प्रक्रिया का प्रारंभिक किन्तु अनिवार्य तत्व था। इससे पूरी तरह स्पष्ट होता है कि एशिया के कम्युनिस्ट आंदोलन के अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत—यद्यपि यही एकमात्र स्रोत नहीं था—का विस्तृत अध्ययन कितना अपरिहार्य है : अक्तूबर क्रांति, सोवियत गणराज्य, लेनिन तथा कॉमिंटर्न से यह स्रोत सीधा जुड़ता था। इस तरह के अध्ययन के बिना, सोवियत सीमाओं के निकट पूरब के देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के उद्भव एवं विकास की सही समझ प्राप्त कर पाना एकदम असंभव है। इस प्रकार के महत्वपूर्ण कार्यभार को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि उन कम्युनिस्ट संगठनों—भारतीय, चीनी व तुर्की, केवल कुछ ही नाम लेने हों तो—जो अपनी राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियाँ निर्मित करने के लिए कामिंटर्न के नेतृत्व में तथा सोवियत गणराज्य की सहायता से जूझ रहे थे, के अनुभव की वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक पड़ताल की जाए।

प्रस्तुत पुस्तक में भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन, तथा कुछ सीमा तक अन्य पूरबी देशों के कम्युनिस्ट आंदोलन, के उदय पर महान अक्तूबर क्रांति के प्रभाव के रूपों तथा तरीकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें पूरबी राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के विभिन्न समूहों—प्रमुखतया सोवियत गणराज्य में प्रवासी भारतीय समूहों—के विचारों एवं कार्य-कलाप की परीक्षा, उनके वैचारिक विचार—जिसने उनके निम्न पूंजीवादी क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के दर्शन को मार्क्सवादी दर्शन में बदल दिया—का अध्ययन तथा इस विकास की मुश्किलों व बलिदानों का विश्लेषण निहित है। यही कारण है कि सोवियत गणराज्य में भारतीय क्रांतिकारी प्रवासियों को एक ऐसी उल्लेखनीय सामाजिक परिघटना के रूप में देखा गया है जिसने भारत पर अक्तूबर क्रांति के विराट प्रभाव को उद्घाटित किया तथा भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के तत्वों को बढ़ावा दिया। भारत में लगभग उसी समय सबसे पहले कम्युनिस्ट प्रकट हुए—न केवल राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के बीच से बल्कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वामपक्ष व मजदूर संघों के पदाधिकारियों के बीच से।

भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन की आरंभिक अवस्थाओं में उसकी विशिष्ट राष्ट्रीय विशेषताओं के साथ-साथ वे विशेषताएँ भी दिखाई पड़ती थीं जो कि सोवियत रूस की सीमाओं से लगे पूरबी देशों में उसी समय तथा समान

परिस्थितियों में उभर रहे कम्युनिस्ट आंदोलन की विशेषताएँ थी। ये सभी देश साम्राज्यवादी दासता को झेल रहे थे; वहाँ तब तक कोई स्वतंत्र सर्वहारा आदोलन विकसित नहीं हो पाया था किंतु वे उभरते हुए राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष से घिरे हुए थे; इनमें से प्रत्येक के पास क्रांतिकारियों के अपने समूह थे जिन्होंने महान अक्तूबर क्रांति के प्रभाव के अंतर्गत मार्क्सवाद-लेनिनवाद को पुनर्निर्माणकारी शक्ति को खोज लिया था तथा उसकी ओर मुड़ रहे थे; इन राष्ट्रों के कम्युनिस्ट समूहों का उदय न केवल स्वदेश में हो रहा था बल्कि विदेश में भी, यानी सोवियत गणराज्य में, हो रहा था। अत में, भारत के आरंभिक कम्युनिस्टों के कार्य-कलाप—जैसे एम० एन० रॉय के थे—का तथा उनके (रॉय के) साथ लेनिन के विवाद का सीधा तथा अनिवार्य महत्व केवल भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए ही नहीं था बल्कि समूचे पूरब के लिए था। यही वह सब है जो सोवियत गणराज्य में भारतीय कम्यु-निस्ट आदोलन के अग्रगामी प्रवर्तकों के उद्‌भव एवं वैचारिक विकास को सोवियत रूस की सीमाओं के निकट अन्य पूरबी देशों में घटित हो रही मिलती-जुलती प्रक्रि-याओं के साथ रखकर उनकी लाक्षणिक विशिष्टता के रूप में अध्ययन किए जाने को संभव बनाता है।

इस पुस्तक में जिन घटनाओं का अध्ययन किया गया है उन्हें घटित हुए साठ से अधिक वर्ष हो गए हैं। विश्व में शक्तियों का संतुलन सही मायनों में समाजवाद के पक्ष में परिवर्तित हुआ है, विश्व समाजवादी व्यवस्था क़ायम हो चुकी है तथा उसकी शक्ति बढ़ी है जिसका परिणाम यह हुआ है कि पूरब के उत्पीड़ित जनगण साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक दासता का अंत करने में सफल हुए; इसके साथ ही, एशियाई देशों का सर्वहारा न केवल संख्या की दृष्टि से विकसित हुआ बल्कि वर्ग-चेतना के अर्थ में भी काफ़ी आगे बढ़ा। इस पुस्तक में जिन समस्याओं का विवेचन किया गया है उनका शुद्ध सैद्धांतिक मूल्य ही नहीं है, बल्कि एशिया व अफ्रीका के जनगण के लिए उनका व्यावहारिक मूल्य भी है क्योंकि ये देश आज भी स्थानीय प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा समर्थित साम्राज्यवाद तथा उसकी नव-औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ़ युद्ध में संलग्न हैं। इन दिनों भी पूरबी समाज गुलाम भूमिहीन किसानों की कठिनाइयों तथा शहरी ग़रीबी एवं विपन्नता से ग्रस्त है। धर्म, आदि राष्ट्रीयता तथा जनजातियों की परपराएँ एशिया तथा अफ़्रीका के मज़दूर वर्ग को अपनी राजनीतिक समझ का विकास करने से अभी भी रोक रही हैं। पूरब के क्रांतिकारियों के मध्य वाम-संकीर्णतावादी विचार अभी भी काफ़ी व्यापक रूप में फैले हुए हैं तथा अतिवादी कार्यवाही एक सामान्य घटना बन गयी है। इन परि-स्थितियों में, विकासशील देशों में वामवाद पर विजय प्राप्त करने के सवाल उतने ही प्रासंगिक हैं जितने कि कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण तथा मुक्ति आदोलन में सर्वहारा को नेतृत्वकारी पदों पर पहुँचाने से जुड़े हुए प्रश्न हैं। पूरब में कम्युनिस्ट

नीति के बुनियादी सिद्धांतों पर जोर देने तथा उनकी वामपंथी अथवा अन्य गलतियों को सुधारने की दृष्टि से लेनिन एवं कामिंटर्न द्वारा चलाए गये संघर्ष के अध्ययन का पूरब के मौजूदा कम्युनिस्टों के लिए सीधा और तात्कालिक महत्व है। इन समस्याओं का अध्ययन उन कम्युनिस्ट-विरोधी अवधारणाओं का खंडन करने के लिए भी जरूरी है जोकि पूरब के जनगणों व वहाँ के सामाजिक आंदोलनों के साथ सोवियत रूस तथा कामिंटर्न के संबंधों के वास्तविक इतिहास के साथ खिलवाड़ करती हैं।

इस पुस्तक में जिन समस्याओं पर विचार किया गया है उनके कारगर अध्ययन के लिए—आरंभिक भारतीय तथा अन्य पूरबी कम्युनिस्टों की वैचारिक अवधारणाओं की पड़ताल के लिए तथा साथ ही, एशियाई देशों में व्यापक रूप से फैले हुए वाम-संकीर्णतावादी भ्रमों व गलतियों पर विजय प्राप्त करने की दिशा में लेनिन की व कामिंटर्न की गतिविधियों के कारगर अध्ययन के लिए —अपरिहार्य प्रमुख प्राथमिक स्रोत लेनिन की कृतियाँ थीं।

इस पुस्तक में विवेचित विषय ने लेखक द्वारा सोवियत अभिलेखागारों में बरसों तथा आम समस्या—महान अक्तूबर क्रांति तथा पूरब का कम्युनिस्ट आंदोलन—की वर्षों तक की गयी पड़ताल व खोज के परिणामस्वरूप आकार ग्रहण किया है।

यह कृति मास्को, ताशकंद तथा तोम्स्क के छः सोवियत अभिलेखागारों में रखे बीसियों अभिलेखों तथा सैकड़ों फाइलों की छानबीन का परिणाम है। उक्त छानबीन के परिणामस्वरूप बहुत से ऐसे दस्तावेजों का पता लगा—तथा उनका अध्ययन किया गया—जोकि सोवियत गणराज्य में भारतीय एवं अन्य पूरबी क्रांतिकारियों के विभिन्न समूहों की उपस्थिति, कार्य-कलाप व दर्शनों से, तथा उनके मध्य बोल्शेविकों व कामिंटर्न द्वारा किए गये कार्यों से संबंधित थे। कुछेक अपवादों को छोड़कर, इस पुस्तक में दी गयी सामग्री न तो सोवियत संघ में और न अन्यत्र अभी तक सार्वजनिक ज्ञान का हिस्सा नहीं बन पाई है।

अध्याय : 1

उत्पीड़ित पूरब तथा सोवियत रूस में भारतीय क्रांतिकारी प्रवासियों पर महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति का प्रभाव

वियत गणराज्य में भारतीय क्रांतिकारियों के उत्प्रवास का आंदोलन (जो 18-1922 के दौरान चला किंतु फिर भी सबसे बड़ी संख्या में भारतीय क्रांति- री वहाँ 1920 में ही पहुँचे) भारत पर महान अक्तूबर क्रांति के प्रभाव का धिक रोचक व उल्लेखनीय लक्षण था।

भारत से बीसियों, नहीं सैकड़ों भारतीय सीमा पार करके सोवियत रूस में, ख रूप से सोवियत मध्य एशिया में, घुसे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का अंत ने तथा अपनी राष्ट्रीय राजनीतिक मुक्ति प्राप्त करने के तरीक़ों व साधनों की न में। इनमें से कुछ तो ऐसे थे जो न केवल विदेशी बल्कि स्वदेशी गुलाम बनाने ी शक्तियों को देश से निकालने का सपना संजोए थे। कुछ प्रवासी ख़िलाफ़त ोलन[1] के सदस्य थे, जिसमें भारत की मुस्लिम आबादी प्रमुख रूप से सम्मिलित

. ख़िलाफ़त आंदोलन की शुरुआत भारत में 1918 में हुई, तुर्की के सधि- समर्थित विभाजन एवं सुल्तान—जोकि उस समय ख़लीफ़ा होने के नाते धार्मिक सम्प्रदाय का मुखिया भी था—की गिरफ़्तारी के विरोध स्वरूप। यह आंदोलन ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के ख़िलाफ़ भारत की मुस्लिम आबादी के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का एक रूप था। भारत से ख़िलाफ़तियों का बहिर्गमन तथा अन्य मुस्लिम देशों में पुनर्वास—ख़ासकर अफ़ग़ानिस्तान में—जो 1920 की मई-जून में प्रारम्भ हुआ, ख़िलाफ़त आंदोलन के प्रमुख पक्षों में से एक था।

थी; कुछ अन्य भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उग्रपंथी वामपक्ष के सदस्य थे; शेष भारतीय क्रांतिकारी जनवाद के वे हिस्से थे जो या तो पहले ही मार्क्सवाद स्वीकार कर चुके थे अथवा ऐसा करने की प्रक्रिया में थे।

ये लोग वर्षों तक सोवियत गणराज्य में रहे तथा कुछ तो वहाँ के नागरिक बन गये। प्रवासियों के मध्य सभी तरह के समूह थे। उनके तीव्र राजनीतिक वि के कारण भारत मे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन विकसित करने तथा समाजवादी के साथ उसके संबंधों के मुद्दे पर उनके भिन्न वैचारिक रुझान सामने आये। य सच है कि प्रवासी समुदाय के अंदरूनी अस्थिर व्यक्तिगत संबंधों के कारण विचार-विमर्श एवं बहसें अक्सर भ्रांतियों व जटिलताओं का शिकार हो थी।

सबसे पहले कम्युनिस्ट समूह का गठन प्रवासियों द्वारा सोवियत एशिया मे किया गया। इसके नेतृत्व में कुछ लोग पूरब में उभरने वाले कम्यु आदोलन के अति वामपंथी-उग्रपंथी विचारों के प्रवर्तक थे।

भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों ने सोवियत भूमि पर क़दम रखे इससे भारतीय राष्ट्रीय प्रवासी पश्चिमी यूरोप, दोनों अमरीकाओं तथा एशि विभिन्न देशो मे कई वर्षों तक काम कर चुके थे। भारत की मुक्ति अर्जित कर तरीकों तथा उनके संगठनों द्वारा उन तरीकों का अनुसरण करने के बारे में अपने विचार बन चुके थे। सोवियत गणराज्य में आने वालों मे से अधिकांश रिक एवं सगठनात्मक दृष्टि से प्रवासी समुदाय का अंश मात्र थे। अत: यह उ ही होगा कि अक्तूबर क्रांति से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय प्रवासियों की स्थिति के दो शब्द कह दिए जाएँ।

भारतीय क्रान्तिकारियों का उत्प्रवास आंदोलन भारतीय मुक्ति आंदो [illegible] होने वाली विभाजन एवं एकीकरण की प्रक्रियाओं (जिनकी शुरुआत [illegible] की प्रथम रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप आंदोलन के उभार के साथ हुई) को [illegible] बिंबित करता है। 1905-1908 के दौरान मुक्ति संघर्ष में आयी तेजी के [illegible] [illegible] आंदोलन का सुधारवादी तथा क्रान्तिकारी अनुभागों के रूप में विभ[illegible] विभाजन हो गया। उन भारतीय राष्ट्रीय क्रान्तिकारियों में से बहुत से, जो [illegible] [illegible] के [illegible] थे तथा जिन्होंने ब्रिटिश शासन के अंत व पूर्ण रा[illegible] [illegible] की माँग उठाई थी, यूरोप, दोनों अमरीकाओं व एशिया के विभि[illegible] [illegible] के लिए विवश हुए क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा उन्हें [illegible] [illegible] का शिकार बनाया गया। भारतीय क्रान्ति[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के कारण [illegible] [illegible] [illegible]।

प्रथम विश्व युद्ध के पहले तथा दौरान भारतीय उत्प्रवासियों ने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों को काफी तेज कर दिया, चूंकि तब तक दुनिया के विभिन्न देशों में उनके लड़ाकू संगठन तथा क्रांतिकारी केंद्र अस्तित्व में आ चुके थे। उनकी राय में अंतर्राष्ट्रीय संकट तथा अंतः साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों के तीव्र होने के वर्षों में ब्रिटेन-विरोधी ताकतों की सहायता लेकर भारत की मुक्ति के लिए दबाव डालना कहीं अधिक आसान था।

1913 में हरदयाल, जो एक अत्यंत प्रखर भारतीय क्रांतिकारी थे, के निर्देशन में अमरीका में ग़दर पार्टी की स्थापना हुई। इसका अर्थ था कि अमरीका व कनाडा में उभरे बिखरे हुए क्रांतिकारी तथा देशभक्त संगठनों की एकता क़ायम हो। 1914 में हरदयाल की गिरफ्तारी के बाद संगठन का नेतृत्व भगवान सिंह ने सँभाला तथा मोहम्मद बरकत उल्लाह[1], जो मुसलमान थे तथा बाद में सोवियत भूमि में स्थित भारतीय प्रवासी समुदाय के प्रमुख नेता के रूप में स्थापित हुए, संगठन के उप नेता बने। ग़दर पार्टी ने विभिन्न देशों में अपने केंद्र स्थापित किए: दोनों अमरीकाओं में संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, अर्जेंटीना में, यूरोप में फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी व स्वीडन में, तथा एशिया में भारत, चीन, बर्मा, स्याम तथा फिलिपीन्स में ये केंद्र स्थापित हुए।[2]

1914 में ग़दर पार्टी के तथा भारतीय प्रवासियों के अन्य संगठनों के प्रमुख

---

1. मोहम्मद बरकत उल्लाह (1858-1927) 1907 से ही निर्वासित रहे। 1909-1914 के दौरान उन्होंने तोक्यो विश्वविद्यालय में उर्दू एवं फ़ारसी का अध्यापन किया व मुस्लिम एकता नामक प्रचार समाचार पत्र प्रकाशित किया। प्रथम विश्व युद्ध छिड़ जाने पर ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण तोक्यो विश्वविद्यालय में उनकी सेवाएँ समाप्त कर दी गईं, तथा वे ग़दर पार्टी के लिए काम करने के इरादे से सान फ्रांसिस्को चले गये। 1915 में महेंद्र प्रताप के निमंत्रण पर वह बर्लिन पहुँचे तथा उनके साथ हैंटिग—नीडरमायर के नेतृत्व में एक जर्मन मिशन में संबद्ध होकर अफ़ग़ानिस्तान पहुँचे। 1915 से मार्च 1919 तक वह काबुल में रहे। (देखें: इज़्वेस्तिया, 6 मई, 1919, पृ० 1; भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास संबंधी दस्तावेज़, खंड, 1 1917-1922, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1971, पृ० 17; देवेंद्र कौशिक, सोवियत एशिया में भारतीय क्रांतिकारी, लिंक, 26 जनवरी, 1966, पृ० 75)
2. ए० वी० रायकोव, भारत की जागरण, नाउका प्रकाशन, मास्को, 1968, पृ० 76-82 (रूस में), केंद्रीय पार्टी अभिलेखागार, मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान, अनुभाग 490, रजिस्टर 1, फ़ाइल 208, पृ० 664
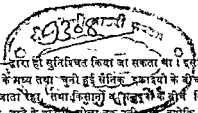
के समर्थन—पहले व बाद में—द्वारा ही सुनिश्चित किया जा सकता था। इसलिए क्रांतिकारियों के छोटे समूहों के मध्य तथा चुनी हुई सैनिक इकाईयों के बीच ही षड्यन्त्रकारी कार्य चलाया जाता रहा, तथा किसानों व मजदूरों के बीच किसी भी प्रकार के कार्य के चलाए जाने के बारे में सोचा तक नहीं गया क्योंकि उन्हें क्रांतिकारी तथा राजनीतिक दृष्टि से सजग माना ही नहीं गया—यह मान लिया गया था कि ये दोनों गुण शिक्षित एवं संपन्न लोगों में ही हो सकते हैं।

रूसी सामाजिक-जनवादी मिखाइल पाव्लोविच, जो प्रथम विश्व-युद्ध के पहले व दौरान निर्वासन के दिनों में पेरिस मे रहते हुए भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के निकट संपर्क मे आए, ने अत्यधिक महत्वपूर्ण व रोचक साक्ष्य प्रस्तुत किया था।[1] उन्ही के शब्दों मे: "अपने सामाजिक दृष्टिकोण के आधार पर अधिकांश भारतीय क्रांतिकारी अत्यधिक पिछड़े हुए लोग थे···वे मात्र इतने भर मे क्रांतिकारी थे कि वे भारत पर ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ संघर्ष की आवश्यकता को स्वीकार करते थे···मुझे एक युवा भारतीय का एक दिन (1909 में) मुझसे मिलने आना याद है। आपके साथियो ने उसकी सिफारिश करते हुए उसे असंदिग्ध रूप से अत्यंत विश्वसनीय व्यक्ति बताया था···जोकि उसके देश को गुलाम बनाने वालों से संघर्ष के नाम पर अपना जीवन तक देने को तैयार था। मैंने जब उससे यह कहा कि आबादी के बड़े हिस्सों को, ख़ासकर भारत की सर्वहारा को, राष्ट्रीय मुक्ति के विचारों से परिचित कराना—उन्हें समझाना—आवश्यक है तो उसने इस तरह की तर्क-पद्धति पर आश्चर्य ही व्यक्त किया और कहा कि उसके विचार मे धनी लोग ही एकमात्र विश्वसनीय क्रांतिकारी शक्ति हो सकते हैं, स्वतंत्र लोग भारत की मुक्ति के महान लक्ष्य के लिए उनके साथ-साथ लड़ सकते हैं। ग़रीब आदमी को तो कोई भी ख़रीद सकता है रिश्वत दे सकता है, तथा ग़रीब भारतीय भारत की परिस्थिति के बारे में जानता ही क्या है,"[2] इस तरह का 'पिछड़ापन' बहुत से भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का बहुत बाद तक विशेष लक्षण बना रहा।[3] फ़रवरी 1915 मे सशस्त्र विद्रोह संगठित

---

1. अक्तूबर क्रांति के बाद मिखाइल पाव्लोविच (1871-1927) प्रमुख सोवियत राजनयिक, अध्येता, कामिंटर्न अधिकारी तथा पूरबी विद्याओं के सोवियत स्कूल के संगठनकर्ता थे।
2. मिखाइल पाव्लोविच, वी० गुर्को—क्र्याज़िन, एस० वेल्टमान 'मुक्ति युद्ध में भारत', मास्को, 1925, पृ० 31-32 (रूसी मे)
3. तथापि, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के चरम उग्रपंथी नेता (बालगंगाधर तिलक, अरविंद घोष) यह अच्छी तरह समझते थे कि भारत मे ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ संघर्ष मे जनता की व्यापक भागीदारी अनिवार्य थी।

संगठनों में एकता कायम करने का प्रयास था। निर्वासित अस्थायी सरकार में गदर पार्टी तथा बर्लिन समिति के प्रतिनिधि तो शामिल थे ही, मुस्लिम आंदोलन व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कुछेक प्रमुख उग्रपंथी सदस्य भी शामिल थे।

अस्थायी सरकार ने अफगान सरकार तथा स्वतंत्र सीमांतवासी पुश्तू जनजातियों की सशस्त्र सहायता से भारत में संपूर्ण विद्रोह संगठित करने की भरपूर कोशिशें कीं। ब्रिटिश विरोधी ताकतों से वित्तीय तथा सैन्य समर्थन प्राप्त करने की अपनी कार्यनीति पर डटे रहकर उन्होंने अफगान सरकार—जिसके साथ उन्होंने उपयुक्त संधि भी कर ली थी—तथा कितना भी विचित्र क्यों न लगे, ज़ारशाही रूस की ओर आशाभरी नजरों से देखा। रूस की तरफ देखने के दो कारण थे—मध्य एशिया में रूस के जो अधीन क्षेत्र थे वे भारत की सीमाओं के काफी निकट थे, तथा पूरब में आंग्ल-रूसी अंतर्विरोध चरम सीमा तक पहुँच गये थे।[1]

1916 में महेंद्र प्रताप ने दो मिशन रूस भेजे (पहला, मार्च-अप्रैल में तथा दूसरा, अगस्त-सितम्बर में) जिनका लक्ष्य ज़ार को इस बात के लिए राज़ी करना था कि ब्रिटेन के खिलाफ संभावित अफग़ान-भारतीय कार्यवाही का रूस खुला समर्थन करेगा, अथवा तटस्थ रहेगा।[2] पहला मिशन ताशकंद पहुँच गया किन्तु दूसरे को तर्मेज़ में ही रोक दिया गया क्योंकि तुर्किस्तान के रूसी अधिकारियों ने अपनी सरकार के निर्देशों की अनुपालना के क्रम में ब्रिटेन के साथ हुई रूस की संधि के प्रति ज़ार की निष्ठा को दोहराया।

मोहम्मद अली के नेतृत्व में जो पहला मिशन गया था वह तो सुरक्षित काबुल लौट आया किन्तु दूसरे मिशन को तुर्किस्तान के ज़ारशाही के अधिकारियों ने मेशहद[3] में ब्रिटिश महावाणिज्य-दूत के हवाले कर दिया। मिशन के नेता को कुछ समय बाद लाहौर में फाँसी पर चढ़ा दिया गया। यही नहीं, ज़ार के अधिकारियों

---

1. अंग्रेजों से भारत की मुक्ति के लिए रूस के उपयोग के विचार को 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर एवं मध्य भारत के छोटे राजघरानों ने बढ़ावा दिया जो तथाकथित सामंती राष्ट्रवाद के प्रवर्तक थे। (देखें : जी० एल० दमित्रिएव, '20वीं शताब्दी के आरंभ में रूसी-भारतीय राजनीतिक संबंध, उज़बेकिस्तान के इतिहास की पृष्ठिभूमि', ताशकंद, राज्य विश्वविद्यालय के कार्य विवरण, अंक 287, ताशकंद विश्वविद्यालय प्रेस, ताशकंद, 1966, पृ० 126 (रूसी में)
2. देखें : ए० वी० राइकोव, 'भारत का आमरण', पृ० 103-104 (रूसी में)
3. केंद्रीय राज्य सैन्य इतिहास अभिलेखागार, अनुभाग 1396, रजिस्टर 6, फ़ाइल 228, पृ० 203, 218.

या। उदाहरण के लिए चट्टोपाध्याय के शब्दों में ही, वह तथा उनके अन्य साथी कामरेड चार्ल्स रेपोपोर्ट (रूसी कुल के फ़ासीसी समाजवादी) तथा कामरेड ल्लोविच से परिचित थे।"

एक अन्य रूसी सामाजिक-जनवादी किरिल त्रोयानोव्स्की (जो बाद में र्मिटर्न के अधिकारी बने) का भी भारतीय क्रांतिकारी कर्मियों के साथ घनिष्ठ र्क था। किन्तु यह मिखाइल पाव्लोविच ही थे जिन्होंने पेरिस में 1909-914 के दौरान भारतीय क्रांतिकारियों के साथ सर्वाधिक कार्य किया। उन्होंने फी समय बाद स्मरण किया कि उनका घर "भारतीय, एशियाई तथा चीनी तिकारियों का मिलन-स्थल" था जिनके साथ वह 'क्रांतिकारी कार्य की योज-ओं" पर विचार-विमर्श करते थे। उन्होंने कहा कि इसके अतिरिक्त वह "एशि-ई, चीनी एवं भारतीय क्रांतिकारियों के लिए पर्चे-पुस्तिकाएँ संपादित किया करते तथा उनकी पत्रिकाओं व समाचार पत्रों के लिए लेख लिखा करते थे।"[1] कहना होगा कि पाव्लोविच सरीखे व्यक्तियों का जो प्रभाव पड़ा उसने भारतीय ष्ट्रीय क्रांतिकारियों के वैचारिक विकास को काफी बढ़ावा दिया, हालांकि इस ष्टि से जो सबसे ज्यादा मायने रखता था वह था जीवन-प्रवाह। इससे पहले रे इंटरनेशनल की स्टुटगार्ट कांग्रेस में भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों को तीय एवं औपनिवेशिक संबंधों (लेनिन की कृतियों में जिसे राष्ट्रीय एवं औप-वेशिक प्रश्न के रूप में विवेचित किया गया है—संपादक) के बारे में बोल्शेविक ति से परिचित होने का अवसर मिला। उसके बाद उन्हें एक से अधिक अवसर ले यह समझने के लिए कि बोल्शेविक नीति अटल थी। समय बीतने के साथ-थ उनकी समझ में यह आ गया कि सुधारवाद तथा संशोधनवाद के जाल में ा हुआ यूरोप का सामाजिक-जनवादी आंदोलन नहीं, बल्कि बोल्शेविक ही स्त उत्पीड़ित राष्ट्रों के आत्म-निर्णय, स्वाधीनता व राष्ट्रीय संप्रभुता के धिकार के सही मायने में झंडाबरदार थे। प्रथम विश्व-युद्ध के वर्षों में, तथा खास र उसके अंतिम दिनों में, भारतीय क्रांतिकारी यह अधिक स्पष्ट रूप में समझ ए कि पश्चिमी समाजवादी पूरब के जनगण के हितों की हिफ़ाजत करने में एक-ा असमर्थ थे। बाद में, 3 सितम्बर, 1917 को अखिल रूसी मुस्लिम परिषद् ' कार्यकारिणी समिति को पेत्रोग्राद में भेजे गए एक संदेश में स्वयं उन्होंने भग यह सब कहा। केरेंस्की के नेतृत्व वाली अस्थायी सरकार से राष्ट्रों के त्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार करने व उसकी रक्षा करने की रूसी मुस्लिमों

1. देखें: एम०पी० पाव्लोविच, 'आत्मकथा', ग्रेनेत संगठन का वृहद कोष, खंड 41, भाग 2, पृ० 106-107; उन्हीं की 'विश्व युद्ध की पूर्व संध्या पर भारत' स्वाधीनता के संघर्ष में भारत में, पृ० 31-42 (सभी रूसी में)

ने अस्थायी सरकार के तीसरे मिशन को सितंबर 1916 में तुर्की की राजधानी की ओर जाते हुए पर्शिया में गिरफ्तार कर लिया तथा इसे भी ब्रिटेन को सौंप दिया।[1] 1917 की फरवरी क्रांति के बाद, भारतीय क्रांतिकारियों की अस्थायी सरकार ने रूस की सहायता पर एक बार फिर भरोसा व्यक्त किया। 1917 में उन्होंने रूसी अस्थायी सरकार की तुर्किस्तान समिति से संपर्क करने का प्रयास किया। किन्तु समिति ने उनसे बातचीत करने से इनकार कर दिया तथा ब्रिटेन के साथ संधि को बनाए रखने का संकल्प व्यक्त किया।

यही कारण था कि प्रथम विश्व-युद्ध के अंत तक कुछेक राष्ट्रीय क्रांतिकारियों को यह साफ तौर पर समझ में आ गया कि उनकी कार्यनीति से संबंधित निर्देशक सिद्धांत कितने ग़लत थे : विद्रोह की निर्णायक शक्ति के रूप में सैन्य इकाइयों पर भरोसा करना, जनता के बीच क्रांतिकारी कार्य का परित्याग, आतंकवाद की छिटपुट कार्यवाहियों को सही समझना, तथा भारत में ब्रिटिश शासन को अंत के लिए कतिपय साम्राज्यवादी देशों के समर्थन पर आश्रित होना, आदि इसके उदाहरण हैं। कुल मिलाकर जनता के बीच बिना दीर्घावधि क्रांतिकारी कार्य के, सशस्त्र जन-विद्रोह संगठित करने की योजनाएँ तथा प्रयास एकदम निष्फल ही साबित हुए।

भारतीय क्रांतिकारी प्रवासियों ने अपनी मातृभूमि को उपनिवेशवाद के शिकंजे से मुक्त कराने के कारगर साधनों की तलाश की। पश्चिमी यूरोप तथा संयुक्त राज्य में रहते हुए उन्होंने समाजवाद के विचारों का अध्ययन प्रारम्भ किया। वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने अपनी आत्मकथात्मक टिप्पणी में लिखा कि 1910 में लंदन में, जहाँ वह पहली भारतीय क्रांतिकारी समिति गठित करने में सक्रिय थे, गिरफ्तारी से बचने के लिए उन्होंने पेरिस के लिए प्रस्थान किया जहाँ पहुँच कर वह "भारतीय क्रांतिकारी समूह के सदस्य हो गए तथा फ्रांस से भारत के लिए क्रांतिकारी साहित्य का प्रकाशन करते रहे।" उसी वर्ष, "भारतीय समाजवादी तथा क्रांतिकारी मदाम कामा के साथ उन्होंने फ्रांसीसी समाजवादी पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर ली तथा ल' ह्यूमेनिते नामक पत्र के लिए अक्सर लिखने लगे।"[2] पश्चिमी समाजवादियों के साथ-साथ रूसी सामाजिक जनवादियों ने भी भारतीयों को समाजवादी विचारों से परिचित कराने में अपना योगदान

1. केंद्रीय राज्य सैन्य इतिहास अभिलेखागार, अनुभाग 1396, रजिस्टर 6, फाइल 228 पृ० 202; 'भारतीय क्रांतिकारी समिति के इतिहास का संक्षिप्त विवरण', पृ० 1, 4
2. कम्युनिस्ट पार्टी अभिलेखागार, मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान, अनुभाग 490, रजिस्टर 1, फाइल 208, पृ० 664

दिया। उदाहरण के लिए चट्टोपाध्याय के शब्दों में ही, वह तथा उनके अन्य साथी "कामरेड चार्ल्स रेपोपोर्त (रूसी कुल के फ्रांसीसी समाजवादी) तथा कामरेड पाव्लोविच से परिचित थे।"

एक अन्य रूसी सामाजिक-जनवादी किरिल त्रोयानोव्स्की (जो बाद मे कामिंटर्न के अधिकारी बने) का भी भारतीय क्रांतिकारी कर्मियों के साथ घनिष्ठ संपर्क था। किन्तु यह मिखाइल पाव्लोविच ही थे जिन्होंने पेरिस में 1909-1914 के दौरान भारतीय क्रांतिकारियों के साथ सर्वाधिक कार्य किया। उन्होंने काफी समय बाद स्मरण किया कि उनका घर "भारतीय, एशियाई तथा चीनी क्रांतिकारियों का मिलन-स्थल" था जिनके साथ वह 'क्रांतिकारी कार्य की योजनाओं' पर विचार-विमर्श करते थे। उन्होंने कहा कि इसके अतिरिक्त वह "एशियाई, चीनी एवं भारतीय क्रांतिकारियों के लिए पर्चे-पुस्तिकाएँ संपादित किया करते थे तथा उनकी पत्रिकाओं व समाचार पत्रों के लिए लेख लिखा करते थे।"[1] कहना न होगा कि पाव्लोविच सरीखे व्यक्तियों का जो प्रभाव पड़ा उसने भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के वैचारिक विकास को काफी बढ़ावा दिया, हालांकि इस दृष्टि से जो सबसे ज्यादा मायने रखता था वह था जीवन-प्रवाह। इससे पहले दूसरे इंटरनेशनल की स्टुटगार्ट कांग्रेस मे भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों को जातीय एवं औपनिवेशिक सवालों (लेनिन की कृतियों मे जिसे राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्न के रूप मे विवेचित किया गया है—संपादक) के बारे मे बोल्शेविक नीति से परिचित होने का अवसर मिला। उसके बाद उन्हे एक से अधिक अवसर मिले यह समझने के लिए कि बोल्शेविक नीति अटल थी। समय बीतने के साथ-साथ उनकी समझ मे यह आ गया कि सुधारवाद तथा संशोधनवाद के जाल में फँसा हुआ यूरोप का सामाजिक-जनवादी आंदोलन नहीं, बल्कि बोल्शेविक ही समस्त उत्पीड़ित राष्ट्रों के आत्म-निर्णय, स्वाधीनता व राष्ट्रीय संप्रभुता के अधिकार के सही मायने में तरफदार थे। प्रथम विश्व-युद्ध के वर्षों मे, तथा खास कर उसके अंतिम दिनों मे, भारतीय क्रांतिकारी यह अधिक स्पष्ट रूप मे समझ पाए कि पश्चिमी समाजवादी पूरब के जनगण के हितों की हिफ़ाजत करने मे एकदम असमर्थ थे। बाद मे, 3 सितम्बर, 1917 को अखिल रूसी मुस्लिम परिषद् की कार्यकारिणी समिति को पेत्रोग्राद मे भेजे गए एक संदेश मे स्वयं उन्होंने लगभग यह सब कहा। केरेन्स्की के नेतृत्व वाली अस्थायी सरकार से राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार करने व उसकी रक्षा करने की रूसी मुस्लिमों

1. देखें: एम०पी० पाव्लोविच, 'आत्मकथा', ग्रेनेत संगठन का वृहद कोष, खंड 41, भाग 2, पृ० 106-107; उन्ही की 'विश्व युद्ध की पूर्व संध्या पर भारत' स्वाधीनता के संघर्ष में भारत मे, पृ० 31-42 (सभी रूसी मे)

की माँग व उनके दृष्टिकोण का स्वागत करते हुए उन्होंने इस निरर्थक आ विरुद्ध चेतावनी दी कि यूरोपीय समाजवादी कभी भी उस तरह की अपना सकते हैं। उन्होंने लिखा, "रूस में किसी के लिए भी यह मानना होगी कि अगस्त 1917 में आयोजित समाजवादियों की अंतर्राष्ट्रीय स्टॉक कांफ्रेंस पूरब के जनगणों के पक्ष में आवाज़ उठा पाएगी।"[1]समाजवादियों से भंग होने पर चट्टोपाध्याय ने अपने क्रांतिकारी जीवन में एक महत्वपूर्ण उठाया। उन्होंने लिखा, "मैंने समाजवादी पार्टी इसलिए छोड़ी कि मैं अ महत्व के प्रश्नों पर उसके नरम रुख के खिलाफ़ था तथा उसे नामर्द क था।"[2]

ज़ाहिर है कि 1917 के मध्य तक, जर्मनी के साथ अपने गँठजोड़ से लग कुछ भी प्राप्त न करके, हालाँकि अभी तक वे इसे छोड़ पाने की स्थिति में नहीं पहुँच सके थे, इस विचार के समर्थक हो रहे थे कि उन्हें बोल्शेविकों के स सहयोग करना चाहिए। जर्मन जनवादी गणराज्य के इतिहासकार हार्स्ट क्रू यह सिद्ध करने के लिए सुसंगत साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि भारतीय क्रांतिका ने अपनी क्रांतिकारी समिति की शाखा मई 1917 में स्टॉकहोम में इसलिए खोली थी कि वह लेनिन तथा बोल्शेविकों के साथ संबंध स्थापित करने की दृष्टि सुविधाजनक स्थान था, चूँकि बर्लिन में उस समय यह संभव नहीं था। चट्टोपाध्य द्वारा 1 नवम्बर, 1917 को बर्लिन समिति को भेजे गए पत्र में यह माँग कर कि रूस में भारतीय क्रांतिकारी कार्यवाही संगठित की जाए[3] यह दिखाता है स्टॉकहोम में इस तरह के संपर्क संभव सिद्ध हुए। इससे यह स्पष्ट होता है अक्तूबर क्रांति के पूर्व ही भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का झुकाव बोल्शेवि की तरफ़ दिखने लगा था क्योंकि उन्हें भरोसा था कि उन्हें अपने देश को स्वतंत्र दिलाने में बोल्शेविकों की सहायता-समर्थन निश्चित तौर पर प्राप्त होगा। एरिक कोमारोव की इस राय से पूरी तरह सहमत हूँ कि बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में यूरोप के समाजवादियों तथा रूस के सामाजिक-जनवादियों के साथ भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का मिलना तथा उठना-बैठना "भारत में मार्क्स वाद के प्रसार में सहायक होने से काफ़ी दूर था। वे कुछ भारतीय भी जोकि पश्चिमी समाजवादी संगठनों से संबद्ध थे अपने दृष्टिकोण में उग्रपंथी राष्ट्रवाद से

1. हार्स्ट क्रूगर, 'दास लेनिनिश्च्ज प्रिंजिप', बर्लिन, 1970, पृ० 201
2. कम्युनिस्ट पार्टी अभिलेखागार, मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान, अनुभाग 470, रजिस्टर 1, फाइल 208, पृ० 664
3. हार्स्ट क्रूगर, 'दास लेनिनिश्च्ज प्रिंजिप', पृ० 199, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज़, खंड 1, 1917-1922, पृ० 9

आगे नहीं जा पाए।"[1] बीस के दशक तक भी इस अर्थ में स्थिति कतई नहीं बदली। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में सलग्न किसी भी व्यक्ति ने, अथवा किसी भी प्रवासी राष्ट्रीय क्रांतिकारी ने अभी तक मार्क्सवाद को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया था। अपनी मातृभूमि को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराने के तरीकों की खोज में, मात्र कुछ प्रगतिशील दृष्टि से संपन्न बुद्धिजीवी ही विभिन्न समतावादी स्वप्नलोकी समाजवादी अवधारणाएँ विकसित कर पाए। राष्ट्र के आरम्भिक पूँजीवादी विकास को घातक बताकर उसकी आलोचना करते हुए उन्होंने छोटे पैमाने पर उत्पादन[2] पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के जो विचार प्रस्तुत किए थे वे एकदम अव्यावहारिक थे।

तो जैसा हम देखते हैं, प्रवासी भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी पश्चिमी समाजवादियों से इसलिए दूर नहीं होने लगे कि उन्होंने विश्व के सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए किए जाने वाले संघर्ष के उनके तरीकों की निरर्थकता समझ ली थी, बल्कि इसलिए कि राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्न पर उनकी ढुलमुल तथा सुधारवादी नीति भारतीयों को संतुष्ट नहीं करती थी।[3]

यह असंदिग्ध है कि निर्वासित भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी अक्तूबर क्रांति के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील थे तथा उन्होंने इसका तत्काल स्वागत किया। भारत के मुक्ति संघर्ष में संलग्न राजनीतिक संगठनों में से उन्होंने ही सर्वप्रथम सोवियत रूस के साथ संपर्क क़ायम किया। चट्टोपाध्याय ने अपनी आत्मकथात्मक टिप्पणी में उल्लेख किया कि अक्तूबर क्रांति के बाद उन्होंने तथा उनके सहयोगियों ने "खुले तौर पर बोल्शेविक कार्यक्रम के प्रति अपनी निष्ठा घोषित की।" (क पा अ, मा-ले सं) हालांकि बाद के वर्षों के उनके विचारों को देखकर ऐसा लगता है कि उन्होंने बोल्शेविक जातीय संबंधों के कार्यक्रम को ही अपनाया था। यह सही है कि युद्ध के अंत के दिनों में भारतीय क्रांतिकारियों का राष्ट्रवाद निश्चित जनवादी भंगिमा अर्जित करने लगा था। यह भी सम्भव है कि रूसी बोल्शेविकों के प्रभाव में तथा साम्राज्यवादी युद्ध की घटनाओं के कारण वे पूँजीवादी जनतंत्र को और अधिक आदर्शीकृत न करके, उसकी कटु आलोचना करने लगे तथा भारत में लोकशाही के मुद्दे पर अधिकाधिक आग्रह करने लगे।

महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति का पूरब के राष्ट्रों पर, और शायद सबसे

---

1. ई० एन० कोमारोव, '20वीं शताब्दी के आरंभ में भारत में समतावादी अवधारणाएँ', आधुनिक भारत की वैचारिक समस्याएँ, नाउका प्रकाशन, मास्को, 1970, पृ० 156 (रूसी में)
2. वही, पृ० 173
3. देखें : ए० वी० राइकोव, 'भारत का जागरण', पृ० 133

अधिक भारत पर जबर्दस्त असर हुआ। हाल के प्रकाशनों[1] ने इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए समुचित साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं।

सही मायनों में विराट आयामों वाली विश्व घटना के रूप में अक्तूबर क्रांति के प्रभाव की व्यापकता मात्र उसकी अपनी शक्ति तथा उसके द्वारा लाये गए परिवर्तन पर नहीं बल्कि इस बात पर भी निर्भर करती थी, व अभी भी करती है कि आस-पास की दुनिया उस परिवर्तन के अर्थ को देखने-समझने में कितनी समर्थ है, कितनी तैयार है। क्योंकि सबसे अधिक चमकदार प्रकाश किरण भी तब तक चिन्हित नहीं की जा सकती जब तक कि देखने वाली आँख न हो, या आपके कैमरा में एक संवेदनशील प्लेट न लगी हो। आसपास की दुनिया को समझने की सामर्थ्य तथा समझ की सीमा अब वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक धारणाएँ बन गई हैं क्योंकि वे प्रमुख रूप से इस दुनिया के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के स्तर द्वारा निर्धारित होती हैं (यह बात भारत पर वैसे ही लागू होती है जैसे अन्य पूरबी देशों पर) तथा परिणामस्वरूप संस्कृति एवं राजनीतिक कुशाग्रता की वांछित मात्रा से संपन्न तत्त्वों की उपस्थिति, इन तत्त्वों को सक्रिय करने वाले सामाजिक आंदोलनों की रचना तथा तीव्रता पर भी निर्भर करती हैं। इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि पश्चिम में अक्तूबर क्रांति का बोध, पूरब की तुलना में, उसके सार-तत्व के अनुरूप था।

भारत की क्रांतिकारी जनवादी शक्तियाँ भी 1917 के तत्काल बाद के वर्षों में अक्तूबर क्रांति के समग्र कार्यक्रम को पहचानने में असमर्थ रहीं क्योंकि इसके लिए अभी तक तैयार नहीं थीं। मजदूर वर्ग संख्या की दृष्टि से अत्यंत सीमित था (भारत की समूची आबादी का मुश्किल से 0.5 प्रतिशत हिस्सा), तथा वह भौगोलिक, आर्थिक अथवा बौद्धिक रूप से अभी तक किसानों से अलग नहीं हो पाया था। इसके अलावा, सर्वहारा बहुभाषा-भाषी, पूर्णतया निरक्षर तथा जातीय एवं धार्मिक धारणाओं एवं रूढ़ियों से ग्रस्त था। इसलिए कम्युनिस्ट आदर्श अभी भी उसकी पकड़ के बाहर थे। उपर्युक्त सभी बातें किसानों के बड़े हिस्सों पर और

---

1. देखें : 'भारत और लेनिन', संकलन, नई दिल्ली 1960; मुज़फ़्फ़र अहमद, 'भारत की कम्यु० पार्टी तथा विदेश में इसकी स्थापना', नेशनल बुक एजेंसी प्रा० लि० कलकत्ता, 1962; मुज़फ़्फ़र अहमद, 'मैं और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी', नेशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता, 1968; देवेंद्र कौशिक, लियोनिद मित्रोखिन, 'लेनिन—भारत में उनकी छवि', दिल्ली, 1970; लियोनिद मित्रोखिन, 'लेनिन के बारे में भारत', (वी० आई० लेनिन—भारतीय प्रकाशनों में उनकी छवि तथा भारतीयों व उनके समकालीनों के संस्मरण), नाऊका प्रकाशन, मास्को, 1971 (रूसी में).

भी अधिक लागू होती हैं जोकि विपन्न, अज्ञान ग्रस्त, कट्टर रूप से धार्मिक थे, तथा सामंती शोषण एवं सूदखोरी द्वारा कुचले एवं जकड़े हुए थे। यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ब्रिटिश सत्ताधीशों ने भारतीय समाज तथा भारतीयों को अक्तूबर क्रांति के चरित्र एवं सोवियत सरकार के व्यावहारिक कार्यकलाप के बारे में भ्रमित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। इस सबके बावजूद यदि राजनीतिक जीवन के प्रति जन-समूहों की जाग्रति बढ़ी तो आरंभिक अवस्थाओं में उसका रूप राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में सलग्नता के अलावा और हो ही क्या सकता था।

विश्व युद्ध के आखिरी दिनों में नये उभार के काल में प्रवेश करने से पहले देश में वर्षों से जो राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन विकसित हो रहा था उसने भारत के अन्य सभी सामाजिक आंदोलनों को आत्मसात् कर लिया था तथा अधिकांश भारतीयों की आकांक्षाओं व भावनाओं को एक राष्ट्रीय रंग दे दिया था। मजदूर वर्ग का आंदोलन, जो अभी अपने पैरों पर चलना शुरू कर रहा था, दरअसल राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का ही एक तत्व था जैसे कि किसानों के स्वतःस्फूर्त, सामंत-विरोधी विद्रोह थे जो सामंतों पर चोट करते थे जोकि ब्रिटिश शासन के मुख्याधार थे।

अतः यह स्वाभाविक ही है कि अक्तूबर क्रांति ने भारत को प्रमुखतया अपने जनवादी कार्यक्रम से प्रभावित किया, न कि समग्र कार्यक्रम के कम्युनिस्ट हिस्से से। देश के अत्यंत आगे बढ़े हुए तत्वों—भारत स्थित तथा निर्वासित क्रांतिकारियों—ने भी अक्तूबर क्रांति की महानता को प्रमुखतया इस रूप में देखा कि उसने रूसी साम्राज्य के उपनिवेशों को जारशाही के जुए से मुक्त करके, तथा राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की घोषणा करके व उस अधिकार के प्रयोग को संरक्षित करके पूरब के अन्य जनगणों को राष्ट्रीय स्वाधीनता का रास्ता दिखा दिया था।

भारतीय इतिहासकारों के एक समूह ने गौतम चट्टोपाध्याय के नेतृत्व में जो सामूहिक कार्य प्रस्तुत किया वह अक्तूबर क्रांति के प्रति बंगाली क्रांतिकारियों की प्रतिक्रिया का अत्यंत प्रभावकारी व यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करता है। 1917-1918 के दौरान अधिकांश क्रांतिकारी जेल में थे। जेल में रहते हुए भी उन्होंने अक्तूबर क्रांति का स्वागत किया। स्टेट्समैन, जो कि अंग्रेजों का प्रतिक्रियावादी मुखपत्र था तथा जो जेलों में उपलब्ध कराया जाने वाला एकमात्र समाचार पत्र था, पढ़ते हुए वे उसे (समाचार पत्र को) "प्रतिदिन सोवियत रूस के खिलाफ गालियाँ देते हुए गरजते देखते थे।" 77 वर्षीय क्रांतिकारी सतीश पकरासी ने उपरोक्त पुस्तक में स्मरण किया कि "इसने हमें पक्का भरोसा दिला दिया कि कुछ ऐसा घटित हो गया है जोकि वास्तव में प्रगतिशील है।" क्रांति-

कारियों के लिए क्रांति का समाजवादी अर्थ आकर्षक था, हालांकि बहुत अस्पष्ट भी था। उन्होंने कहा, "कम्युनिज्म के आदर्श ने अब तक हमे अस्पष्ट रूप से ही आकर्षित किया था।" क्रांतिकारियों ने जब भूख हड़ताल करके अमृत बाजार पत्रिका नामक राष्ट्रीय समाचार पत्र पढने का हक हासिल कर लिया था तब यह लगा था कि इसकी सहायता से वे उस अस्पष्टता को दूर कर पाने तथा क्रांति की समाजवादी सार-वस्तु की खोज कर पाने की स्थिति में आ पाएंगे। किंतु जो उन्होंने खोजा "वह मात्र बोल्शेविक रूस का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र था।"[1]

यह कल्पना करना और भी कठिन है कि राष्ट्रीयता की वह रोशनी कितनी तेज़ थी जिसमें भारतीय क्रांतिकारियों ने आसपास की दुनिया को देखा। उदाहरण के लिए, सोवियत सरकार के इस नारे (पूँजीपतियों का नाश हो !) को भारतीय क्रांतिकारियों ने समस्त पूँजीपति वर्ग—जिसमें उनका स्वयं का राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी सम्मिलित था—को उखाड़ फेंकने की अपील के रूप में नहीं लिया बल्कि विदेशी शासन, या यों कहें ब्रिटिश शासन, के विरुद्ध संघर्ष की अपील के रूप में लिया। मोहम्मद बरकत उल्लाह ने इज़्वेस्तिया के संवाददाता को अत्यंत सटीक ढंग से बताया कि, "हमारे लिए पूँजीपति विदेशी का, या ठीक से कहें तो अंग्रेज का पर्याय है...अत: सोवियत सरकार की पूँजीपतियों के खिलाफ संघर्ष की सुपरिचित अपील ने हमारे ऊपर जबर्दस्त प्रभाव डाला था। भारतीयों के लिए अक्तूबर क्रांति के महत्त्व के बारे में किसी भी तरह के संदेह के लिए जगह न छोड़ने की दृष्टि से ही जैसे बरकत उल्लाह ने यह जोर देना उचित व सही समझा: "जिस बात ने और भी अधिक प्रभाव डाला वह था साम्राज्यवादी सरकारों द्वारा थोपी गई समस्त गुप्त संधियों का रूस द्वारा भंग किया जाना व जनगणों के स्वतन्त्र आत्म-निर्णय की घोषणा।" बरकत उल्लाह ने इसमें यह और जोड़ा कि यही वह कार्य था "जिसने एशिया के समस्त जनगणों को व समस्त पार्टियों को—उनको भी जो कि समाजवाद से काफी दूर थीं—रूस के इर्द-गिर्द लाकर खड़ा कर दिया।"[2]

सोवियत गणराज्य में बसे भारतीय क्रांतिकारी प्रवासियों के विशिष्ट नेताओं में प्रमुख अब्दुर रब्ब बर्क ने 8 मई, 1921 को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी समिति के नाम अपने पत्र में लिखा, "भारत के जनगणों को सोवियत सरकार इसलिए पसंद आ गई है कि वह ब्रिटेन की शत्रु तथा आत्म-निर्णय के सिद्धांत

1. गौतम चट्टोपाध्याय, 'कम्युनिज़्म और बंगाल का स्वाधीनता आंदोलन', खंड I (1917-1929), पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1970, पृ॰ 17-18
2. देखें : इज़्वेस्तिया, 6 मई 1919, पृ॰ 1

की पक्षधर है" (क पा अं, मा-ले सं)।

जहाँ तक बोल्शेविकों के सामाजिक कार्यक्रम का प्रश्न है, उसे समाज के शिक्षित तबकों तक ने लंबे समय से शुद्ध रूप से समतावादी ही माना था। 1923 में क्रांतिकारी निम्न-पूँजीवादी पार्टी जुगांतर के नेता अमूल्य चरण अधिकारी ने बोल्शेविकों के बारे में लिखा कि वे "पूँजीवाद के खिलाफ हैं। यही कारण है कि ब्रिटिश, फ्रांसीसी तथा अन्य साम्राज्यवादी इस नवजात राज्य को नष्ट करने के प्रयास कर रहे हैं। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व के संदेश का प्रसार करके विजय प्राप्त की है।"[1]

ब्रिटिश सरकार अक्तूबर क्रांति के खास तौर से इस उपनिवेश-विरोधी प्रभाव के कारण को अच्छी तरह समझती थी अतः उसने भारत को जातीय एवं औपनिवेशिक संबंधों के प्रश्नों में जुड़ी बोल्शेविक नीति तथा उसे क्रियान्वित करने के लिए सोवियत सरकार द्वारा उठाए गए कदमों से संबंधित सूचनाओं-समाचारों से अंधेरे में रखने के भरपूर प्रयास किए। इस दृष्टि से सोवियत कार्यवाही के प्रति लंदन की त्वरित प्रतिक्रिया विस्मयकारी ही मानी जाएगी।

3 दिसंबर, 1917 को जन-कमिसार परिषद ने "रूस तथा पूरब के कामगार मुस्लिमों के नाम अपील" प्रकाशित की। इसके प्रत्येक शब्द ने उत्पीडित जनगणों के दिलों व दिमागों को उत्तेजित व प्रेरित किया। दस्तावेज में कहा गया कि "अब जब युद्ध एवं दुर्व्यवस्था समूची पुरानी दुनिया की जड़ों को हिला रहे हैं, जब समूची दुनिया साम्राज्यवादी लुटेरों के खिलाफ क्षोभ एवं गुस्से से भरी है, जब गुस्से की प्रत्येक चिनगारी क्रांति की विशाल ज्वाला में रूपांतरित हो रही है, जब विदेशी सत्ता द्वारा उत्पीडित और सताये गए भारत के मुस्लिम तक उन्हें गुलाम बनाने वालों के खिलाफ विद्रोह के लिए उठ खड़े हो रहे हैं, चुप रह पाना असंभव है। बिना समय खोए हुए अपनी पीठों पर से अपनी मातृभूमि के प्राचीन विजेताओं को उतार फेंको यह तुम्हारा हक़ है क्योंकि तुम्हारी नियति तुम्हारे हाथों में है।"[2]

दस्तावेज प्रकाशित होने के दो दिन बाद, 6 दिसंबर, 1917 को ब्रिटेन के भारत के मामलों के मंत्री ने वाइसराय को बोल्शेविकों द्वारा रूस तथा पूरब के समस्त मेहनतकश मुस्लिमों के नाम तार सेवा द्वारा प्रेषित, तथा ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा बीच में रोक दी गई, अत्यंत भड़काने वाली घोषणा के बारे में तार

1. गौतम चट्टोपाध्याय, 'लेनिन का प्रभाव', मेनस्ट्रीम, 18 नवंबर, 1967, पृ० 23
1. सोवियत संघ की विदेश नीति, दस्तावेज, खंड 1, मास्को, 1957, पृ० 35 (रूसी में)

द्वारा सूचना दी। उन्होंने आगे कहा कि इस घोषणा को यथासंभव छिपाए रखना चाहिए।[1] 13 दिसंबर को लंदन ने दिल्ली को पुनः "उस तार को छिपाए रखने के लिए सभी संभव कदम उठाने" के निर्देश दिए। पर संभवतया यह मानकर कि इस माँग को पूरा कर पाना असंभव होगा, उक्त मंत्री ने वाइसराय पर प्रति-प्रचार संगठित करने के लिए ज़ोर डाला।[2] ब्रिटिश शासकों ने नवंबर 1917 में ही, जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस मात्र होम रूल (तथा इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं) की माँग कर रही थी, रूसी घटनाक्रम के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर यह अनुभव कर लिया था कि इस माँग की क्या परिणति हो सकती थी। अतः उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग को डराने के लिए प्रेस के माध्यम से एक व्यापक अभियान चलाया जिसका उद्देश्य रूसी दुर्व्यवस्था एवं अराजकता का हवाला देकर यह सिद्ध करना था कि ये स्थितियाँ अपरिपक्व राष्ट्र द्वारा स्व-शासन प्राप्त कर लेने की अवश्यंभावी उपज होती हैं। पायनियर नामक समाचार पत्र ने 19 नवंबर, 1917 को लिखा : "रूस इन दिनों उन ख़तरों के बारे में वस्तुनिष्ठ सबक प्रस्तुत कर रहा है जोकि किसी देश द्वारा अपरिपक्व अवस्था में प्रातिनिधिक संस्थाओं पर कब्ज़ा करने से जुड़े हुए हैं। रूस में होम रूल एकदम अशासन का पर्याय बन गया है···इससे जो शिक्षा ली जानी चाहिए वह एकदम स्पष्ट है तथा इस देश के सभी धैर्यहीन राजनीतिज्ञों को उसे ग्रहण करना चाहिए। स्व-शासन एक ऐसा पौधा है जो धीरे-धीरे बढ़ता-विकसित होता है तथा समय-पूर्व उसे थोपने का परिणाम कुशासन, उथल-पुथल तथा अराजकता ही हो सकता है।"[3]

ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा भारत में उठाए गए क़दमों के वांछित परिणाम सामने नहीं आए। बहरहाल, अक्तूबर क्रांति के छः महीने बाद, 22 अप्रैल, 1918 को, जब भारत के मामलों के ब्रिटिश मंत्री एडविन सैमुअल मोंटेग्यू और वाइसराय लार्ड चैम्सफ़ोर्ड ने भारतीय संवैधानिक सुधारों से संबंधित रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किए तो उन्होंने रूसी क्रांति के उस प्रभाव का उल्लेख करना आवश्यक समझा जोकि भारतीय जनगण के बड़े हिस्सों की राजनीतिक चेतना पर पड़ रहा था। उन्होंने इंगित किया कि : "प्रारंभ में भारत में रूसी क्रांति को तानाशाही के ऊपर विजय के रूप में देखा गया···इसने भारतीय राजनीतिक आकांक्षाओं को तीव्रता

---

1. एल० वी० मित्रोखिन, भारत के बारे में लेनिन, पृ० 29 (रूसी में)
2. वही
3. ज़फ़र इमाम की पूरब-पश्चिम संबंधों में उपनिवेशवाद-भारत तथा आंग्ल-सोवियत संबंधों के प्रति सोवियत नीति 1917-1947 का अध्ययन से उद्धृत, ईस्टर्न पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1969, पृ० 57

प्रदान कर दी है।"[1]

यह हकीकत थी। यहाँ इस बात का उल्लेख किया जाना चाहिए कि जैसे-जैसे समय बीतता गया, भारत में ब्रिटिश अधिकारी भारत के लिए बोल्शेविकवाद के इस तथाकथित वास्तविक खतरे के उल्लेख अपनी सरकारी रिपोर्टों व चर्चाओं में बेहिचक करने लगे। भारतीय जनता के मुक्ति संघर्ष के तीव्र प्रवाह से दरपेश ब्रिटिश अधिकारी किसी भी ब्रिटिश-विरोधी कार्यवाही को मास्को तथा, बाद में, कामिंटर्न की चालों के परिणाम के रूप में चित्रित करने लगे। उन्होंने लगभग प्रत्येक उग्रपंथी राष्ट्रीय क्रांतिकारी को बोल्शेविक की संज्ञा दे डाली।

भारतीय क्रांतिकारी भारतदास ने 1918 में लिखा: "पिछले दस वर्षों के दौरान भारतीय क्रांतिकारियों का **अराजकतावादियों** के रूप में पीछा किया गया है। आजकल उन्हें **भारतीय बोल्शेविक** की संज्ञा दी जाने लगी है।"[2] 1919 के वसंत में जब औपनिवेशिक अधिकारियों ने भयानक **रौलट** बिल पास किया तो राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के जारी रहते, इसके प्रति जो तीव्र गुस्से से भरा विरोध पैदा हुआ उसे 20 मार्च, 1919 के द टाइम्स ने "भारत में क्रांति कराने की बोल्शेविक नीतियों"[3] का हिस्सा कहकर प्रचारित किया। ब्रिटिश प्रेस ने खिलाफत आंदोलन के प्रमुख तत्व—भारत से पड़ोसी मुस्लिम देशों में बड़े पैमाने पर बहिर्गमन—को भी बोल्शेविक प्रचार के परिणाम के रूप में खारिज करने के प्रयास किए। उदाहरण के लिए ऊब नामक समाचार पत्र ने 17 जून, 1922 को प्रकाशित लेख 'भारत में बोल्शेविक षड्यंत्र' में लिखा: "हेगिरा आंदोलन, जिसे शुद्ध धार्मिक माना जाता था, वस्तुतः राजनीतिक हो गया है⋯कोई भी जानकार व्यक्ति हमसे सहमत होगा कि हेगिरा आंदोलन धार्मिक सिद्धांतों पर आधारित नहीं है बल्कि रूसी प्रचार का परिणाम है।"[4] ब्रिटिश प्रशासन ने बिहार, संयुक्त प्रांत व बंगाल के किसानों के सामंत-विरोधी विद्रोह को 'साफ़ तौर पर बोल्शेविक क़िस्म' का बताया।[5] काबुल स्थित सोवियत मिशन ने अखिल रूसी केंद्रीय कार्यकारिणी समिति के तुर्किस्तान कमीशन को 22 मई, 1922 को अपनी रिपोर्ट में कहा कि

---

1. एम० आर० मसानी की 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का संक्षिप्त इतिहास' से उद्धृत, डेरेक, लंदन, 1954, पृ० 11
2. ए० बी० राइकोव की 'भारत का जागरण⋯' से उद्धृत, पृ० 130
3. देखें: 'स्वाधीनता के लिए संघर्ष (1905-1930) में भारत के क्रांतिकारी संगठन', नाऊका प्रकाशन, मास्को, 1979, पृ० 84 (रूसी में)
4. इस पत्र के नाम तथा इससे लिये गए उद्धरण का काबुल स्थित सोवियत मिशन की रिपोर्ट में हवाला दिया गया था।
5. देखें: एल० वी० मित्रोखिन 'भारत के बारे में लेनिन', पृ० 41

ब्रिटिश समाचार पत्रों ने यह आरोप लगाया है कि 1920 के आरंभ में हुई उत्तर-पश्चिमी रेलवे के कर्मचारियों की हड़ताल का 'चरित्र सुनियोजित रूप से बोल्शेविक था।' यद्यपि इस देश में समाजवादी क्रांति की एक भी पूर्वशर्त मौजूद न थी, तथा भारतीय क्रांतिकारियों का अभी विशाल बहुमत वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धांतों को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था, ब्रिटिश अधिकारी भारत में बोल्शेविक खतरे की वास्तविकता को सिद्ध करने की जी-तोड़ कोशिशें कर रहे थे।

इसका कारण केवल यही नहीं हो सकता था कि भारतीय समाज पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव अत्यंत प्रबल था। भारतीय असैनिक सेवा—सर्वव्याप्त एवं सर्वज्ञाता औपनिवेशिक प्रशासन—का प्रत्यक्ष हित भी था कि वह भारतीयों को काबू कर पाने की उसकी असमर्थता से क्षुब्ध लंदन में बैठे हुए अधिकारियों के समक्ष अपनी लाज बचा सके। इसी से औपनिवेशिक अधिकारियों को तथा स्वयं लंदन को न केवल भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के बल्कि उस देश के भीतर उभरे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के उग्रपंथी रूपों के विदेश में जन्म होने के संकेत देने का अवसर मिला।

एक तरह से इस तर्क पर पूंजीवादी इतिहासकार आज भी क़ायम हैं। आधुनिक भारत की दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी पार्टी—स्वतंत्र पार्टी—के महासचिव एम० आर० मसानी ने उस काल के बारे में अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में लिखा: "बीस के दशक के शुरू में भारत का बौद्धिक एवं भावात्मक वातावरण कम्युनिज्म के विचारों के प्रति ग्रहणशील था।"[1] ग्रहणशील तो वह निश्चित रूप से था, किंतु देखना यह चाहिए कि बोल्शेविकों के किन विचारों के प्रति यह स्थिति वास्तव में थी? यह आकर्षण खासकर राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार से संबंधित उस नारे के प्रति था जिसे कि बोल्शेविक कार्य रूप देने में लगे थे।

स्वाभाविक तौर पर, मैं भारत पर अक्तूबर क्रांति के विचारों के प्रभाव को कम करके आँकना नहीं चाहता। मैं जो कहना चाहता हूँ वह यह कि अक्तूबर क्रांति के पहले दो-एक वर्षों में उसका प्रभाव मूलतः भारतीय समाज की राष्ट्रीय मुक्ति प्रवृत्तियों के उग्रपंथीकरण के रूप में व्यक्त हुआ, तथा कम्युनिस्ट प्रवृत्तियाँ और भी बाद में व्यक्त होने लगीं। भारतीय क्रांतिकारी जनवाद के प्रखरतम प्रवर्तकों को कम्युनिज्म के सिद्धांतों—कम-से-कम उन आद्य रूपों में—को ग्रहण करने में समय लगा, जबकि 'राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार' संबंधी लेनिन के नारे में निहित विचार उस भूमि पर गिरा जो भारत के लंबे अरसे से तैयार थी। इसे भारतीय क्रांतिकारियों के संगठित-असंगठित समूहों के सोवियत गणराज्य में आकर बसने में भी बहुत स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

---

1. एम० आर० मसानी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी···, पृ० 20

इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि वामपंथी भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी, जो अक्तूबर क्रांति की छवि को गौर से देख रहे थे, उसके सामाजिक लक्षणों तथा सामाजिक सार-वस्तु को देखने-समझने में पूरी तरह से विफल रहे। सामाजिक समानता एवं न्याय, अंतर्राष्ट्रीय एकजुटता, जन-समूहों के संगठन तथा सामंत-विरोधी किसान क्रांति के विचारों से सहमत थे किंतु इनकी व्याख्या अपने कल्पना-लोकीय, निम्न-पूंजीवादी तथा क्रांतिकारी-राष्ट्रवादी तरीके से करते थे। अतः वे अक्तूबर क्रांति के विचारों, तथा उसके द्वारा किये गए कार्य की व्यापकता को भारतीय वास्तविकताओं तथा ब्रिटिश प्रभुत्व के अंत की आवश्यकताओं की रोशनी में देखते थे।

सोवियत रूस में सैकड़ों भारतीय क्रांतिकारियों का उत्प्रवास आंदोलन भारतीय समाज पर अक्तूबर क्रांति के जोरदार प्रभाव की अत्यंत स्पष्ट अभि-व्यक्ति था।

तथापि आज के बहुत से पूंजीवादी इतिहासकार अक्तूबर क्रांति के अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व को कम करके आंकने व दिखाने के प्रयास करते हैं तथा अनंत चालबाजियों के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि भारत पर इसका प्रभाव नगण्य एवं सतही था। भारतीय इतिहासकार जयंतानुज बंद्योपाध्याय—जादवपुर विश्वविद्यालय के अंतर्राष्ट्रीय संबंध विभाग में 'रीडर'—की पुस्तक इसका एक उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह भारतीय राष्ट्रवाद का गुणगान करते हैं तथा कम्युनिज्म को भारत के लिए पूर्णतया विदेशी तथा अस्वीकार्य सिद्धांत घोषित करते हैं।

उनका मानना है कि "रूसी क्रांति ने भारत के भीतर एक छोटी-सी तरंग से अधिक कुछ भी पैदा नहीं किया।"[1] इस तर्क को, सार रूप में बहुत से पूंजीवादी इतिहासकारों ने प्रस्तुत किया है। लेकिन यह आधारित किस चीज पर है?

डेविड ड्रहे, जॉन हेय कॉक्स, जीन ओवरस्ट्रीट तथा मार्शल विंडमिलर जैसे अमरीकी इतिहासकार भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर अक्तूबर क्रांति के वैचारिक प्रभाव को नकारते हुए उन सभी घटनाओं को—जो इस प्रकार के प्रभाव को प्रदर्शित करती हैं—मास्को के पैसे पर पलने वाले कामिंटर्न के एजेंटों का काम कहकर खारिज कर देते हैं।

दूसरी ओर, बंद्योपाध्याय का मत है कि अक्तूबर क्रांति का भारत में स्वागत मात्र मुट्ठी भर मुस्लिमों ने किया था जो अल्पसंख्यक होने के साथ-साथ भारतीय

---

1. जे० बंद्योपाध्याय, भारतीय राष्ट्रवाद बनाम अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका, कलकत्ता 1966, पृ० 14

समाज के अग्रवर्ग पिछड़े हुए, अज्ञानग्रस्त कट्टर धार्मिक हिस्सा हैं। बंद्योपाध्याय लिखते हैं कि रूसी क्रांति ने जाहिरा तौर पर अपनी सार-वस्तु तथा प्राथमिकताओं के कारण भारतीय मुस्लिमों के कुछ वर्गों पर ही अपना प्रभाव डाला,[1] हिंदुओं में यह प्रभाव एकदम नहीं था।

दरअसल लेखक ने बोल्शेविकवाद के प्रति मुस्लिमों के प्रेम का कारण इस्लाम व समाजवाद के सिद्धांतों के सादृश्य को बताया न कि बोल्शेविक आकांक्षाओं की अपील को। इस्लाम के अध्येताओं के संदर्भ देकर बंद्योपाध्याय यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि कुरान उन्हीं सिद्धांतों का उद्घोष करती है जिन्हें तदनंतर कम्युनिस्टों ने उससे उधार ले लिया है। उन्होंने अपने तर्क प्रस्तुत करने से पूर्व दो और बिंदुओं को सामने रखा : सोवियत सरकार का मुस्लिमों के प्रति विशेष रूप से दोस्ताना रुख तथा सोवियतों द्वारा राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की वास्तविक क्रियान्विति। इन अंतिम दो बिन्दुओं के बारे में एक बात के अलावा सब कुछ ठीक है। सोवियत सरकार का पूरब के समस्त जनगणों के प्रति रुख सदा से दोस्ताना रहा है तथा वह उनकी धार्मिक संवेदनाओं पर कभी भी आधारित नहीं रहा है।

समाजवाद तथा इस्लाम के वैचारिक सादृश्य का तर्क—जिसे पूंजीवादी इतिहासकार अपनी स्वार्थपरक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इन दिनों खूब प्रस्तुत कर रहे हैं, और वह भी मात्र इसलिए कि इस्लाम में समतावाद के कुछ तत्त्व निहित हैं (यूं तो वे हर धर्म में निहित हैं)—एकदम निराधार है तथा इसके विस्तृत खंडन की कतई जरूरत नहीं है।[2] समाजवाद के प्रति मुस्लिमों के इस संदर्भ पर आधारित रुझान को न केवल सोवियत रूस में उत्प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों के अभिलेख ही ग़लत सिद्ध करते हैं बल्कि पूरब के अन्य गैर-मुस्लिम देशों के उत्प्रवासियों के अभिलेख भी ग़लत सिद्ध करते हैं।

समूची दुनिया से उत्पीड़ित जनगणों के प्रतिनिधि सोवियत रूस इसलिए आ रहे थे कि वे अपनी आँखों से अक्तूबर क्रांति की भूमि को देखना चाहते थे जो अब राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के महान विचार को व्यावहारिक रूप दे रहा था तथा पूरब के उत्पीड़ित जनगणों को स्वाधीनता व स्वतंत्रता के उनके संघर्ष

---

1. जे० बंद्योपाध्याय, भारतीय राष्ट्रवाद बनाम अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका, कलकत्ता, 1966, पृ० 128
2. वही, पृ० 136
3. इस्लाम की इस समाजवादी व्याख्या के अर्थ तथा उद्भव के लिए अधिक जानकारी के लिए उक्त पुस्तक का दूसरा अध्याय देखें।

में सहायता कर रहा था। वे रूसी क्रांतिकारी विकास क्रम का अध्ययन करने के लिए भी वहाँ आ रहे थे ताकि उपनिवेशवाद के अभिशाप से अपने जनगणों को बचाने के लिए उसका उपयोग कर सकें।

पूरब के क्रांतिकारियों की सोवियत रूस यात्रा के अर्थ को चीनी क्रांतिकारी जनवादी क्यू चिबे—जो चीनी कम्युनिस्ट आंदोलन के अग्रगामियों में से थे—ने अत्यंत सटीक ढंग से प्रस्तुत किया। मार्च 1920 में उन्होंने लिखा कि रूसी क्रांति ने "समूची दुनिया में हलचल मचा दी तथा सभी देशों में विचारों के विकास को प्रभावित किया। हर व्यक्ति क्रांति की सारवस्तु को ग्रहण करने तथा रूस की संस्कृति के बारे में निकट अंतर्दृष्टि प्राप्त करने को उत्सुक था—यही कारण था कि समस्त मानवता का ध्यान रूस पर टिका था।" चीन में भी यही हो रहा था। उन्होंने रेखांकित किया कि "हमारे देश में भी प्रत्येक व्यक्ति की रूस में दिलचस्पी थी।"[1] क्यू चिबे उनमें से थे जो क्रांतिकारी की लगन के साथ अक्तूबर क्रांति को वास्तविकता बनाने वाले देश को जानने-समझने का प्रयास कर रहे थे। तदनंतर (1921 में) उन्होंने लिखा : "रूस जाने का मेरा निर्णय अटल था, मुझे इस बात की परवाह नहीं कि यह कैसे होगा : यदि मैं एक संवाददाता के रूप में वहाँ जाने में असमर्थ होता तो मैं कठिनाइयों की परवाह किये बिना अन्य किसी हैसियत से वहाँ जाने के लिए छोर डालता।"[2] इन शब्दों में न केवल चीनियों की, बल्कि पूरब के समस्त क्रांतिकारी तत्वों की आकांक्षाएँ व्यक्त होती हैं।

1920 में सोवियत रूस पहुँचने वाले चीनी क्रांतिकारियों में क्यू चिबो प्रथम थे जिन्होंने कि उनके सह-चिंतकों की सावधिक मास्को यात्राओं का मार्ग प्रशस्त किया। क्यू चिबे ने अपने आगमन का उद्देश्य इस प्रकार परिभाषित किया : "सिद्धांत एवं कठोर तथ्यों के व्यवस्थित अध्ययन को स्वयं को पूरी तरह समर्पित कर देने के लिए'''कम्युनिज्म, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के इतिहास तथा रूसी संस्कृति का अध्ययन करने के लिए।"[3] यह हकीकत है कि समूचे एशिया से सोवियत रूस पहुँचने वाले सैकड़ों क्रांतिकारी न केवल यह देखना चाहते थे कि सोवियत सरकार वास्तव में कैसे काम कर रही थी बल्कि उस सिद्धांत का अध्ययन भी करना चाहते थे जो अक्तूबर क्रांति तथा नये किस्म के समाज के निर्माण का ज्ञान संजोए थी।

रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति तथा कामिंटर्न ने उन्हें

---

1. क्यू चिबे, 'निबंध एवं लेख', नाऊका प्रकाशन मास्को, 1959, पृ० 89 (रूसी संस्करण)
2. वही, पृ० 45
3. वही, पृ० 51

इस तरह का अवसर प्रदान किया। न केवल सोवियत पूरब के पार्टी कार्यकर्त्ताओं, बल्कि एशियाई देशों से आये हुए क्रांतिकारियों को प्रशिक्षित करने के लिए 1920 के दिनों में ही बाकू व ताशकंद में, तथा राष्ट्रीयताओं के जन-मंत्रालय के तत्त्वावधान में मास्को में पाठ्यक्रम शिविर आयोजित किए गये। 1921 में पूरब के कामगारों के कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। उस वर्ष के अन्त तक इसमें विद्यार्थियों की संख्या 622 हो गई थी। अगले वर्ष यह संख्या बढ़कर 133, तथा 1924 के शुरू में 1015 हो गयी थी। इन विद्यार्थियों में से लगभग एक-तिहाई उत्पीड़ित पूरब—भारतीय, चीनी, कोरियाई, पर्शियाई, तुर्क, अरब, आदि—के थे।[1]

समाजवाद के प्रति मुस्लिमों के पूर्वाग्रह का तर्क अत्यन्त प्रामाणिक रूप से इस तथ्य से भी कटता है कि पूरबी राष्ट्रीयता के हज़ारों लोग—जिनका इस्लाम धर्म से कोई वास्ता नहीं था—जिनमें चीनी व कोरियाई शामिल थे, सोवियत सरकार की रक्षा के लिए गृह-युद्ध में लड़े थे।

कहने का अर्थ यह है कि सोवियत रूस में भारतीय क्रांतिकारियों के आने वाले प्रवाह में विचित्र अथवा असाधारण कुछ नहीं था।

सोवियत रूस में संगठित उत्प्रवासी

अक्तूबर क्रांति के विस्मयकारी वेग के साथ समाचार दूर-दराज़ भारत तक पहुँच गये तथा सोवियत रूस में आरंभिक उत्प्रवास की शक्ल में वहाँ के लोगों की अनुक्रिया भी व्यक्त हो गई। 1918 से 1920 तक जो भारतीय सीमा पार करके सोवियत गणराज्य में प्रवेश कर रहे थे वे निरपवाद रूप से ब्रिटिश उत्पीड़न से राष्ट्रीय मुक्ति के एक मात्र विचार से अनुप्राणित थे। सोवियत अधिकारियों की ओर वे इस प्रश्न के उत्तर के लिए देख रहे थे कि क्रांति कैसे की जानी है, तथा क्रांति करने के लिए वे व्यावहारिक सहायता प्राप्त करना भी चाहते थे। इस तरह के लोग बाद के महीनों तथा वर्षों में वहाँ निरंतर पहुँचते रहे, किन्तु यह 1920 के मध्य में ही हुआ कि भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी जनवादी, जिनमें से कुछ मार्क्स-वाद-लेनिनवाद के सिद्धान्तों को भी अंगीकार करने लगे थे, भी सोवियत गणराज्य पहुँचने लगे।

सोवियत रूस में बड़ी संख्या में भारतीयों के उत्प्रवास ने भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की सर्वाधिक क्रांतिकारी शक्तियों की उस जनगण के साथ सहयोग की आकांक्षा को व्यक्त किया जोकि सामाजिक समस्याओं के क्रांतिकारी समा-

---

1. देखें : एन० एन० तिमोफ़ेयेवा, 'पूरब के कामगारों का कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय'।

धान का उदाहरण प्रस्तुत कर चुके थे। यह स्वयं सिद्ध है, जैसाकि लेनिन ने कहा था, कि "पूरब के जनगणों का यह क्रांतिकारी आंदोलन अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद के खिलाफ हमारे—सोवियत गणराज्य के—क्रांतिकारी आंदोलन के साथ सीधे जुड़कर ही कारगर रूप से विकसित हो सकता है।"[1] भारतीय क्रांतिकारी अपने तरीके से उक्त विचार के निकट आ रहे थे—कभी सोच-विचार कर तथा कभी स्वत स्फूर्त ढग से, किन्तु उन्होंने इसे काफी तेजी से व जल्दी ही स्वीकार कर लिया।

काबुल मे स्थापित तथाकथित भारत की अस्थायी सरकार भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियो का वह पहला संगठित समूह था जो सोवियत गणराज्य के सपर्क मे आया। 29 नवबर, 1917 को ही इस केंद्र के प्रमुख महेंद्र प्रताप—जो अफगान-सोवियत सीमा पर पहुँच गये थे—ने सोवियत गणराज्य की सरकार के साथ बात-चीत के लिए तुर्किस्तान के अधिकारियों से निवेदन किया। उन्होंने अपने सदेश मे कहा कि उन्होंने रूस की सरकार से दो बार सपर्क करने के प्रयास किये थे जो व्यर्थ गये।

अब जब अक्तूबर क्रांति सपन्न हो गई है, व विजयी रही है, "अतिम बाधा दूर हो गई है, तथा भारत पहुँच रहे ताजा समाचारपत्रों से यह जानकर मुझे अपार प्रसन्नता हुई है कि अब रूसी सरकार का नेतृत्व रूस के गरिमायुक्त बेटे कर रहे हैं। अंग्रेज उन्हे गद्दारो के रूप मे चित्रित कर रहे हैं किन्तु हकीकत यह है कि वे मानवता के सच्चे मित्र है···।" उन्होंने आगे कहा कि वह "रूस एवं भारत के बीच घनिष्ठ मैत्रीपूर्ण सबध देखने को उत्सुक थे क्योंकि **हमारा विश्वास है कि रूस एवं भारत की भागीदारी ही भारत को वास्तविक मुक्ति को तथा विश्व में सतुलन कायम किये जाने को संभव बना सकेगी।"**[2]

सोवियत रूस ने भारतीय क्रांतिकारियो का गर्मजोशी के साथ स्वागत किया। प्रताप ने बाद में (दिसंबर 1921 मे) लिखा कि वह फरवरी 1918 मे ही तुर्किस्तान के अधिकारियों के निमंत्रण पर ताशकद पहुँच गये थे तथा वहां से पेत्रोग्राद के लिए रवाना हो गये थे जहाँ सोवियत सरकार के उच्च पदो पर आसीन प्रतिनिधियों ने उनका स्वागत किया।[3] तब से लेकर 1919, 1920 तथा 1921

1. वी० आई० लेनिन, पूरब के जनगणों के कम्युनिस्ट सगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस मे भाषण—22 नवंबर, 1919 को। सकलित रचनाएँ, खड 30, 1977, पृ० 151
2. केंद्रीय राज्य सैन्य इतिहास अभिलेखागार, अनुभाग 1396, रजिस्टर 6, फाइल 234, पृ० 131, 132
3. पेत्रोग्राद की अपनी यात्रा के बाद प्रताप बर्लिन के लिए रवाना हो गये।

के दौरान भारत की अस्थायी सरकार के कुछ प्रतिनिधियों ने सोवियत रूस के विभिन्न शहरों व क्षेत्रों—किन्तु प्रमुखतया ताशकंद, बुखारा, मास्को तथा कभी-कभी कज़ान में—सबसे समय तक रहकर काम किया।

भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों, जो अफ़ग़ान अमीर—जिसने उन्हें वर्षों तक अफ़ग़ानिस्तान की राजधानी में रहने की अनुमति प्रदान की थी—के साथ अपने संबंधों पर भरोसा करते थे, ने सोवियत गणराज्य तथा अफ़ग़ानिस्तान के बीच मैत्री-पूर्ण संबंध स्थापित करने में सहायता करके सोवियत राजनय के पल्लवित होने की दिशा में प्रयास किये। यह भारत को मुक्त करने तथा उस लक्ष्य की दिशा में साम्राज्यवाद विरोधी अफ़ग़ान-सोवियत संधि क़ायम कराने की उनकी योजनाओं के पूर्णतया अनुरूप था। इस दृष्टि से मोहम्मद बरक़त उल्लाह—जो 1919 के शुरू में[1] काबुल से ताशकंद पहुँच गये थे—तथा महेंद्र प्रताप सबसे अधिक सक्रिय थे।

---

1. बरकत उल्लाह के आगमन की तिथि के बारे में स्पष्टीकरण ज़रूरी है। स्वयं बरकत उल्लाह ने घोषित किया कि 'मार्च 1919 में हबीबुल्ला की हत्या के बाद तथा अमानुल्ला, जिसे अंग्रेज़ों से घृणा थी, के गद्दी पर बैठने के बाद मुझे—नये अमीर के सर्वाधिक विश्वासपात्र प्रतिनिधियों में एक—विशेष राजदूत के रूप में मास्को भेजा गया, सोवियत सरकार के साथ स्थायी संबंध स्थापित करने के लिए' (देखें: इज़वेस्तिया, 9 मई 1919, पृ० 1)। हबीबुल्ला की हत्या 21 फरवरी को हुई तथा अमानुल्ला मार्च के शुरू के दिनों में गद्दी पर बैठे। उसके बाद यदि बरकत उल्लाह को मास्को के लिए तत्काल भी रवाना कर दिया गया हो तो भी वह मार्च के मध्य में या उसके भी कुछ बाद ताशकंद पहुँच सकते थे तथा अप्रैल के मध्य से पूर्व मास्को नहीं पहुँच सकते थे। ए०एन० हीफ़ित्स का मत है कि बरक़त उल्लाह एक अफ़ग़ान मिशन के साथ 'जनवरी 1919 तक' सोवियत रूस पहुँच गये थे (ए० एन० हीफ़ित्स, 'सोवियत रूस तथा पड़ोसी पूरबी राज्य—1918-1920, नाऊका प्रकाशन, मास्को, 1964, पृ० 271-272, रूसी में)। जब कि जी० एल० दमित्रिएव लिखते हैं कि बरक़त उल्लाह फरवरी में ही ताशकंद में थे (जी० एल० दमित्रिएव, 'मध्य एशिया में भारतीय क्रांतिकारी संगठनों के इतिहास से', ताशकंद राज्य विश्वविद्यालय पत्रिका, अंक 314, ताशकंद विश्वविद्यालय प्रेस, ताशकंद, 1967, पृ० 54, रूसी में)। ए० एन० हीफ़ित्स तथा जी० एल० दमित्रिएव के विचार युवा-बुखारा पार्टी की ताशकंद स्थित क्रांतिकारी समिति की 27 जनवरी, 1919 की उस रिपोर्ट को पुष्ट करते लगते हैं जिसमें कहा गया था कि 'कासिम्बे (तुर्की की सरकार के) तथा

मोहम्मद बरकत उल्लाह—मुस्लिम लीग तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य, दर्शन एवं साहित्य के प्रोफेसर, गदर पार्टी के भूतपूर्व नेता, कुछ समय बाद तक भारतीय क्रांतिकारियों की बर्लिन समिति के सदस्य, भारत की अस्थायी सरकार (निर्वासित) के प्रधान मंत्री—ने सोवियत रूस में अफगानिस्तान के गैर सरकारी प्रतिनिधि की हैसियत से भी प्रवास किया। 7 मई, 1919 को लेनिन ने उनका स्वागत किया। इसके तत्काल बाद ही बरकत उल्लाह ने विदेशी मामलों के जन-मंत्रालय को एक विशेष पत्र लिखकर सूचित किया कि अफगानिस्तान सोवियत गणराज्य के साथ रक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक संधि पर हस्ताक्षर करने को तैयार है।[1]

उस समय—मई 1919 के शुरू में—महेंद्र प्रताप जर्मनी में थे, जहाँ वे कुछ समय पूर्व ही पेत्रोग्राद से पहुँचे थे। जब उन्होंने 3 मई को आंग्ल-अफगान युद्ध छिड़ने का समाचार सुना तो उन्होंने मास्को यात्रा के बाद अफ़ग़ानिस्तान पहुँचने का मानस बनाया। उन्हें यह उम्मीद थी, जैसा कि उन्होंने अपने निर्णय की व्याख्या करते हुए लिखा कि "लंबे समय से वांछित इस अवसर पर मैं भारत में बसने वाले लाखों लोगों की कुछ ठोस सेवा करने में समर्थ हो सकूँगा।"[2]

बरकत उल्लाह, जो महान विद्वान हैं, (हिंदुस्तान के) के नेतृत्व में 6 प्रतिनिधि अफ़गानिस्तान से बुखारा आये हैं, बुखारा सरकार तथा सोवियत अधिकारियों को एकताबद्ध करने के लिए तथा अंग्रेजों द्वारा हमले की स्थिति में अवरोध प्रस्तुत करने के लिए…' (उज्बेक सोवियत समाजवादी गणराज्य का पार्टी अभिलेखागार, अनुभाग 60, रजिस्टर 1, फ़ाइल 258, पृ० 5)। शायद 'महान विद्वान' बरकत उल्लाह तभी पलट से पूर्व ही काबुल छोड़ चुके थे तथा मास्को के साथ बातचीत करने के लिए नये अमीर की ओर से हरी झंडी का संकेत उन्हें तब मिला जबकि मास्को की ओर बढ़ रहे थे।

1. देखें : ए० एन० हीफ़िरम, 'लेनिनवादी विदेश नीति तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन', एशियाई एवं अफ्रीकी जनगण, अंक 2, 1970, पृ० 51 (रूसी में)
2. देखें : रूसी गणराज्य की सरकार को महेंद्र प्रताप का दिसंबर 1921 का पत्र, 'सोवियत रूस एवं भारत के हित में लिखे गये चंद शब्द' (क पा अ, मा-ले स)

जुलाई में[1] महेंद्र प्रताप अब्दुल रब्ब बर्क तथा प्रतिवादी आचार्य के साथ पुनः मास्को पहुँचे। इस संबंध में उन्होंने निम्नलिखित सूचना दी : "मास्को में हमारा स्वागत मेरे आदरणीय मित्र मोहम्मद बरकत उल्लाह ने किया, हमारी खातिरदारी विदेश मंत्रालय ने की, तथा उस महान व्यक्तित्व—कामरेड लेनिन—ने हमारी अगवानी की।"[2] (क पा अ, मा-ले सं)।

अपनी मास्को यात्रा के दौरान प्रताप भारत पर सोवियत अफ़ग़ान प्रयाण संगठित करने को मुख्य रूप से उत्सुक रहे होंगे ताकि भारत को मुक्त कराया जा सके। "मैंने सोचा कि जर्मन लोग जो नहीं कर पाए अब वह सोवियत रूस तथा अफ़ग़ानिस्तान (जिसने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी) द्वारा कर दिया जाएगा। मानवता के पाँचवें हिस्से की स्वतंत्रता बहुत निकट दिख रही थी।" (क पा अ, मा-ले सं)।

अपने मास्को वार्तालाप के दौरान प्रताप जो एक और चीज प्राप्त करना चाहते थे वह थी विदेशी मामलों के जन-मंत्रालय द्वारा उनकी काबुल स्थित 'सरकार' को सरकारी मान्यता तथा उनका यह विश्वास था कि उनकी अगवानी भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति की हैसियत से की जाएगी। किंतु स्वाभाविक ही

---

1. संभवतया जुलाई 1919 के शुरू में। दिसंबर 1921 के अपने उसी पत्र में महेंद्र प्रताप ने लिखा कि वह 1919 की गर्मी में मास्को आ गये थे। बरकत उल्लाह ने अपने लिखित प्रतिवेदन में जो दिसंबर 1921 में ही तैयार हुआ था प्रताप के आगमन की तिथि को निर्दिष्ट किया था। उन्होंने यह सूचना दी कि महेंद्र प्रताप, अब्दुर रब्ब बर्क तथा प्रतिवादी आचार्य को बर्लिन के एक चौथे क्रांतिकारी—दलीपसिंह गिल—ने पीछे छोड़ दिया था। वह आगे निकलकर जून 1919 में मास्को पहुँचे जबकि प्रताप व उनके साथी वहाँ दो-तीन सप्ताह बाद पहुँचे।
2. दुर्भाग्य से इस मुलाकात की सही तिथि ज्ञात नहीं है किन्तु संभावनाएं इस बात की हैं कि प्रताप के नेतृत्व में भारतीय क्रांतिकारियों का शिष्टमंडल—जिसमें अब्दुर रब्ब बर्क, प्रतिवादी आचार्य, दलीप सिंह गिल, मोहम्मद बरकत उल्लाह तथा पंजाब का एक किसान इब्राहिम सम्मिलित थे—की महेंद्र प्रताप के मास्को आगमन के तुरंत बाद लेनिन ने अगवानी की थी। इसका अर्थ है जुलाई में। स्वाभाविक है कि 7 मई की तारीख जो कि कुछ प्रकाशनों में मिलती है (खासकर इस लेखक की एक पुस्तक में भी—देखें : कॉमिंटर्न और पूरब, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981, पृ० 55) का संबंध लेनिन की बरकत उल्लाह के साथ मुलाकात से ही संबंधित है क्योंकि उस समय तक मास्को में अन्य भारतीय उपस्थित नहीं थे।

था कि सोवियत अधिकारी काबुल स्थित भारत की अस्थायी सरकार को मान्यता नहीं दे सके तथा उन्हें भारत की क्रांतिकारी ताकतों का एकमात्र नेता नहीं मान सके।

प्रताप के पत्र का उत्तर देते हुए, विदेशी मामलों के जन-मंत्रालय ने अपनी स्थिति इन शब्दों में स्पष्ट की : एक तो सरकार का गठन भारतीय क्षेत्र में नहीं किया गया था तथा यह वहाँ अस्तित्वमान नहीं थी, दूसरे इसने अपने गठन की अधिकृत सरकारी घोषणा नहीं की थी तथा तीसरे, इसे क्रांतिकारी मत के विभिन्न अनुभागों का व्यापक समर्थन प्राप्त नहीं था। मेरी समझ यह है कि विदेशी मामलों के जन-मंत्रालय के उत्तर को सोवियत सरकार द्वारा "ऐसी किसी भी भारतीय अस्थायी सरकार को वैध रूप में मान्यता देने की तैयारी के रूप में देखा जाना चाहिए जोकि भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा भारतीय क्षेत्र में गठित की जाए तथा जिसे समस्त क्रांतिकारी ताकतों का समर्थन प्राप्त हो तथा जिसके गठन की घोषणा की जाए।"[1] इसके अलावा मास्को द्वारा प्रताप की सरकार को मान्यता दिया जाना भारत स्थित तथा बाहर बसे बहुत से भारतीय क्रांतिकारी समूहों के प्रति असम्मान का कार्य माना जाता क्योंकि उनमें से किसी ने भी काबुल केन्द्र को अपने प्रतिनिधि सगठन के रूप में नहीं चुना था।[2]

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि काबुल केन्द्र से जुड़े हुए भारतीय क्रांतिकारी अभी तक षड्यन्त्रकारी सिद्धांतों के संदर्भ में ही अपनी कार्यनीति निर्मित कर रहे थे, आम जनता के बीच क्रांतिकारी कार्य करने की आवश्यकता की अवहेलना कर रहे थे तथा उनका यह दृढ़ विश्वास था कि पड़ोसी राज्यों की सेनाओं द्वारा भारत पर आक्रमण के प्रमुख माध्यम को अपनाकर ही ब्रिटिश उपनिवेशवादियों से उसे मुक्त किया जा सकता था। सोवियत सरकार के लिए इस दृष्टिकोण से सहमत होना संभव नहीं था। लेनिन ने इस बात पर जोर दिया कि राष्ट्रीय क्रांति—जिसमें आम जनता की बड़े पैमाने पर तथा आत्म-उत्सर्ग करने की तैयारी से युक्त भागीदारी—ही विजयी हो सकती थी। इस सबके बावजूद, काबुल केन्द्र सोवियत सरकारी मान्यता के लिए जी-तोड़ कोशिश करता रहा।

प्रवासी सरकार का एक विशेष मिशन—जिसमें मोहम्मद अली, सहायक

---

1. जी० एल० दमित्रिएव की 'मध्य एशिया में भारतीय क्रांतिकारी सगठनों के इतिहास' से उद्धृत, पृ० 54
2. अफगानिस्तान में सोवियत पूर्णाधिकारी (दूत), या० ज० सुरित्स ने 11 फरवरी, 1920 को तुर्किस्तान कमीशन, ताशकंद को लिखा कि भारत की अस्थायी सरकार उनके समक्ष यह सिद्ध करने की कोशिश कर रही थी कि उसे भारतीय क्रांति के एकछत्र नेतृत्व का अधिकार प्राप्त था।

गृहमंत्री तथा मोहम्मद शफ़ीक़ (इसी मंत्रालय में सचिव) सम्मिलित थे—31
1920[1] को ताशकंद पहुँचा। इब्राहिम एवं अब्दुल मजीद इसमें बाद में सम्मि
हुए। इन लोगों को, जिनके नेता बरकत उल्लाह थे, *आम तौर से अस्थायी सर
समूह कहा जाता था।* (क पा अ, मा-ले सं)।

अली तथा शफ़ीक़ ने विभिन्न सोवियत निकायों को लिखा तथा उनके सं
व रिपोर्टों में काबुल केन्द्र की स्थापना के इतिहास का विवेचन, उसकी रचना
कार्यों का वर्णन तथा उसके चरम लक्ष्यों को परिभाषित किया गया था। अ
रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के *तुर्किस्तान कमीशन* को *1920* की अ
के पहले पखवाड़े में भेजे अपने पत्र में, मोहम्मद अली ने दो निवेदन किये थे—
तो, "भारत की साझी मुक्ति में हमारे सहयोग की स्वीकृति के लिए" (यह निवे
भारत की मुक्ति के लिए विदेशी सहायता पर निर्भरता की प्रवृत्ति को ही प्रद
करता है) तथा दूसरी *"तुर्किस्तान कमीशन द्वारा हमारी अस्थायी सरकार
मान्यता प्राप्त प्रदान करने के लिए।"* (क पा अ, मा-ले सं)।

इसके अलावा प्रश्न-उत्तरों की शैली में भी एक रिपोर्ट तैयार की गयी
कदाचित इसका महत्त्व सबसे ज्यादा है क्योंकि इसमें भारतीय क्रांतिकारियो
उक्त विशिष्ट समूह की 1920 तक की मान्यताओं-दृष्टिकोणों के सार-तत्त्व
विस्तृत विवरण निहित था। एक अन्य दस्तावेज़ में अली व शफ़ीक़ ने सूचना
*कि अफ़ग़ानिस्तान में सोवियत पूर्णाधिकारी (दूत) या० ज़० सूरित्स ने काबुल
उनके समक्ष अत्यंत प्रासंगिक प्रश्न उठाये थे।*[2] *10 अप्रैल, 1920* का उ
दस्तावेज़ भी तुर्किस्तान कमीशन को भेजा गया था। एक प्रश्न यह था : "अस्था
सरकार का लक्ष्य क्या है?" उत्तर में बताया गया कि "मौजूदा विदेशी सरका
के स्थान पर भारत में स्वदेशी सरकार की स्थापना करना लक्ष्य था। अस्था
सरकार इस अर्थ में भंग हो जाएगी कि वह भारत की दो सुपरिचित प्रातिनिधि
*संस्थाओं—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा अखिल भारतीय मुस्लिम लीग—द्वार
मुक्ति एवं निर्मित भारत की राजनीतिक संरचना को अपना पद सौंप देगी।"*

इसके पश्चात रिपोर्ट के लेखकों ने उन तरीकों को विस्तार से परिभाषि
किया जिनके माध्यम से उक्त लक्ष्य को प्राप्त करने की योजना को उन्होंने अभि
रूप दिया था : "अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमने निम्नलिखित कार्य-
नीति को स्वीकार किया है :

---

1. भारत की अस्थायी सरकार द्वारा 18 जुलाई, 1920 को सोवियत अधि-
   कारियों को प्रेषित सरकारी ज्ञापन की भूमिका।
2. अक्टूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग-5402, रजिस्टर-1
   ——— 106 ——4

1. विदेशी दासता से भारत की मुक्ति के लिए विदेशी सरकारों की सहानुभूति तथा नैतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयास करना।
2. निम्नलिखित के मध्य क्रांतिकारी प्रचार का फैलाव करना :
   (अ) भारत के राजाओं तथा मुखियाओं के बीच, उन्हें हमारे उद्देश्य के साथ जुड़ने के लिए निमन्त्रित करके,
   (ब) जनमत के नेताओं तथा उद्योगों के संचालकों के बीच, तथा
   (स) भारतीय सिपाहियों के बीच, किसी भी विदेशी ताकत के खिलाफ़ न लड़ने के लिए उन्हें मना कर।
3. क्रांतिकारी शक्तियों को देने की दृष्टि से हथियार तथा गोला-बारूद प्राप्त करना तथा आपात-स्थितियों—स्वाधीनता के आम युद्ध—के लिए उनके भंडार बनाना।[1]

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय क्रांतिकारी अभी भी मज़दूर वर्ग तथा किसानों को उन लोगों में शामिल नहीं कर रहे थे जिनके मध्य क्रांतिकारी प्रचार-कार्य किया जाना था तथा परिणाम स्वरूप उन्हें मुक्ति संघर्ष को चलाने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इस दस्तावेज़ में जन-विद्रोह अथवा क्रांति का उल्लेख तक नहीं है, 'आपात-स्थितियों की स्वाधीनता के आम युद्ध' से परे किसी अन्य तरीक़े अथवा उद्देश्य का उल्लेख नहीं है। स्वाभाविक है कि यह आकस्मिक भूल नहीं थी। मुख्य निर्भरता, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, विदेशी सेना द्वारा किये जाने वाले आक्रमण पर थी। दरअसल, यही कारण है कि दूसरे पैराग्राफ़ की 'स' बिंदु सैनिकों को भारत को मुक्त कराने वाली विदेशी सेना से—जोकि हथियारों का इस्तेमाल करके इसे सुनिश्चित करेगी—न लड़ने के लिए मनाने का उल्लेख करता है। मुक्त कराने वाली शक्ति ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को देश के बाहर खदेड़ते ही अस्थायी सरकार को सत्ता सौंप देगी। किंतु उस सरकार के लिए देश के संचालन को संगठित करने को आसान बनाने के लिए, इस अवस्था में भी यह ज़रूरी था कि ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन की सेवा में संलग्न भारतीय समाज के सबसे ऊपर के तबके को अपनी ओर किया जाए।

उपरोक्त कुछेक पंक्तियों से ही इस बात का स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि वह कौन सी बाहरी शक्ति थी जिस पर भारतीय क्रांतिकारियों के काबुल समूह को भरोसा था। रिपोर्ट का शेष पाठ इसे पुष्ट एवं सिद्ध ही करता है। इस प्रश्न

[1] 'भारतीय क्रांतिकारी समिति के इतिहास का संक्षिप्त विवरण', (देखें: अक्तूबर क्रांति केन्द्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फ़ाइल 486, पृ० 1-2)

का उत्तर देते हुए कि "अस्थायी सरकार के सोवियत रूस के साथ क्या-क्या संबंध होंगे ?", रिपोर्ट के लेखकों ने स्पष्ट किया : "अस्थायी सरकार वैसे ही संबंध रखने की अपेक्षा करती है जैसे कि बर्लिन की व कोलचक की सरकारों के मित्र राष्ट्रों (एंटेंट) के साथ हैं। कहने का मतलब है कि सोवियत रूस भारत में अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध चलाने में अस्थायी सरकार की आशा के अनुरूप सहायता करेगा।" सोवियत राज्य सत्ता के साम्राज्यवाद विरोधी सार-तत्त्व की ढीली-ढाली व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे कहा कि "अस्थायी सरकार भारत की मुक्ति के कार्यक्रम से संबंधित मसले के क्रियान्वयन में सोवियत रूस के साथ सहयोग करने को तत्पर है।"[1]

काबुल क्रांतिकारियों का निम्नलिखित तर्क-औचित्य रहा होगा। क्योंकि सोवियत सरकार ने न केवल राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की घोषणा की थी, बल्कि वह उत्पीड़ित जनगणों के स्वतंत्रता प्राप्ति के संघर्ष में उन्हें वास्तविक सहायता भी प्रदान कर रही थी, अतः जन-क्रांति के बिना भी काम चलाया जा सकता था तथा भारत से अंग्रेजों के सैन्य निष्कासन की क़ीमत झेलने को रूस को तैयार कराया जा सकता था। रिपोर्ट के इसके बाद के पाठ ने यह एकदम स्पष्ट कर दिया कि अस्थायी सरकार कुछ समय बाद[2] आक्रमण के लिए अपनी फ़ौज खड़ी करना चाहती थी। किंतु संभव है कि राष्ट्र की तात्कालिक मुक्ति में वह फ़ौज से प्रमुख भूमिका अदा करने की अपेक्षा नहीं रखती थी।

अस्थायी सरकार के प्रवक्ताओं के अन्य वक्तव्यों में इस आशय का और अधिक साक्ष्य पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, 11 मई, 1920 को अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के महाधिवेशन को संबोधित करते हुए मोहम्मद शफ़ीक ने "पूरब के समस्त पुत्रों—एशिया के, बुखारा के, रूसियों, तुर्कों तथा अफ़ग़ानों का आह्वान किया कि वे भारत को ब्रिटिश दासता से मुक्त कराने के लिए एकताबद्ध हो जाएँ।"[3] यहाँ उनका आशय भारतीय जन-विद्रोह को सहायता मात्र देना नहीं था बल्कि बाहर से एक मुक्ति प्रयाण संगठित करना ही था। बरकत उल्लाह का भी यही विचार था। मुस्तफ़ा सुभी, तुर्की के आरंभिक कम्युनिस्टों के नेता, ने तो उन्हें उनके उन भाषणों के लिए फटकार भी लगाई थी जिनमें कि उन्होंने तुर्की के भूतपूर्व

---

1. 'भारतीय क्रांतिकारी समिति के इतिहास का संक्षिप्त विवरण', (देखें: अक्तूबर क्रांति केन्द्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फ़ाइल 486, पृ० 1-2)
2. वही
3. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 514, रजिस्टर 1, फ़ाइल 4

युद्धबंदियों को यह समझाया कि "सोवियत अधिकारियों द्वारा संगठित देशी (यानी पूरबी) दस्ते अफ़ग़ानिस्तान, भारत तथा तुर्की को साम्राज्यवादी उत्पीडन से मुक्त करने को चलाये जाने वाले पवित्र युद्ध के लिए तैयार किए गए थे।"[1]

ऊपर जो कुछ भी कहा गया है वह सब भी काबुल स्थित भारतीय क्रांतिकारियों की राजनीतिक दृष्टि का समग्र चित्र प्रस्तुत नहीं करता। इस बात का श्रेय प्रोफ़ेसर बरकत उल्लाह तथा सोवियत रूस में उनके उल्लेखनीय प्रचार कार्य को ही जाता है कि हमें ऐसी विश्वसनीय सामग्री प्राप्त हो पाई है जोकि इस मुद्दे के संबध में घनिष्ठ अंतर्दृष्टि प्राप्त कराने में सहायक हो सकती है।

बरकत उल्लाह ने इस बात को बखूबी समझ लिया था कि पूरब के कई जनगणों—भारत के जनगण इसमें शामिल थे—की अपने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की जीत अथवा हार के लिए गृह-युद्ध में सोवियत व्यवस्था की जीत अथवा हार का बुनियादी महत्त्व था। अतः एक सच्चे क्रांतिकारी के रूप में उन्होंने सोवियत गणराज्य की मुस्लिम आबादी तथा सोवियत क्षेत्र में ठहरे हुए तुर्की युद्धबंदियों के बीच समाचार पत्रों व भाषणों के माध्यम से प्रचार-कार्य करने हेतु सोवियत सरकार को अपनी सेवाएँ प्रस्तुत कर दीं। प्रस्ताव को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर लिया गया।

नरीमन नरीमनोव[2]—जोकि विदेशी मामलों के जन-मंत्रालय के मध्य-पूर्व विभाग के प्रभारी थे—ने 1919 में बताया कि बरकत उल्लाह को एक वरिष्ठ कार्यकर्त्ता इस्माइलोव के साथ वोल्गा क्षेत्र में भेजा, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ उठ खड़े होने के उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्रचार कार्य करने के लिए। पूरब के हालात से मुस्लिमों को परिचित कराना उक्त प्रचार का लक्ष्य था··· मुस्लिमों को संगठित तथा एकताबद्ध कार्यवाही के लिए प्रेरित किया जाना था।"[3]

सितंबर 1919 के अंत में अथवा अक्तूबर की शुरुआत में, बरकत उल्लाह वोल्गा क्षेत्र के शहरों के लंबे प्रचार-दौरे के लिए निकल पड़े, तथा जनवरी 1920

---

1. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 17, रजिस्टर 65, फ़ाइल 399, पृ॰ 12
2. नरीमन नरीमनोव (1870-1925) प्रमुख सोवियत राजनयिक तथा पार्टी कार्यकर्त्ता, पूरब में कामिंटर्न तथा रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के प्रमुख निष्पादक। उनके बारे में और अधिक जानकारी के लिए देखें : एम॰ पी॰ पाव्लोविच, 'स्वाधीनता संग्राम में पूरब', नाउका प्रकाशन, मास्को, 1980, पृ॰ 95-97 ; 'ऐतिहासिक विश्व-ज्ञान कोष', खंड 9, मास्को, 1966, पृ॰ 907 (दोनों रूसी में)
3. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 583, रजिस्टर 1, फ़ाइल 5, पृ॰ 81

के आरंभ में ही मास्को वापस आ पाए।[1] बरकत उल्लाह ने कज़ान, ऊफ़ा, समारा, स्तलिनमाक तथा अन्य बहुत से स्थानों की यात्रा की। 1920 के दूसरे उत्तरार्द्ध में उन्होंने केस्पियन-पार क्षेत्र[2] का ऐसा ही दौरा किया। बरकत उल्लाह ने अधिवेशनों, बैठकों तथा मस्जिदों में जन-समुदाय को संबोधित करते हुए ओजस्वी भाषण दिए तथा मित्र राष्ट्रों व ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लूटपरक नीति का पर्दाफ़ाश किया और मुस्लिमों से सोवियतों की तरफ से गृह-युद्ध में भाग लेने का आग्रह किया। कज़ान में 20 अक्तूबर, 1919 को दिए गए उनके भाषण 'मेरे बंदी तुर्की भाइयों के नाम' का नमूना यहाँ देना उपयुक्त ही होगा : "युद्ध के बहादुर नायको, पवित्र इस्लाम के रक्षको, सहधर्मी भाइयो, मेरे तुर्की भाइयो! दस महीने हो गए जब तुर्की की सरकार को इंग्लैंड, फ्रांस और इटली के साथ युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर करने को मजबूर होना पड़ा था। इस्लाम के दुश्मनों ने अधिकार तथा न्याय पर आधारित शांति का वादा किया था···किंतु दार्दानेलेस पर कब्ज़ा होने के बाद उन्होंने तुर्की पर आधिपत्य जमाना व उसके टुकड़े करना शुरू कर दिया।"

अनातोलिया के हमलावरों का प्रतिरोध करने के लिए जन्मे कमानवादी मुक्ति आंदोलन का वर्णन करते हुए बरकत उल्लाह ने आगे कहा : "रूस की सोवियत सत्ता अंग्रेज़ों एवं फ्रांसीसियों से संघर्ष कर रही है तथा इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर वे तुर्की राष्ट्र के साथ मिलकर कार्यवाही करना चाहते हैं··· सोवियत अधिकारी रूस तथा तुर्की दोनों को ही लुटेरे हाथों से मुक्त करना चाहते हैं···तुर्की भाइयो, हम आपसे आत्म-बलिदान की भावना से कार्य करने की अपेक्षा रखते हैं। आओ साथ, मिलकर सभी तुर्की दस्तों को संगठित करो···तथा युद्ध के लिए प्रयाण करो और खूंखार दुश्मनों को बाहर खदेड़ दो जिन्होंने तुम्हारी

---

1. रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के नाम अपने पत्र में उन्होंने लिखा : "अफ़गान दूत के मास्को आगमन की पूर्व संध्या पर···उन्होंने मुझे मास्को से बाहर भेज दिया। दूत वहाँ 10 अक्तूबर, 1919 को पहुँचे थे, जिसका अर्थ है कि वह या तो सितंबर के अंत में, या अक्तूबर 1919 के आरंभ में ही जा सके होंगे। रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति को यह पत्र उन्होंने मास्को लौटते ही लिखा था तथा इस पर 6 जनवरी, 1920 की तारीख़ पड़ी थी। इसका अर्थ यह है कि वह 1919 के दिसंबर के अंत में अथवा 1920 की जनवरी के शुरू में ही राजधानी वापस पहुँचे थे। (क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 17, रजिस्टर 65, फ़ाइल 487, पृ० 42)।
2. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 17, रजिस्टर 65, फ़ाइल 400, पृ० 6

स्वतंत्रता तथा व्यापार को पैरों तले कुचल दिया है।"[1]

बरकत उल्लाह ने सोवियत रूस की मुस्लिम आबादी के नाम अपनी अपीलों में भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग किया : "साथियो ! अंग्रेज, फ्रांसीसी तथा अमरीकी पूंजीपतियों ने मुस्लिम दुनिया की पूंजी को अपने नियंत्रण में ले लिया है। कुस्तुनतुनिया तथा उसकी तोपों ने मक्का-मदीना के पवित्र शहरों को नष्ट कर दिया है। वे रूसी प्रति-क्रांति को पैसे व हथियारों से मदद कर रहे हैं तथा घेराबंदी करके सोवियत रूस में समस्त जन-जीवन को नष्ट कर देना चाहते हैं। मुस्लिम साथियो ! याद रखो सोवियत सत्ता के साथ मिलकर कार्यवाही करना तुम्हारी नैतिक जिम्मेदारी है क्योंकि यदि वे विफल हो जाते हैं तो पूरब तथा समूची दुनिया की मुक्ति की तुम्हारी आखिरी उम्मीद भी खत्म हो जाएगी। सेना में भरती हो जाओ क्योंकि वह तुम्हारी मुक्ति के लिए, तुम्हारे हितों के लिए लड़ रही है।"[2]

बरकत उल्लाह के लेख, भाषण तथा साक्षात्कार पेत्रोग्राद, अल्मा-अता, ...जान, समारा, ताशकंद—तथा अन्यत्र भी—की मुस्लिम आबादी के लिए निकलने वाले समाचार पत्रों में प्रमुख रूप से प्रकाशित हुए। हमें उनके लेखों—...वेल्सन बनाम लेनिन'[3], 'बोल्शेविक विचार तथा इस्लामिक गणराज्य'[4], 'एशिया ...समस्त मुस्लिमों के नाम'[5] अपील, 'पूरबी नीति'[6] तथा अंत में 'बोल्शेविकवाद व इस्लाम' नामक पुस्तिका—की जानकारी है जो जैसे तैसे भारत तक पहुंच ...। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को इससे काफी परेशानी हुई।[7]

बरकत उल्लाह—जो एक कट्टर मुस्लिम थे—ने यह सिद्ध करने की कोशिश ... कि कम्युनिज्म, इस्लाम व अन्य धर्मों के मुख्य सिद्धांत एक जैसे ही थे तथा ...तवता, समानता तथा सभी लोगों के भ्रातृत्व के विचारों में निमित्त थे। अपने ...'बोल्शेविक विचार तथा इस्लामिक गणराज्य' में उन्होंने लिखा कि मार्क्सवाद ...सभी धर्म "ईश्वर द्वारा सौंपे गए थे ताकि गरीबों और जरूरतमंदों को ...या जा सके, सभी लोगों को भरोसा दिलाया जा सके व जनगणों के आपसी ...दोस्ती रिश्ते कायम किए जा सकें।" बरकत उल्लाह ने सोवियत सरकार द्वारा

. क पा अ, मास्को सं, अनुभाग 17, रजिस्टर 65, फ़ाइल 399, पृ० 13
. इज्वेस्तिया, ताशकंद, 12 फ़रवरी, 1920, पृ० 2
. इज्वेस्तिया, अल्मा अता, 25 मार्च, 1, 8 अप्रैल, 1920
. इस्तिराकिउन, ताशकंद, 16 अप्रैल, 1919
. वही, 11 नवंबर, 1919
. वही, 4 नवंबर, 1919
. देखें : एल० बी० मित्रोखिन, 'लेनिन भारत के बारे में', पृ० 79-80

इन्हीं विचारों को वास्तविकता का रूप दिया जाते देखा। "समाजवाद के विचारों, जो दो हजार साल पहले प्लेटो का पवित्र सपना बन गए थे, को जनाब उल्यानोव लेनिन के प्रयासों से कार्य रूप दे दिया गया है। इसी बात को यह श्रेय जाता है कि रूस तथा तुर्किस्तान में सत्ता मजदूरों, किसानों तथा सैनिकों के हाथ में आ गई है। धार्मिक तथा जातीय झगड़े समाप्त हो गए हैं। सभी लोगों को स्वतंत्रता मिल गई है तथा उन्हें समान घोषित कर दिया गया है।"[1] एक अन्य लेख—'एशिया के समस्त मुस्लिमों के नाम' अपील—में उन्होंने रेखांकित किया कि "धरती पर एक भी ऐसा राज्य नहीं है जोकि इस बोलशेविक सिद्धांत—कि समस्त मनुष्य समान हैं—से अपने लिए सबक़ न लेना चाहेगा।"[2]

उस तीक्ष्ण व तीव्र वर्ग-संघर्ष से बेख़बर, जिसने कि रूस में मजदूरों, किसानों व सैनिकों की सत्ता क़ायम होने को संभव बनाया, बरक़त उल्लाह गृह-युद्ध को विदेशी हमलावरों तथा घृणित अंग्रेज एवं अन्य साम्राज्यवादियों के खिलाफ़ संघर्ष से अधिक कुछ नहीं मानते थे तथा इसी में उसकी समूची प्रासंगिकता देखते थे। इसलिए उन्होंने पूरब के जनगणों का यह स्वीकार करने के लिए आह्वान किया कि "समाजवाद उनके लिए अच्छा है तथा उन्हें इसकी रक्षा करनी चाहिए तथा बोलशेविक दस्तों के साथ अपनी शक्ति मिलाकर अंग्रेज अपहारियों को अपने देशों से बाहर खदेड़ देना चाहिए।"[3]

अक्तूबर क्रांति के बारे में बरक़त उल्लाह ने एक दिलचस्प बात यह कही कि इसने एशिया के राष्ट्रों के विभाजन व उनकी लूट के प्रश्न के स्थान पर उनकी मुक्ति का प्रश्न बनाकर पहली बार 'पूरबी प्रश्न' के सार-तत्त्व को परिवर्तित कर दिया। अपने लेख 'पूरबी नीति' में उन्होंने लिखा: "रूस की महान क्रांति ने पूरब की मुक्ति के प्रश्न को एक प्रमुख तथा स्वतंत्र प्रश्न बनाकर हमारे सामने रखा है, और यदि क्रांति ने एशिया के जनगणों को और कुछ न भी दिया होता तो भी उक्त समस्या को प्रस्तुत करने का नया तरीक़ा मात्र उत्पीड़ित पूरब के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण होता।"[4]

समाजवाद को शुद्ध रूप से समतावादी दर्शन मानते हुए बरक़त उल्लाह ने निजी संपत्ति की घोषणा कर दी क्योंकि यह 'धरती पर तमाम बुराइयों का कारण' थी। उनकी यह मान्यता थी कि भूमि, मकानों व कारखानों पर राष्ट्रीय सार्वजनिक स्वामित्व क़ायम हो जाने की स्थिति में "प्रत्येक मनुष्य द्वारा बनाए

---

1. इस्तिराक़िउन, 16 अप्रैल, 1919
2. वही, 11 नवंबर, 1919
3. वही, 16 अप्रैल, 1919
4. वही, 4 नवंबर, 1919

जाने वाले उत्पाद सार्वजनिक संपत्ति बन जाएँगे तथा प्रत्येक व्यक्ति सार्वजनिक गोदाम मे से अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप वस्तुएँ निकाल पाने मे समर्थ होगा।" ख़रीदने व बेचने को पूरी तरह समाप्त कर दिया जाएगा। बरकत उल्लाह ने यह निष्कर्ष निकाला कि "जब चीजें इस तरीके से होने लगेंगी, मनुष्य भूख व गरीबी से मुक्ति पा लेंगे तथा स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व तथा समृद्धि प्राप्त कर लेंगे।"[1]

उक्त सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करते समय बरक़त उल्लाह ने उन तरीकों पर विचार नहीं किया जिनके आधार पर यह परिवर्तन हो सकता था। कहने का अर्थ यह है उन्होंने कामना करने से अधिक तथा बेहतर कुछ नहीं किया। बरकत उल्लाह ने वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धांतों की कोई चर्चा नहीं की। दरअसल, उन्होंने अपने राजनीतिक विचारो को कभी छिपाया भी नही, तथा एकदम बेलाग ढंग से यह कहा कि वह सोवियत सरकार का समर्थन इसलिए कर रहे थे क्योंकि वह साम्राज्यवाद तथा पूरब पर यूरोपीय पूँजीवाद द्वारा शासन के ख़िलाफ संघर्ष कर रही थी। उन्होंने समूची दुनिया के मुस्लिमो से ज़ोर देकर आग्रह किया : "सोवियत सरकार के इर्द-गिर्द एकताबद्ध हो जाओ क्योंकि समस्त उत्पीड़ित गुलाम जनगणो की मुक्ति सिर्फ़ इस सोवियत सरकार पर ही निर्भर करती है।"[2]

इज़वेस्तिया को दिए गए साक्षात्कार मे बरकत उल्लाह ने घोषित किया : "मैं कम्युनिस्ट नही हूँ, और न समाजवादी हूँ···किंतु अब तक का मेरा राजनीतिक कार्यक्रम अंग्रेज़ों को एशिया के बाहर खदेड़ना है। **मैं एशिया में यूरोपीय पूँजीवाद (जिसके प्रमुख प्रतिनिधि अंग्रेज़ हैं) का कट्टर दुश्मन हूँ। इस अर्थ में मैं स्वयं को कम्युनिस्टों के निकट पाता हूँ, तथा इस दृष्टि से हम आपके स्वाभाविक मित्र हैं।**"[3]

(ज़ोर लेखक का)

बरकत उल्लाह ने अपने लेखों में पूँजीवादी जनतंत्रीय प्रणाली की तीखी आलोचना की जिसे कि अधिकांश भारतीय क्रांतिकारियो ने कुछ समय पूर्व तक अपना अभीष्ट माना था। ब्रिटिश संसद के बारे मे उन्होंने कहा कि यह "बच्चों के खिलौने के समान है जिसे जनता को धोखा देने के लिए बनाया गया है, तथा चने जाने का अधिकार वास्तव में संपत्तिशाली वर्गों के पास ही था, जबकि मेहनतकश लोग छः सौ वर्षों से अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे हैं तथा उत्पीड़न से छुटकारा

1. इस्तिराक़िउन, 16 अप्रेल, 1919
2. रबोचया गज़ट, बाकू, 14 अगस्त, 1919, पृ० 2
3. इज़वेस्तिया, 6 मई, 1919, पृ० 1

पाने में विफल रहे हैं।"[1]

अक्तूबर क्रांति के प्रभाव के परिणामस्वरूप काबुल-स्थित भारतीय क्रांतिकारियों के विचारों में बेहद परिवर्तन आया। भारतीय क्रांतिकारी रूसी क्रांति पर मुग्ध थे तथा उसकी सार्थकता तथा अर्थ को उन्होंने इस तथ्य में देखा कि उसने पूरबी राष्ट्रों की मुक्ति के प्रश्न को सबसे पहले उठाया तथा स्वयं अपनी भूमि पर उसका समाधान भी कर दिया व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इसके समाधान की संभावना को और निकट ला दिया। जहां तक अक्तूबर क्रांति की सामाजिक सार-वस्तु का संबंध है, वे इसे सही व सटीक ढंग से नहीं समझ पाए। स्वतंत्रता, समानता व भ्रातृत्व की प्राप्ति को ही वे समाजवादी परिवर्तन का सार मानते थे। दूसरे, उनकी समझ में यह अच्छी तरह आ गया था कि पूरबी देशों की स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और सोवियत रूस की घनिष्ठ मैत्री अनिवार्य बन गयी थी। तीसरे, वे पूंजीवादी जनतंत्रीय प्रणाली के दुर्गुणों का पर्दाफाश डटकर करने लगे थे तथा उन्होंने धार्मिक आधारों पर समतावादी समाजवाद की वकालत को सघन कर दिया था।

काबुल-स्थित भारतीय क्रांतिकारियों के विचारों में आए निर्विवाद रूप से सकारात्मक परिवर्तन के साथ-साथ उनके आरंभिक दर्शनों के कतिपय अनिवार्य बिंदु न केवल बने रहे बल्कि रेखांकित भी किए गए। इन सबसे ऊपर षड्यंत्रकारी कार्यनीति की आवश्यकता के साथ संयोजित जन-क्रांति की तैयारी के स्पष्ट नकार में उनकी बढ़ी हुई आस्था दिखाई पड़ती थी। अस्थायी सरकार के भीतर निम्न-पूंजीवादी क्रांतिकारी अभी भी जनता से—खासकर मेहनतकश वर्ग से—दूर तथा अलग-थलग पड़े थे। भारत के सर्वहारा तथा किसानों की बढ़ती हुई बेचैनी ने उन्हें ताक में रख दिया हो सकता है। उन्होंने अक्तूबर क्रांति का स्वागत एक ऐसी घटना के रूप में किया जोकि उन्हें बिना जन-कार्यवाही के, बिना जन-क्रांति के, सिर्फ सोवियत मुक्ति सेना की सहायता से भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने का अवसर प्रदान करेगी।

ताशकंद में बरकत उल्लाह समूह का विकास वामपक्ष की ओर हुआ। इसका कारण रूसी क्रांतिकारी वास्तविकताओं का तथा तुर्किस्तान में अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद द्वारा हजारों भारतीय एशियाइयों, चीनियों, तुर्कों तथा हिंदु कुश[2] को पार करके आने वाले थोड़े से भारतीयों के बीच किए गए कम्युनिस्ट प्रचार-कार्य का प्रभाव था।

---

1. [illegible], 16 अप्रैल, 1919
2. तुर्की नागरिकों के बीच किए गए बोल्शेविक कार्य की अधिक जानकारी के लिए दूसरा अध्याय देखें।

अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद ने भारतीय क्रांतिकारियों की ओर विशेष ध्यान
जो ताशकंद पहुँच गये थे। 30 दिसम्बर, 1919 को आयोजित अपने
ाटन सत्र मे उसने काबुल-स्थित वाणिज्य दूत एन० जेड० ब्रेविन से प्राप्त
का अध्ययन किया जिसमें पाँच भारतीय क्रांतिकारियों—जिन्होने "भारत
ांतिकारी विद्रोह के लिए तथा अंग्रेज-दासता से भारत की मुक्ति के लिए
स्तान मे काम करने की इच्छा प्रकट की है"[1]—के संभावित ताशकंद आगमन
ूचना दी गयी थी। परिषद उन व्यक्तियो के विषय मे बरकत उल्लाह की
चाहती थी। फ़रवरी 1920 के बाद के दिनो मे ये पाँचो व्यक्ति (होजा
ान, अब्दुल फाज़िल खान, गुलाम मोहम्मद खान, फ़ैजी—पाँचवे का नाम
दिया गया था) ताशकंद पहुँच चुके थे।[2] अस्थायी सरकार का मिशन (मोहम्मद
और मोहम्मद शफ़ीक) 31 मार्च को वहाँ पहुँचे तथा कुछ समय बाद ही
मजीद तथा इब्राहिम (जो मास्को यात्रा के दौरान बरकत उल्लाह के साथ
हाँ पहुँच गए।

5 अप्रैल को अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के कार्यकारी ब्यूरो की बैठक मे 'हिंदू
निस्ट अनुभाग'[3] गठित करने का निर्णय लिया गया। 17 अप्रैल को परिषद
ने निर्देशन मे पहले से ही कार्य कर रहे पाँच राष्ट्रीय अनुभागो (पशियाई,
बुखाराई, चीनी व रवीवी) के पूरक के रूप मे चंद भारतीय क्रांतिकारियों के
ीय अनुभाग का गठन कर दिया तथा 23 या 27 अप्रैल को अपनी बैठक मे
अधिकृत रूप से पुष्टि कर दी।[4] यह सही है कि यह अनुभाग कभी भी कम्यु-
संगठन नही बन पाया किंतु इसने इस दिशा मे कुछ कदम अवश्य उठाए।
अंतर्राष्ट्रीय प्रचार-परिषद के अनुभाग के रूप में गठित होने के बाद—उसका

ज़बेक सोवियत समाजवादी गणराज्य का केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनु-
ाग 17, रजिस्टर 1, फ़ाइल 1219, पृ० 159; क पा अ, मा-ले स, अनु-
ाग 544, रजिस्टर 1, फ़ाइल 1, पृ० 1

पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 514, रजिस्टर 1, फाइल 2, पृ० सख्या
ंकित नही,

ही,

पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 514, रजिस्टर 1, फ़ाइल 1, पृ० 19। अब्दुल
जीद का, अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद को लिखे गये 22 जुलाई, 1919 के
न मे, यह मत था कि इस अनुभाग मे सात व्यक्ति थे। परिषद के पूर्णाधि-
ारी प्रतिनिधि एम० शुल्मान ने 1 दिसंबर, 1920 को सूचित किया कि
ारतीय अनुभाग चार सदस्यों से मिलकर बना है।' (क पा अ, मा-ले
)। शायद शुलमान का इशारा शुरू के केंद्रक की ओर था।

नेतृत्व स्वीकार कर लेने के बाद भारतीय समूह ने 20 अप्रैल को ही मोहम्मद अली तथा मोहम्मद शफ़ीक[1] द्वारा हस्ताक्षरित नया नीति संबंधी दस्तावेज प्रस्तुत करके अपना पक्ष रखने का अवसर प्राप्त कर लिया। उक्त दस्तावेज रोचक होने के साथ-साथ अपरिपक्व तथा विभिन्न दर्शनग्राही था। इसमें षड्यंत्रकारी कार्यनीति तथा आतंकवाद की वैयक्तिक कार्यवाहियों से संबंधित उनकी पूर्व की धारणाओं को—यद्यपि अब इन पर जोर उतना अधिक नहीं था—कम्युनिज्म के बारे में अधपकी नई धारणाओं (जिनका संबंध किसानों व मजदूरों के बीच किए जाने वाले काम से तथा भारत में सोवियत क़िस्म की सरकार से था) पर जड़ दिया गया था।

इसके आरंभिक हिस्से—जिसे कोई उपयुक्त शीर्षक नहीं दिया गया है किन्तु जिसे हम भारतीय अनुभाग की योजना एवं कार्यक्रम कह सकते हैं—में 1919 के भारतीय जन-क्रांतिकारी विद्रोहों की विफलता की व्याख्या का प्रयास दिखाई देता है तथा उस हार के सही सबक ग्रहण करने का प्रयास भी दिखाई देता है। दस्तावेज में कहा गया है "हाल के संघर्ष में मिली पराजय के पीछे कारण यह था कि भारतीय सैनिकों के मात्र एक अत्यंत अल्प हिस्से ने ही इसमें भाग लिया था। इसलिए भारतीय क्रांतिकारियों ने अपना सारा ध्यान सामान्य सैनिकों के बीच राष्ट्रवादी प्रचार पर केंद्रित कर दिया है।" (क पा अ, मा-ले सं)।

पहले सेना के अफ़सरों के बीच ही प्रचार (व्याख्या) कार्य करने को काफ़ी समझा जाता था किन्तु अब भारतीय क्रांतिकारी प्रमुख रूप से सामान्य सैनिकों के बीच इस तरह के कार्य को चलाने की जरूरत की चर्चा कर रहे थे। यह निश्चित रूप से आगे का क़दम था। 'योजना एवं कार्यक्रम' के प्रस्तावकों ने आगे चलकर कम्युनिज्म के प्रचार की चर्चा की हालाँकि वे इसे प्रमुख रूप से राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के साधन के रूप में ही देखते थे। उन्होंने लिखा : "यदि भारतीय क्रांतिकारी समुदाय विदेश में कम्युनिज्म अथवा बोल्शेविकवाद का व्यवस्थित रूप से प्रचार करें तो भारत के मजदूर तथा सैनिक ब्रिटिश शोषकों के ख़िलाफ़ उठ खड़े

1. यह स्पष्ट नहीं है कि अनुभाग का अध्यक्ष कौन था। परिषद के कार्यकारी ब्यूरो की 5 अप्रैल, 1920 की बैठक की कार्यसूची में इस संभाव्य अनुभाग के अध्यक्ष (प्रमुख) के रूप में अब्दुल फ़ाजिल का नाम वर्णित है। (क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 544, रजिस्टर 1, फाइल 2)। परिषद को लिखे 22 जुलाई, 1920 के अपने पत्र में, अनुभाग के कार्यों की सूचना देते हुए स्वयं को उसका अध्यक्ष कहा है। जी॰ एल॰ दमित्रिएव का मत है कि अनुभाग के अध्यक्ष मोहम्मद अली थे। (देखें उनका लेख—मध्य एशिया में भारतीय क्रांतिकारी संगठनों के इतिहास से, पृ॰ 58)।

होंगे।" इसके बाद एक और अधिक ठोस तथा सुनिश्चित निर्देश दिया गया : "भारतीय सैनिको, मजदूरों तथा किसानों के बीच प्रचार का फैलाव करो तथा उन्हें समझाओ कि वे विदेशी दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं। हम उनका आह्वान करेंगे विदेशी स्वामियों का जुआ उतार फेंकने के लिए तथा अपनी सुखमय मातृभूमि में अपनी मेहनत का फल स्वतंत्र होकर खाने के लिए।" (क पा अ, मा-ले य)। दस्तावेज में 'मजदूरों' व 'किसानों' का उल्लेख तो था किन्तु स्वाभाविक है के अब भी निरपवाद रूप से सैनिकों पर ही जोर था। उन्हें क्रांति की प्रमुख शक्ति के रूप में देखा गया था।

मजदूरों के कार्यभारों का वर्णन करते हुए दस्तावेज के प्रस्तावकों ने उनमें वर्णित आतंकवाद की अपनी पुरानी धारणाओं को गड्ड-मड्ड कर दिया : मजदूरों को धन और साहित्य के अतिरिक्त हथियार तथा बम मिलने चाहिए ताकि वे ब्रिटिश तानाशाहों को आतंकित कर सकें, उनके प्रभाव से मुक्त हो सकें क्रांति को अधिक कारगर बना सकें।" प्रस्ताव में आगे कहा गया : "अपने इरादों को पूरा करने व भारतीय क्रांति को आगे बढ़ाने के लिए हम ताशकंद में भारतीय समिति गठित करेंगे तथा जो 'भारतीय जनवादी' के नाम से जानी जाएगी।"

'सिद्धांतों' के शीर्षक वाले एक अन्य अध्याय में इस समिति की ओर से घोषित किया गया कि "इसके सभी सदस्यों ने कम्युनिज्म के सिद्धांतों को अंगीकार कर लिया है।" अंतिम अध्याय 'कार्यक्रम' में क्रांति के तीन प्रमुख लक्ष्य घोषित किए गये : (1) विदेशी शासन का अंत, (2) भारतीय 'जनगण का दमन करने वाले' कतिपय भारतीय निरंकुश शासकों, बड़े जमींदारों तथा कारखानों के मालिकों को उखाड़ फेंकना, तथा (3) भारत में सोवियत गणराज्य की स्थापना।

स्वाभाविक ही है कि उक्त समूह की कम्युनिस्ट-जैसी घोषणाओं को बेहद सावधानीपूर्वक परखा जाए क्योंकि यह अविश्वसनीय ही लगता है कि मोहम्मद अली तथा मोहम्मद शफ़ीक़, जिन्होंने 10 अप्रैल, 1920 को अखिल रूसी केंद्रीय कार्यकारिणी समिति के तुर्किस्तान कमीशन के समक्ष प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में सोवियत सरकार को राष्ट्रीय क्रांतिकारी विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति दी थी, ने दस दिन के भीतर ही कम्युनिस्ट सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया।

अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के प्रतिनिधि एम० शुल्मान, जो भारतीय क्रांतिकारियों के साथ लम्बे समय तक काम कर चुके थे, ने अपने 1 दिसंबर, 1920 के पत्र में मोहम्मद अली तथा मोहम्मद शफ़ीक के बारे में यह लिखा : "ये दोनों भारतीय मजदूर वर्ग के आंदोलन से बहुत कम परिचित हैं, यही नहीं ये उसमें बहुत कम रुचि रखते हैं। उनकी एकमात्र आकांक्षा शत्रुओं—अंग्रेजों—को परास्त करने ... "इसमें कोई संदेह नहीं है कि सोवियत सरकार व्यवस्था तथा कम्युनिज्म के सिद्धांतों की उनकी आम विश्वदृष्टि के साथ संगति नहीं बैठती।" ऐसा लगता है

कि उस समय के हालात यही थे। अभी तक भारतीय क्रांतिकारी कम्युनिस्ट सिद्धांतों को पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाए थे। अभी तक इसका समय नहीं आया था तथा भारतीय क्रांतिकारी, जो ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ ईमानदारी से लड़ रहे थे, स्वयं अभी इसके लिए तैयार नहीं थे। आश्चर्यजनक तो यही होता कि सोवियत तुर्किस्तान में कुछ दिन के अपने प्रवास के दौरान वे कम्युनिस्ट विचारधारा को आत्मसात् कर लेते।

उक्त दस्तावेज़ फिर भी यह पुष्ट करने में सहायक है कि ब्रिटिश शासन की समाप्ति के लिए आम जनवादी संघर्ष के बारे में इसके प्रस्तावकों के विचार पहले कभी की तुलना में अधिक क्रांतिकारी थे। अब उनके विचारों में न केवल भारत की पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता निहित थी बल्कि स्वाधीन देश में बड़े पूंजीपतियों व सामंतों पर लगाया जाने वाला अंकुश भी साफ़ दिखता था। अतः दस्तावेज़ के लेखकों ने यह दिखाया कि उनकी समझ में यह आ गया कि उनके देश की मुक्ति का प्रश्न मेहनतकश लोगों की सामाजिक माँगें पूरी करने के प्रश्न से जुड़ा हुआ था। दस्तावेज़ ने यह साबित कर दिया कि पूरब के प्राक्-पूंजीवादी परिदृश्य में संभावित संस्थाओं के रूप में सोवियतों को उपयुक्त मानने संबंधी लेनिन की समझ सही थी। हालाँकि उक्त संदर्भ में सोवियतें सर्वहारा की तानाशाही के वाहकों के रूप में नहीं देखी गयी थी। एशिया के क्रांतिकारियों के मध्य यह धारणा काफ़ी लोकप्रिय हो चली थी।

साथ ही यह भी माना जा सकता है कि दस्तावेज़ तैयार करने वाले क्रांतिकारियों के समूह ने कम्युनिज़्म के अर्थ की गहराई में उतरने की तथा उसके निकट आने की ईमानदार इच्छा प्रदर्शित की। यह कतई आकस्मिक नहीं था कि इस भारतीय समूह के कुछ सदस्य—खासकर, मोहम्मद अली[1]—कुछ समय पश्चात्

---

1. मोहम्मद अली भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के प्रमुख संगठनकर्ता बन गये, चाहे वह निर्वासन में रहे हों, चाहे भारत में। 1922 से लेकर कई वर्षों तक वह भारतीय कम्युनिस्टों के यूरोपीय ब्यूरो के प्रभारी रहे। 1925 में वह मासेज़ के संपादक थे जोकि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का मुखपत्र था। बाद में, मोहम्मद अली भूमिगत क्रांतिकारी कार्य में संलग्न हो गये। उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया तथा मेरठ षड्यंत्र कांड के नाम से जानी जाने वाली कम्युनिस्ट-विरोधी तथा मजदूर-विरोधी न्यायिक सुनवाई में सज़ा हुई जोकि 1929 से 1933 तक चली। सज़ा काटने के बाद वह फ्रांस चले गये तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान नाज़ियों की गोलियों के शिकार हुए। (देखें: मुज़फ़्फ़र अहमद, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में इसकी स्थापना, नेशनल बुक एजेंसी प्रा॰ लि॰, कलकत्ता, 1962)

कम्युनिस्ट बन गये तथा उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की दिशा मे बहुत काम किया। समाजवाद तथा भारत की मुक्ति के प्रति इब्राहिम—जो किसान थे—की निष्ठा की अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के स्टाफ ने अत्यधिक प्रशंसा की।

भारतीय क्रांतिकारियों के इस समूह को जिस बात का सबसे अधिक श्रेय जाता है वह है ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दुष्प्रचार के विरुद्ध सोवियत सरकार का बचाव करने की ईमानदार इच्छा। 'योजना तथा कार्यक्रम' मे उन्होंने घोषणा की कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा तुर्किस्तान मे बोल्शेविक अत्याचारों, भारत मे लाल खतरा, तथा बोल्शेविकों द्वारा सभ्यता के सभी रूपों का विनाश आदि के बारे में जो मिथ्या प्रचार किया जा रहा है उसका खंडन करना वे अपना पुनीत कर्तव्य मानते हैं।

ताशकंद मे भारतीय समुदाय स्थापित करने की अनुमति तथा भारत की मुक्ति के लिए कार्रवाइयाँ जारी रखने मे सहायता देने के लिए सोवियत सरकार को धन्यवाद देते हुए भारतीयों ने दस्तावेज़ का समापन किया।

भारतीयों ने वास्तव मे काफी काम किया। उन्होंने आंग्ल-भारतीय फ़ौजी टुकड़ियों के मध्य काम करने के लिए अपने आंदोलनकारियों को बाकू तथा पर्शिया भेजा तथा स्थानीय आबादी के बीच काम करने के लिए पामीर के पठारों मे भेजा। इस अनुभाग ने काफी प्रचार सामग्री तैयार की जिसमे 'सोवियत सत्ता का क्या स्वरूप है?' (पर्चा), 'भारतीय भाइयों के नाम' (अपील), 'गणराज्य और इस्लाम' (यह बरक़त उल्लाह का पर्चा 'सोवियत गणराज्य और इस्लाम' अथवा 'बोल्शेविकवाद और इस्लाम' रहा होना चाहिए)। इसके अतिरिक्त, इस अनुभाग ने एक साप्ताहिक समाचार पत्र ज़मींदार प्रकाशित करने का निर्णय लिया। 23 अप्रैल को अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद ने 'भारतीय अनुभाग की प्रगति-रिपोर्ट' सुनकर एक "भारतीय क्रांतिकारी प्रकाशन को अंतरिम आधार पर संगठित करने की अनुमति देने का निर्णय किया।" यह समाचार पत्र बहुत जल्दी ही यानी 1 मई, 1920 को ही दो भाषाओं—उर्दू तथा फ़ारसी—मे छपकर प्रेस से निकल आया। दुर्भाग्य से, इसके और अंक नहीं निकल पाए। मोहम्मद शफ़ीक द्वारा लिखित अग्र-लेख मे समाचार पत्र की प्राथमिकताओं का विवेचन किया गया था। संपादकों ने भारतीय प्रश्न की ओर सोवियत गणराज्य का ध्यान आकर्षित करना तथा इसके ज़बर्दस्त महत्व की व्यवस्थित रूप से व्याख्या करना प्रस्तावित किया ताकि यह सिद्ध किया जा सके कि समस्त गुलाम राष्ट्रों की मुक्ति प्रमुख रूप से भारत मे उपनिवेशवाद की समाप्ति पर निर्भर करती थी। पत्र की यह मंशा थी कि एशिया की विभिन्न क्रांतिकारी शक्तियों को एक केंद्र तथा एक कार्यक्रम के इर्द-गिर्द एकत्र किया जाए, अक्तूबर क्रांति के महत्व से जन-जन को परिचित कराया जाए,

भारतीय सर्वहारा को उसके ऐतिहासिक मिशन के लिए तैयार किया जाए तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा चलाए जाने वाले कम्युनिस्ट-विरोधी प्रचार की काट की जाए।[1] उक्त कार्यक्रम के कुछ हिस्सों में राष्ट्रवादी असंगतियाँ साफ तौर पर झलकती थीं जो भारतीय क्रांतिकारियों के एक अन्य समूह—भारतीय क्रांतिकारी संगठन—के दस्तावेजों में और भी अधिक स्पष्ट थीं।

2 जुलाई, 1920 को 28 भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी काबुल से ताशकंद पहुँचे। यह असंबद्ध लोगों का समूह मात्र नहीं था, बल्कि उस संगठन का खंड था जिसने कि अपने आपको भारतीय क्रांतिकारी संगठन का नाम दे रखा था।[2]

नगर के मेहनतकशों, सार्वजनिक संगठनों, सोवियत अधिकारियों तथा लाल सेना के बहुत से प्रतिनिधियों ने उनका सादगीभरा एवं गर्मजोशी के साथ स्वागत किया। अखिल रूसी केंद्रीय कार्यकारिणी समिति के तुर्किस्तान मामलों के कमीशन के उपाध्यक्ष वेलेरियन कुइवेशेव तथा तुर्किस्तान मोर्चा के कमांडर मिखाइल फ्रंजे ने भाषण दिये। संगठन के अध्यक्ष अब्दुर रब्ब बर्क़[3] ने प्रत्युत्तर भाषण दिया।

1. देखें: अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के नाम अब्दुल मजीद का 22 जुलाई, 1920 का पत्र।
2. देखें: इज़वेस्तिया, ताशकंद, 4 जुलाई, 1920, पृ॰ 2
3. अब्दुर रब्ब बर्क़ (जन्म 1875, मृत्यु 1960 के दशक में तुर्की में) ने एक प्रश्नोत्तरी में स्पष्ट रूप से लिखा कि उनका जन्म एक बुद्धिजीवी परिवार में हुआ था। उन्होंने इंग्लैंड के विदेशी एवं राजनीतिक विभाग में सेवा की, बगदाद तथा कुस्तुंतुनिया के ब्रिटिश वाणिज्य दूतावासों में काम किया। जैसा उन्होंने बताया, उन्होंने अपना क्रांतिकारी जीवन 1893 में प्रारंभ किया जब मेसोपोटामिया स्थित भारतीय सेनाओं के बीच उन्होंने ब्रिटिश-विरोधी प्रचार का संचालन शुरू किया। 1908 में वह भारत छोड़कर बाहर चले गये। तीन वर्ष तक (संभवतया प्रथम विश्व युद्ध के दौरान) उन्होंने तुर्की की सेनाओं की सेवा की और इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में भाग लिया। युद्ध के अंत में, बर्लिन पहुँचकर वह भारतीय क्रांतिकारी समिति के सदस्य बने। 1919 में वह प्रताप और आचार्य के साथ मास्को आये। भारतीय क्रांतिकारियों के एक समूह के साथ वह लेनिन से मिले। उसी वर्ष बाद में वह काबुल चले गये जहाँ वह जून, 1920 के आरंभ तक रहे। फ़रवरी, 1921 में लेनिन से दूसरी बार मिलने के बाद उन्होंने उनके (लेनिन के) अनुरोध पर भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से संबंधित गंभीर पुस्तकों की सूची तैयार की। वह अत्यंत प्रतिभाशाली वक्ता थे तथा कई पूरबी व दो यूरोपीय भाषाएँ बोल सकते थे। जो लोग भी उनसे मिले उन्होंने उनकी अति-

उन्होंने सबको धन्यवाद दिया गर्मजोशी के साथ किए गये उनके स्वागत का जोकि उनकी तथा उनके साथियों की अपेक्षाओं से कहीं अधिक प्रीतिकर रहा था।[1]

संघ की स्थापना अब्दुर रब्ब बर्क तथा प्रतिवादी आचार्य ने दिसंबर 1919 के अंत में काबुल में की थी, अपने (प्रताप के भी) मास्को से काबुल पहुँचने के तत्काल बाद, जब या० ज० सूरित्स के नेतृत्व में प्रथम सोवियत प्रतिनिधि मंडल भी वहाँ पहुँचा था। संघ ने पाँच महीने तक काबुल के भारतीय उत्प्रवासियों के बीच में काम किया तथा उस अवधि में उसकी सदस्य संख्या बढ़कर 150 हो गई। इसका अर्थ है कि यह ताशकंद आने वाली कुल संख्या का पाँचवाँ हिस्सा था जिसे, उस समय की यात्रा की कठिनाइयों को देखते हुए, कतई कम नहीं माना जा सकता। काबुल में आम सदस्यों की कम-से-कम चार-पाँच बैठकें सपन्न हुई जिनमें कार्यवाही की योजनाओं पर विचार-विमर्श हुआ तथा उन्हें स्वीकृति प्रदान की गई, संघ के नेतृत्व का चुनाव किया गया : अब्दुर रब्ब बर्क को अध्यक्ष, प्रतिवादी आचार्य को उपाध्यक्ष तथा अमीन फ़ारुख व फ़ाज़िल अल कादिर को सचिव चुना गया। संविधान—जिसमें संघ के उद्देश्यों व सरचनात्मक सिद्धातों को निरूपित किया गया था—को भी काबुल में ही तैयार किया गया।

संघ ने संभवतया 17 फ़रवरी को सपन्न अपनी दूसरी बैठक में ही लेनिन के नाम अपना प्रसिद्ध बधाई संदेश स्वीकृत किया होगा जिसमें उसने समस्त उत्पीड़ित राष्ट्रों, जिनमें भारत प्रमुख था, की मुक्ति के लिए संघर्ष चलाने के लिए सोवियत रूस को धन्यवाद दिया था।[2] यह विदित ही है कि लेनिन ने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उत्तर दिया था कि मज़दूरों व किसानों के गणराज्य द्वारा घोषित आत्म-निर्णय व पराधीन जनगणों की मुक्ति के सिद्धांतों ने राजनीतिक दृष्टि से सजग भारतीयों से इतनी उत्सुकताभरी अनुक्रिया प्राप्त कर ली थी।[3]

भारतीय क्रांतिकारी संघ काबुल में अपने काम को जारी रखने को इच्छुक था किंतु मई 1920 में अमीर ने उसे शरण के अधिकार से वंचित कर दिया। यह इसी समय की बात है कि संघ के सर्वाधिक सक्रिय समूह ने सोवियत सरकार

शय महत्वाकांक्षा को अवश्य नोट किया। (देखें : भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज़, खंड 1, पृ० 17; मुज़फ़्फ़र अहमद, 'मैं और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी', पृ० 50; देवेंद्र कौशिक, 'सोवियत एशिया में भारतीय क्रांतिकारी', लिंक, 26 जनवरी, 1966

1. इज़वेस्तिया, ताशकंद, 4 जुलाई, 1920, पृ० 2
2. इज़वेस्तिया, ताशकद, 17 अप्रेल, 1920, पृ० 1
3. वी० आई० लेनिन, 'भारतीय क्रांतिकारी संघ के नाम', संकलित रचनाएँ, खंड 31, 1974, पृ० 138

के आतिथ्य का लाभ उठाया। संयोग से, अमीर के साथ झगड़ा हो जा
उन्होंने सोवियत रूस के साथ घनिष्ठ संबंध क़ायम करने का मन बना
संघ के संविधान में कहा गया था कि उसका प्रतिनिधि कार्यालय "
खोला जाएगा ताकि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत की परिस्थितियों
यूरोपीय—व ख़ास तौर से रूसी—जनमत को सही सूचना उपलब्ध
सके।"

संघ में स्पष्ट रूप से अलग-अलग तरह के व्यक्ति सम्मिलित थे:
और राजनीतिक शिक्षा की दृष्टि से, तथा सामाजिक पृष्ठभूमि की दृ
किंतु वे सब ब्रिटिश शासन से अपने देश को मुक्त करने की समान इच्छ
दूसरे से बँधे हुए थे।

अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के ऐलेग्ज़ेंडर तिवेल, जो तदनंतर क
तुर्किस्तान ब्यूरो के संगठनात्मक विभाग के प्रमुख बने, ने अपनी रिपोर्ट
बारे में लिखा कि ताशकंद आनेवालों में क़रीब एक दर्जन ऐसे थे जो ब्रि
के भगोड़े थे, तथा यह भी कि "अधिकांश भगोड़े केवल संभावित क्षमता
से ही क्रांतिकारी होते हैं। तथापि अंग्रेज़ों के प्रति उनकी घृणा अत्यंत प्र
उनकी राय में, समूह में लगभग "उतने ही, यानी एक दर्जन छोटे व्याप
कारीगर थे।"

इस तरह के वर्गीकरण का क्या अर्थ हो सकता है? ज़ाहिर है कि
भगोड़े किसान परिवारों से आए थे। आगंतुकों में दो भाई भी थे—नासि
जोकि स्वतंत्र बलूची क़बीलों के मुखिया थे। 1917-18 में उन्होंने दस
विद्रोहियों की फ़ौज का नेतृत्व किया था। अंग्रेज़ क़बीलों के वीरतापूर्ण
रोध को दबा पाने में इसलिए सफल हो गए क्योंकि उनका गोला-बारूद चु
था।

आचार्य के अलावा संघ के सभी सदस्य मुस्लिम थे तथा उनमें से ब
अशिक्षित थे। किंतु इनमें से कुछ अत्यंत उच्च शिक्षा प्राप्त थे जिनमें अब्दु
बर्क़ व प्रतिवादी आचार्य तथा अमीन फ़ारूख व फ़ाज़िल अल क़ादिर (पे
विद्यार्थी थे)। यह सही है कि उच्च शिक्षा भी अब्दुर रब्ब बर्क़ को इस बा
अटल रहने से नहीं रोक पाई कि "दुनिया को बचाने व शांत करने का इस्ला
अलावा कोई अन्य रास्ता नहीं है।" कम-से-कम मोहम्मद शफ़ीक़ ने तो उनके
में कुछ समय बाद यही लिखा था। भारतीयों के निकट संपर्क में आने वाले
सोवियत लोगों ने यही कहा कि संघ के भीतर, उसके अध्यक्ष की ग़लती के का
जो व्यवस्था क़ायम हुई थी वह असहनीय थी, कुछेक ने अब्दुर रब्ब बर्क़
तानाशाही प्रवृत्तियों की भी चर्चा की। (क पा अ, मा-ले सं)।

'भारतीय क्रांतिकारी संघ का राजनीतिक कार्यक्रम',[1] जिस पर अब्दुर रब्ब बर्क के हस्ताक्षर थे, 13 अगस्त, 1920 को जारी हुआ। इसने (कुछ अन्य सामग्री के साथ जोड़ कर, देखने पर) भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के उक्त समूह के विचारों की पहचान को संभव बनाया। इसने बेलाग रूप से तथा स्पष्टता से संघ के सर्वोच्च उद्देश्य का चित्र प्रस्तुत किया: "चिढाने वाले विदेशी जुए को नष्ट करना तथा उसके स्थान पर स्वयं की स्वाधीन सरकार की स्थापना करना।" स्वाधीन भारत के संभावित रूप के संदर्भ में राजशाही को एकदम खारिज कर दिया गया। समय आने पर, और यदि देश में विद्यमान परिस्थितियों से उसकी संगति पाई गई तो देश में सोवियत संघीय गणराज्य स्थापित किया जायेगा। "इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघ देश के भीतर व बाहर उन समस्त शक्तियों को इकट्ठा करने व उनका उपयोग करने की कोशिश करेगा जोकि मौजूदा अत्यंत निरंकुश विदेशी शासन को नष्ट करने की दिशा में आगे बढ़ने को तत्पर हों।"

देश के भीतर व बाहर की क्रांतिकारी शक्तियों के मुद्दे का खुलासा करते हुए दस्तावेज़ के लेखकों ने अपने राष्ट्रवाद को तथा शेष विश्व के लिए भारत के महत्व एवं भूमिका से संबंधित अपनी अतिरंजित (गर्वयुक्त) धारणा को काफ़ी साफ तौर पर प्रदर्शित किया। कार्यक्रम में कहा गया: "भारतीय प्रश्न राष्ट्रीय प्रश्न नहीं है बल्कि अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न है जिसका महत्त्व जबर्दस्त है।"[2] भारत की मुक्ति के महान अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व को सही ढंग से रेखांकित करते हुए भी लेखकों ने यह दावा करके इसे बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया कि यह प्रश्न राष्ट्रीय क़तई नहीं था बल्कि सार्वभौम, अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न था।

अब्दुर रब्ब बर्क ने अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के नाम 22 अगस्त, 1920 के अपने नीति-विषयक पत्र में कहा: "तथ्य यह है कि दुनिया के प्रथम पूंजीवादी एवं साम्राज्यवादी साम्राज्य का प्रमुख सहारा (अवलंब) व मुख्याधार भारत तथा केवल भारत ही है; और जब यह आधार उस साम्राज्य के नीचे से हटा दिया जाएगा तो संपूर्ण संरचना, ताश के पत्तों के मकान की तरह, गिर पड़ेगी तथा टुकड़ा-टुकड़ा हो जाएगी।"

बाकू में आयोजित पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस में भारतीय क्रांतिकारी संघ की घोषणा में भी भारत के विश्व-व्यापी महत्त्व की धारणा को उभारा गया था। घोषणा में कहा गया: "दुनिया भर में बेचैनी व उथल-पुथल का मुख्य कारण भारत, और केवल भारत, ही है। इतिहास ने यह सिद्ध करने के लिए समुचित साक्ष्य उपलब्ध करा दिए हैं कि भारत की स्वतंत्रता का अर्थ समूची दुनिया की

1. क पा अ, मा-ले सं
2. वही

स्वतंत्रता है तथा भविष्य में सभी युद्धों की समाप्ति है।"[1] संयोग से, पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस में भारतीय क्रांतिकारी संघ के सभी सातों प्रतिनिधियों ने (कुल मिलाकर वहां सोलह भारतीय प्रतिनिधि थे)[2] इस प्रश्न "कांग्रेस में आप कौन से प्रश्न उठाना चाहते हैं?" के उत्तर में एक ही बात कही: "मैं यह सिद्ध करने के लिए भाषण देना चाहता हूं कि दुनिया की स्वतंत्रता भारत की स्वतंत्रता पर निर्भर करती है, तथा मैं अपने देश की मुक्ति की मांग करते हुए एक प्रस्ताव पेश करना चाहता हूं।"[3] अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद को लिखे अपने पत्र में अब्दुर रब्ब बर्क ने—जैसे सब कुछ का सारांश प्रस्तुत करते हुए—स्पष्ट किया कि भारतीय जनगण का जो उद्देश्य है वह ही वस्तुतः समूची मानवता का उद्देश्य है। इस बात को भारतीय क्रांतिकारियों ने यह कहकर सही ठहराने की कोशिश की कि "समूची दुनिया में भारत गरीबी तथा अधिकारहीनता का अद्भुत स्थल है" तथा मानवता की शत्रु ब्रिटिश सरकार "अन्य राष्ट्रों पर आक्रमण करने की अपनी योजनाओं को सिर्फ इसलिए मन में रख सकती है क्योंकि उसके पास करोड़ों लोगों की आबादी वाले भारत जैसा मानव-सामग्री का कभी समाप्त न होने वाला स्रोत है।"[4]

भारत के अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने के बावजूद संघ ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारत का उद्देश्य दुनिया के समस्त जनगणों का उद्देश्य था। राजनीतिक कार्यक्रम में कहा गया: "सभी राष्ट्रों से—चाहे वे पराधीन हों अथवा स्वतन्त्र—अपील करना संघ का कर्तव्य है जिससे कि भारत की मुक्ति में सक्रिय भाग लेने के लिए उन्हें तैयार किया जा सके; ऐसा करके वे न केवल अपने हित को पूरा करेंगे बल्कि समूची मानवता की बड़ी सेवा करेंगे।"[5]

संघ के सदस्यों तथा कुछ अन्य भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की राय थी कि भारत को, स्वतंत्र सीमांत क़बीलों की सहायता-समर्थन से, सोवियत रूस द्वारा मुक्त कराया जाना चाहिए। पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस में एक भारतीय प्रतिनिधि (दुर्भाग्य से उनका नाम नहीं बताया गया) ने कम्युनिस्ट नामक समाचार पत्र को दिए गए साक्षात्कार में कहा कि "यदि सोवियत रूस उन क़बीलों से

---

1. कम्युनिस्ट, बाकू, 9 सितंबर, 1920
2. देखें इज़वेस्तिया, ताशकंद 14 सितंबर, 1920, पृ० 2; 'पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस', अविकल रिपोर्ट, कॉमिंटर्न प्रकाशन-गृह, पेत्रोग्राद, 1920, पृ० 5 (रूसी में)
3. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 544, रजिस्टर 2, फ़ाइल 40 तथा 52
4. कम्युनिस्ट, बाकू, 9 सितंबर, 1920
5. क पा अ, मा-ले सं

संपर्क क़ायम कर ले तो भारत की क्रांति को उन वीर तथा स्वतंत्रता-प्रेमी पहाड़ियों का ठोस समर्थन मिल पायेगा जोकि पहाड़ी युद्धों के अभ्यस्त हैं।"[1]

भारतीय क्रांतिकारी संघ जन-प्रचार एवं संगठन की भूमिका को समझने में इसलिए विफल रहा—और इसीलिए उसने इनका मूल्य कम करके आंका—कि वह विदेशी शक्ति द्वारा सशस्त्र मुक्ति (इससे कम कुछ नहीं) मात्र पर भरोसा रखे हुए था। संघ के दो सचिवों में से एक, अमीन फ़ारूक़ ने कुछ समय बाद (22 जून, 1921 को) कहा कि: "प्रचार में संघ का विश्वास नहीं था, किंतु उसकी मान्यता थी कि एकमात्र वांछित चीज़ सक्रिय कार्य था" जिसे कि, उन्होंने दावा किया, सोवियत रूस का समर्थन प्राप्त नहीं था।

(क पा अ, मा-ले स)।

यह एकदम साफ़ है कि भारतीय क्रांति का स्थान लेने वाले दुस्साहसी सैनिक जिहाद (धर्मयुद्ध) के विचार को सोवियत सरकार स्वीकार नहीं कर पाई। बाहरी शक्ति की सहायता से अपने देश की मुक्ति का सपना देखते हुए, संघ के सदस्यों ने भारत में नास्तिकतावादी कम्युनिज़्म के सिद्धांतों के प्रसार को रोकने का प्रयास किया। शायद यही कारण था कि पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस में संघ ने अपनी घोषणा में इस बात पर बल दिया कि "भारत के सभी क्रांतिकारी सहायता प्राप्त करने के लिए रूस की ओर मुड़ने की इच्छा में एकमत हैं—किंतु राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप तथा आस्था एवं धर्म के मामलों में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना।"[2]

बाहरी शक्ति द्वारा भारत की मुक्ति पर निर्भर रहते हुए भी, संघ ने सविधान में इस आशय की अड़ियल किंतु सम्मानपूर्ण शर्त लगा दी कि वह "मुक्त भारत में, उसे सहायता देने वाली शक्तियों की नीति को जारी रखने की बात को स्वीकार नहीं करेगा। कोई भी सहायता ऋण के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। उसे केवल मुक्त उपहार के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।"

भारतीय क्रांतिकारी संघ का राजनीतिक कार्यक्रम समाजवाद के संदर्भ में काफ़ी लंबा-चौड़ा व उबाऊ है। यह मत व्यक्त किया गया है कि "भारत शुद्ध एवं वास्तविक समाजवाद के माध्यम से ही स्वतंत्र किया जा सकता है" तथा यह भी कि "इसलिए संघ हरसंभव तरीके से भारतीय जनमत को यह स्वीकार करने के लिए शिक्षित करेगा कि समाजवाद ही भारत की तथा विश्व की मुक्ति का एकमात्र रास्ता है।"

किंतु कार्यक्रम के लेखकों ने समाजवाद को 'भारत की पुरानी समाजवादी

1. कम्युनिस्ट, बाकू, 2 सितंबर, 1920, पृ० 2
2. वही, 9 सितंबर, 1930

संस्थाओं के पुनरुत्थान के रूप में ही देखा क्योंकि उनकी मान्यता थी कि "तुलनात्मक रूप से अल्प ऐतिहासिक अवधियों के दौरान भारत एक शुद्ध रूप से समाजवादी देश था।" उसके पास चुनाव पर आधारित निकाय थे, ख़ास तौर से पंचायतें, तथा कला एवं श्रम संघों के मतदाता थे। इसके अतिरिक्त वहाँ स्थानीय स्व-शासन की तथाकथित परिषदें भी थीं। इससे, यह माना गया, प्राक्-औपनिवेशिक भारत की अधिरचना का समाजवादी चरित्र सिद्ध होता था।

इससे आगे, कार्यक्रम में यह मत व्यक्त किया गया कि (भारत का) आर्थिक आधार भी उतना ही समाजवादी था। इस तर्क को सिद्ध करने के लिए भारत तथा बलूचिस्तान के सीमांत कबीलों का उदाहरण दिया गया जहाँ "भूमि निजी संपत्ति नहीं है बल्कि समूचे कबीले की साझी संपत्ति है, जिसे प्रत्येक सात या दस वर्ष में बाँट दिया जाता है ताकि क़बीले की भूमि में नई पीढ़ी को हिस्सा दिया जा सके। वहाँ कोई कर नहीं है, कोई शुल्क नहीं है, कोई संपत्ति नहीं है।" लेखकों की राय में "इस व्यवस्था व कम्युनिज्म के बीच में एक ही क़दम का फ़ासला है।" क्योंकि "प्रत्येक व्यक्ति फ़सल उगाता व काटता है" इस व्यवस्था को कम्युनिस्ट-जैसी बनाने के लिए सिर्फ़ यही ज़रूरी है कि फसल को काटकर क़बीलाई परिषद उसे अपने कब्ज़े में ले ले तथा सबके बीच उसका समान पुनर्वितरण कर दे।" कार्यक्रम ने प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य बताया कि वह "समानता कायम करने की व भ्रातृत्व की शिक्षा देने की कोशिश करे।" यह माना गया कि भारत में समाजवादी परिवर्तन से कोई कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं होंगी क्योंकि "समस्त भारतीय संस्थाओं का नीव का पत्थर समाजवाद—अपने आदिम रूप में—ही है।"

ताशकंद पहुँचते ही (उसी दिन), अपने स्वागत के लिए एकत्र सोवियत लोगों को संबोधित करते हुए अब्दुर रब्ब बर्क़ ने कहा कि "कम्युनिज्म के विचार अभी भी सामूहिक प्रणाली के अंतर्गत अपने गाँव में रहने वाले भारतीय के लिए बहुत प्रिय है।"[1]

तथापि कार्यक्रम ने यह निर्दिष्ट किया कि संघ "अपनी पूरी शक्ति के साथ समाजवादी विचारों, जिस रूप में आज उन्हें समझा जाता है, को प्रचारित-प्रसारित करने तथा तर्कसम्मत एवं वैज्ञानिक तरीक़े से उनकी रक्षा करने को अपना दायित्व मानता है।"

भारतीय क्रांतिकारी संघ की समाजवादी स्थापनाएँ क्रांतिकारी-सामुदायिक अथवा ग्रामसमाज-कबीलाई किस्म के आदिम समाजवाद से जुड़ी हुई थीं।

---

1. इज़्वेस्तिया, ताशकंद, 4 जुलाई, 1930, पृ॰ 2

आरंभिक वर्ग संबंधों को जोकि बलूचिस्तान के निवासियों तथा डूरंड रेखा[1] के सहारे (पामीर की तलहटियों से लेकर क्वेटा-पिशिन के ऊँचे इलाको तक) रहने वाले कबीलों का विशिष्ट गुण था—उन हिस्सों से आने वाले क्रांतिकारियों ने विश्वसनीय समाजवादी संबंधों के लक्षण के रूप मे व्याख्यायित किया गया। वे यह नही देख पा रहे थे कि समाज की सामुदायिक संरचना मे वे शक्तियाँ कितनी गहरी थी जोकि उसे तोडने का प्रयास कर रही थी। उनकी समझ यह थी कि मार्क्स व लेनिन के समाजवाद को अपनाने मे कोई तुक नही थी क्योंकि उनके क़बीलो की रोजमर्रा की ज़िंदगी मे समाजवाद का वैसे ही प्रभुत्व था। उन्होंने साम्राज्यवादी प्रभुत्व का तथा स्थानीय पूँजीपतियों का हिम्मत के साथ विरोध किया क्योंकि उनका अनुभव था कि स्थानीय, भारतीय पूँजीवाद भी क़बीलो की पारपरिक जीवन शैलियों की दृष्टि से काफ़ी हद तक विदेशी था। उन्होंने उत्पादन व वितरण की सामुदायिक व गोत्रवादी पद्धति की ओर, प्राचीन भारतीय काल—'भारत के स्वर्ण युग'—की ओर लौटने का आह्वान किया। उनकी दृष्टि मे, ऐसा करके वे पूँजीवादी विकास के विनाशकारी परिणामों से राष्ट्र को बचा सकते थे।

भारत मे होनेवाली क्रांति की समस्याओं, उसके चरित्र, उसकी चालक शक्तियों तथा विकास की अवस्थाओ आदि को सघ के राजनीतिक कार्यक्रम में बहुत कम प्रमुखता मिली। इस पूरे संदर्भ मे सिर्फ़ इतना कहा गया कि सामाजिक एव राजनीतिक क्रांतियाँ एक साथ होनी चाहिए तथा सघ "आज से ही सामाजिक एव राजनीतिक क्रांति के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मार्ग प्रशस्त करने व भूमि तैयार करने को कृत सकल्प है।" सघ के सदस्यो के विचारों को इस रूप मे रखा जा सकता है: भारत मे एक साथ होने वाली सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांति का असर यह होगा कि प्राचीन भारतीय सामुदायिक संस्थाएँ पुनरुज्जीवित व पुनर्स्थापित हो जाएँगी तथा उसके बाद एक स्वाधीन "सघीय गणराज्य स्थापित होगा जिसमे मेहनतकश लोगो के अधिकारो की रक्षा होगी व किसानो के हितो का ध्यान रखा जायेगा" यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि सघ ने मेहनतकश लोगों के हितों की रक्षा का तथा किसानों का ध्यान रखने की पूर्व कल्पना की। 'ज़मीदारों तथा राजाओं की भूमि का राष्ट्रीयकरण' करने की भी पूर्व कल्पना की।

इन लक्ष्यों का निर्धारण किया जाना सघ के सदस्यों की राजनीतिक समझ के विकास में मील का पत्थर था ख़ासकर इसलिए भी कि भारत में राष्ट्रीय

---

1. डूरंड रेखा अफ़ग़ानिस्तान व हिंदुस्तान के बीच की सीमा थी। अफ़ग़ान सरकार तथा ब्रिटिश मिशन (जिसका नेतृत्व भारत मे ब्रिटिश औपनिवेशिक मत्रिमडल मे विदेशी मामलों के मंत्री जी० एम० डूरड ने किया था) के बीच वार्तालाप के परिणाम स्वरूप 1983 मे यह रेखा स्थापित की गई।

मुक्ति आंदोलन के नेता महात्मा गांधी किसानों पर जमींदारों व राजाओं के पैतृक शासन की वकालत से आगे जा ही नहीं सके। मेहनतकश लोगों के हितों की रक्षा से संबंधित महत्त्वपूर्ण बिंदु राजनीतिक कार्यक्रम में कहीं नहीं दिए रहे थे। इन्हें कुछ समय बाद शामिल किया गया होगा। बहरहाल, इन्हें कार्यक्रम के तत्वों के रूप में अगस्त 1920 में निश्चित रूप से मजोर द्वारा सूचित किया गया था, जो पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस में संघ के दूतों में से एक थे।

कहने का आशय यह था कि, संघ के सदस्यों की राय में, मुक्ति के एकदम बाद ही भारत में समाजवाद कायम किया जाना था। राजनीतिक कार्यक्रम में स्पष्ट किया गया कि "इस संघ का यह पक्का विश्वास है कि भारत को उन कड़वे सबक को सीखने की जरूरत नहीं है जो यूरोप को सीखना पड़ा था, बेहतर तो यह ही हो कि उस पृष्ठ को अलग छोड़ दिया जाए'''यह संघ यूरोप के तथाकथित जनतंत्र के खिलाफ खुला जिहाद छेड़ने पर अटल है।"[1]

कार्यक्रम के उपर्युक्त वर्णित बिंदु कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों के संबंध में व्यक्त लेनिन के कुछ विचारों को प्रतिबिंबित करने के इरादे को प्रदर्शित करते हैं। हालांकि, आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देशों के संभावित गैर पूंजीवादी विकास की लेनिन की मूल धारणा से दूर हुए होने के कारण ये बिंदु अव्याख्यायित रह गए, तथा परिणामस्वरूप राजनीतिक कार्यक्रम में वर्णित समाजवादी प्रस्थापनाओं की संपूर्ण प्रणाली आधारहीन बनी रह गई।

इस तरह आपको भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों, जो अक्तूबर क्रांति के पूर्व बाद सोवियत रूस में प्रवासी बनकर पहुंच गए थे, के तीन राजनीतिक [illegible] के वर्णित समूहों के बारे में जानकारी मिल गई है। ये थे: सबसे पहले, [illegible] [illegible] की अस्थायी सरकार का समूह, उसके बाद, अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद का भारतीय अनुभाग, तथा सबसे अंत में, भारतीय क्रांतिकारी संघ।

कुछ लेखकों का मानना है कि भारतीय अनुभाग, प्रारंभ में जिसका [illegible] [illegible] था, बाद में, भारतीय क्रांतिकारी संघ में विलीन हो गया। इस तरह की [illegible] क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के [illegible] [illegible] 1919 में जुलाई 1920 की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भारतीय [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[1] [illegible] 27 अगस्त 1920 पृ० 1

[illegible] 122, [illegible] 1, [illegible] 29, पृ० 245

प्रचार परिषद के इरादे से अधिक अथवा परे कुछ भी प्रतिबिंबित नहीं होता। वास्तविकता यह है कि इन दो समूहों के बीच व्यक्तिगत व राजनीतिक उठा-पटक के कारण ऐसा कोई विलय नहीं हो पाया।

ओश से ताशकंद लौटने पर एम० शुल्मान ने लिखा (वह व्यापारिक मिशन पर 15 जून को वहाँ गए थे तथा अगस्त 1920 के अंत में, यानी भारतीय क्रांतिकारी संघ के तुर्किस्तान आगमन से पूर्व, ताशकंद वापस आए थे) कि जब वह ताशकंद में थे तो उन्हें अब्दुर रब्ब बर्क तथा उनका समूह वहाँ मिला तथा "भारतीय क्रांतिकारी संघ तथा भारतीय अनुभाग के बीच उठापटक शुरू हो गई है", जो उनकी राय में "शुद्ध रूप से व्यक्तिगत कारणों से थी।" उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि भारतीय अनुभाग के सदस्य, जो अस्थायी सरकार के समर्थक थे, अब्दुर रब्ब बर्क से संघर्ष कर रहे थे, जिसकी शुरुआत उन्होंने काबुल में ही की थी। उक्त संघर्ष के दौरान अब्दुर रब्ब बर्क के समूह के कई सदस्य टूट कर (दल बदल कर) अनुभाग के सदस्य बन गए।

एम० शुल्मान ने स्मरण दिलाया कि इन दोनों समूहों के बीच के झगड़े इतने तीव्र हो गए कि अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद की आम कार्यवाहियों को प्रभावित करने लगे क्योंकि दोनों भारतीय संगठनों का मुद्दा कार्यकारिणी समिति ब्यूरो की प्रत्येक बैठक की विषय-सूची में होता था। अंत में यह निर्णय लिया गया कि भारतीय अनुभाग के सदस्यों को, खासकर अब्दुल मजीद को जिन्हें भड़काने वाला माना जाता था, बाकू भेज दिया जाए। भारतीय अनुभाग के सभी सदस्य बाकू के लिए रवाना नहीं हुए थे, पर जैसाकि कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के अधिकृत दस्तावेज़ों में कहा गया है, अनुभाग "तथाकथित भारतीय क्रांतिकारी संघ के खिलाफ़ डटे रहकर तमाम राजनीतिक विशिष्टता खो चुका है।" (क पा अ, द-ले स)

कहने का अर्थ यह है कि इन दोनों संगठनों का विलय कभी भी नहीं हुआ।

उक्त उठा-पटक के पीछे का 'व्यक्तिगत कारण' स्पष्ट था। अब्दुर रब्ब बर्क भारतीय उत्प्रवासियों के मध्य, सब कुछ पर अपना पूरा नियन्त्रण रखने व दिखाने को कृत-संकल्प थे। साथ ही, बरकत उल्लाह ने, अपने समूह तथा उससे संबद्ध भारतीय अनुभाग के समर्थन पर भरोसा करके, स्वतंत्र होने का दावा किया। सोवियत रूस की सरकारी मान्यता प्राप्त करने की अस्थायी सरकार की महत्त्वाकांक्षा में यह दावा बखूबी व्यक्त हो रहा था।

इस उठा-पटक के पीछे 'व्यक्तिगत' के अलावा कुछ राजनीतिक आधार भी थे। भारतीय अनुभाग ने निश्चित रूप से वामपक्ष की ओर विकास किया था। मोहम्मद शफ़ीक़ जैसे उसके कई सदस्य (मोहम्मद अली व अब्दुल मजीद) जिन्हें भारतीय अनुभाग ने कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में प्रतिनिधि बनाकर भेजा था,

जल्दी ही अपने आप को कम्युनिस्ट कहने लगे थे।

यही नहीं, भारतीय अनुभाग के सदस्य क्रांति की कुछेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं की सही समझ के आसपास पहुँच रहे थे। उनकी समझ में यह आने लगा था कि भारत की स्वाधीनता भारतीय जनता के व्यापक संघर्ष के माध्यम से, तथा प्रमुख रूप से मेहनतकशों के संघर्ष के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती थी। 'भारतीय भाइयों के नाम' पुस्तिका—भारतीय अनुभाग द्वारा प्रसारित तथा रूस व भारत में रहने वाले भारतीयों के नाम संबोधित—में कहा गया : "ये लोग (सैनिक व किसान) तथा सब प्रकार के अन्य मजदूर ही इंग्लैंड के साम्राज्यवाद व पूँजीवाद को नष्ट कर सकते हैं।" अनुभाग ने भारत की मुक्ति में सोवियत रूस को भूमिका के प्रति भिन्न नजरिया अपनाया। पुस्तिका के लेखक सोवियत रूस की ओर सशस्त्र हमले के लिए नहीं बल्कि लड़ाई में फँसे लोगों के लिए नैतिक तथा भौतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए देख रहे थे। पुस्तिका में आह्वान किया गया : "इन लोगों (सैनिकों, किसानों व मजदूरों) को जगाओ-उठाओ तथा उनके हाथों में लाल झंडा थमा दो। आपका नया मित्र—सोवियत रूस—लाल झंडा को थामे रहने में सहायता करता हुआ अंत तक लड़ेगा। किसी भी तरह की सहायता—नैतिक अथवा भौतिक—आपकी बड़ी उपलब्धि है।" (क पा अ, मा-ले सं)।

भारतीय अनुभाग के सदस्य ही वे पहले भारतीय क्रांतिकारी उत्प्रवासी थे जिन्होंने यह घोषणा की कि क्रांतिकारी प्रचार कार्य, खासकर मेहनतकशों के बीच, चलाया जाना अनिवार्य था तथा वह नई, सोवियत जीवन शैली पर केंद्रित किया जाना चाहिए। "जीवन को प्रेरित करने वाले इस समाचार को सभी मजदूरों, किसानों व सैनिकों तक पहुँचा दो। दुनिया के मजदूरों की एकता जिंदाबाद।" (क पा अ, मा-ले सं)।

भारतीय क्रांतिकारी संघ के इन मुद्दों पर—कि भारत की मुक्ति के पीछे क्या प्रमुख चालक शक्ति हो, अभियान कैसा हो व उसे कौन संचालित करे तथा क्रांति में मेहनतकशों की क्या भूमिका हो—भिन्न नजरिया अपनाया। ये वे भिन्नताएँ हैं जो प्रवासी समुदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने के लिए किए गए व्यक्तिगत संघर्ष के तत्त्वों के साथ मिलकर संघ तथा अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के भारतीय अनुभाग के बीच उभरे मतभेदों के आधार को स्पष्ट करती हैं।

जिन राजनीतिक रूप से संगठित भारतीय प्रवासी समूहों का हमने अध्ययन किया है उनके विचारों में भारत की मुक्ति के विभिन्न उग्रपंथी राष्ट्रीय-जनवादी क्रांतिकारी कार्यक्रम व्यक्त होते हैं। उन सब में अक्तूबर क्रांति का विशिष्ट तथा स्पष्ट छाप तथा विशिष्ट समाजवादी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं।

भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की आकांक्षाएँ अब भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता की माँग तक ही सीमित नहीं रही थीं बल्कि उससे काफ़ी आगे बढ़ गयीं।

कृषि क्रांति तथा अन्य ऐसे उपायों पर विचार किया जाने लगा जिनसे कि शहरों में शोषक वर्गों के वर्चस्व को सीमित व प्रतिबंधित किया जा सके तथा बड़े मेहनतकश जन-समूहों को लाभ मिल सके। यह सच ही है कि नीति संबंधी मार्गदर्शक सिद्धांतों वाले इस हिस्से का उन्होंने समुचित विवेचन नहीं किया था।

कुल मिलाकर, भारतीय क्रांतिकारियों के राजनीतिक चिंतन के विकास की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि रूस की अक्तूबर क्रांति के प्रभाव में वे राष्ट्रीय मुक्ति के लक्ष्य को गंभीर जनवादी परिवर्तन की आवश्यकता के साथ जोड़ने लगे थे। इस विचार को अब्दुर रब्ब बर्क ने ताशकंद में 2 जुलाई, 1920 को अपने भाषण में सटीक अभिव्यक्ति दी : "भारत के क्रांतिकारियों के समक्ष जो कार्यभार हैं वे अब साफ हैं—भारतीय सर्वहारा एवं किसान की श्रम शक्ति की मुक्ति, और एक ही मार्ग का अनुसरण करके इसे प्राप्त किया जा सकता है—अंग्रेजी जुए से मुक्ति।"[1]

समाजवादी विचार अब भारतीय क्रांतिकारियों की दृष्टि का अनिवार्य अंग बन चुका था। हालाँकि अभी भी अक्सर इसका अर्थ होता था समतावादी सिद्धांतों तथा प्राचीन भारत की सामुदायिक संस्थाओं के पुनरुत्थान की वकालत।

यह समझ पाना मुश्किल नहीं है कि अब तक हमने भारतीय क्रांतिकारी समूहों के जिस वृत्त का अध्ययन किया है उसमें उग्रपंथी राष्ट्रवादी कार्यक्रमों के ऐसे तत्त्व दिखते हैं जिनका स्रोत रूसी भूमि पर अक्तूबर समाजवादी क्रांति की विजय थी। उसमें विभिन्न पूरबी देशों के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की बोल्शेविक-वाद के साथ वैचारिक समानता व एकता प्रदर्शित करने की महत्त्वाकांक्षा भी प्रतिबिंबित होती है। उनमें से कुछ का विश्वास था कि इनसे (वैचारिक साम्य से) क्रांतिकारी कार्य जारी रखने के लिए कामिंटर्न तथा सोवियत रूस से भौतिक सहायता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के एक अन्य अनुभाग (इसमें मुस्लिम क्रांतिकारी थे) ने इस्लाम तथा कम्युनिज्म के बुनियादी सिद्धांतों की एकता, प्राक्-औपनिवेशिक भारत की सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं के समाजवादी चरित्र का उल्लेख करके मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिक्षा के पक्षधरों के और अधिक निकट आने की ईमानदार इच्छा को अभिव्यक्ति दी। यह भारतीय उग्रवादियों का दोष नहीं था कि उनके देश के सामाजिक आर्थिक विकास का स्तर—तथा उस पर सबसे दौर में निर्भर उनकी राजनीतिक समझ का स्तर उतना ऊँचा नहीं था कि वे निम्न-पूँजीवादी किसान समाजवाद के समता-वादी व कल्पनालोकीय विचारों को वैज्ञानिक कम्युनिज्म के विचारों से साफ तौर पर अलग कर पाते। दृढ़ साम्राज्यवाद-विरोधी रहते हुए, वे इस दिशा में आरंभिक

---

1. इक्वेस्तिया, ताशकंद, 4 जुलाई 1920, पृ० 2

क़दम उठा रहे थे। और यदि वे उस पूरे फासले को तय नहीं भी कर पाए जो उनके तथा वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के बीच था, तो भी उन्होंने कम-से-कम यह तो दिखा दिया कि वे इसके लिए ईमानदारी से प्रयास कर रहे थे।

फिर भी, इसी समय भारतीय क्रांतिकारी उत्प्रवासियों का एक ऐसा बड़ा समूह भी था जिनका अभी भी यह विश्वास था—या कहिए कि जो पहले कभी से अधिक यह माने बैठे थे—कि भारत को बाहरी शक्तियों की सहायता से ही मुक्त किया जा सकता था। उन्हें ऐसा लगा कि सोवियत राज्य क़ायम हो जाने के बाद पहली बार उस शक्ति का उदय हुआ था जो वस्तुतः इस विचार को व्यवहार में रूपांतरित करने में समर्थ थी।

असंगठित भारतीय उत्प्रवासी

भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के राजनीतिक रूप से संगठित समूहों के अतिरिक्त बीसियों—सैकड़ों भी—भारतीय देशभक्त अलग-अलग (वैयक्तिक हैसियत से) सोवियत रूस पहुंचे। कई लोगों का एक समूह के रूप में चलना आम बात थी, पर इसका कारण सिर्फ़ यही था कि इससे अफ़ग़ानिस्तान (हिन्दू कुश) को पार करके सोवियत रूस में प्रवेश करने तक की यात्रा की ज़बर्दस्त कठिनाइयों पर पार पाना उनके लिए आसान हो जाता था—रास्ते में लुटेरे दस्ते मंडरा रहे होते थे तथा रूस में गृह-युद्ध ज़ोरों से चल रहा था।[1] सोवियत रूस (प्रमुख रूप से सोवियत तुर्किस्तान में) आने वाले भारतीयों का सबसे बड़ा हिस्सा वह था जिसमें भारत के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के मुस्लिम पक्ष के प्रतिनिधि थे—जो ख़िलाफ़त आंदोलन में संलग्न थे। बड़ी संख्या में भारतीयों की सोवियत रूस की यात्रा के कारणों का वर्णन करते हुए बरकत उल्लाह ने बाद में (दिसंबर 1921 में) लिखा : बहुत से लोग, हालांकि वे यह एकदम नहीं जानते थे कि समाजवाद या कम्युनिज़्म का क्या अर्थ था, सिर्फ़ इसलिए रूस पहुंच गए कि रूस के प्रति उनके मन में उत्साह व प्यार का भाव था, क्योंकि उन्हें यह पता लग गया था कि रूस तुर्की और भारत का मित्र है। (क पा अ, मा-ले सं)

---

1. देखें : मुज़फ़्फ़र अहमद, 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में उसका गठन', पृ० 27। इस पुस्तक में रफ़ीक़ अहमद के लेख 'अविस्मरणीय यात्रा' को पुनर्प्रकाशित किया गया है जिसमें सितंबर-अक्तूबर 1920 के दौरान 80 भारतीयों के अफ़ग़ानिस्तान से सोवियत तुर्किस्तान में प्रवेश की कहानी कही गयी है। ताशकंद की ओर बढ़ते हुए, दल के सदस्य चार्दजू पहुंचकर ही एक-दूसरे से परिचित हो पाए। रफ़ीक़ अहमद ने लिखा कि 'अब तक हमें यह विश्वास नहीं हो पाता कि दूसरे व्यक्ति के दिमाग़ में क्या था।'

दो भारतीय मुस्लिम नेता—जब्बार एवं सत्तार खैरी, दोनों भाई थे तथा दिल्ली के एक धनी परिवार से संबंधित थे—नवम्बर 1918 में मास्को पहुँचे। संभव है कि वे कुस्तुनतुनिया, जहाँ उन्होंने युद्ध के दौरान गठित भारतीय मुस्लिम समिति के लिए काम किया हो सकता है, से वहाँ पहुँचे हों। मास्को यात्रा कठिन व लम्बी थी क्योंकि उन्हें पश्चिमी यूरोप के देशों से होकर गुजरना पड़ा था। ब्रिटिश सरकार की माँग पर डेनमार्क से उन्हें इसलिए देशनिकाला दे दिया गया था क्योंकि वामपंथी समाजवादियों की एक सभा में उन्होंने ब्रिटिश अत्याचारों व निरंकुशता के विरोध में विचार प्रकट कर दिए थे। बर्लिन पहुँचने पर उन्हें सोवियत सीमा की ओर बढ़ने की अनुमति मिल गयी जिसका श्रेय जर्मनी में सोवियत रूस के पूर्णाधिकारी ए० ए० आयफे को जाता है जिन्होंने उनके लिए काफ़ी कोशिश की। उन्हें पैदल चलकर सीमा पार करनी पड़ी। सोवियत भूमि पर क़दम रखते ही, वे लाल सेना की चौकी में घुस गए। वे सिर्फ़ दो रूसी शब्द ही जानते थे—कामरेड व बोल्शेविक—जिन्होंने उनके लिए प्रवेश पत्र का काम किया। लाल सेना के अधिकारियों ने उन्हें पास के एक स्टेशन पर भेज दिया जहाँ के प्रधान कोसोरोगिन ने उनका अत्यंत उदारतापूर्वक स्वागत तो किया ही, मास्को के लिए उन्हें विदा भी कर दिया। विदेशी मामलों के मंत्रालय को उन्होंने तार भेजा वह काफ़ी देर से मास्को पहुँचा, इसलिए जब खैरी बंधु राजधानी पहुँचे तो उनके स्वागत के लिए कोई नहीं आया। किन्तु बाद में उन्हें जो गर्म-जोशी व अतिथि-सत्कार मिला वह युद्धग्रस्त भारत के इन दूतों की लगनशीलता का ही पुरस्कार था।[1] जब्बार एवं सत्तार मुस्लिम लीग के वामपक्ष से सबद्ध थे। उन्होंने तत्कालीन भारतीय क्रांतिकारियों के बीच व्यापक रूप से फैली हुई इच्छा—ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़ाई में सोवियत रूस से चौतरफ़ा सहायता प्राप्त करने की इच्छा—को ही अभिव्यक्ति दी। खैरी बंधु अपने साथ सोवियत गण-राज्य के लिए एक संदेश भी लाये थे जो दिल्ली की एक बैठक में बहुत पहले—1917 के अंत में—स्वीकृत किया गया था। यह एक उल्लेखनीय दस्तावेज़ था, जो महान अक्तूबर क्रांति पर भारत की आरंभिक टिप्पणियों में एक था। इसमें विजयी क्रांति के संदर्भ में उल्लास भरा आश्चर्य का भाव था तथा बाद के दिनों में उसके प्रवाह पर चिन्ता का भाव था।

"आपकी सफलता की अवधि के दौरान भारत चुपचाप बैठा है, अंगुलियों में अंगुलियाँ फँसाए हुए''तथा इंग्लैंड के साथ मित्रता के ख़िलाफ़ आपको चेतावनी

---

1. देखें : 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज़', खंड1, पृ० 12; पेत्रोग्रादस्काया प्रावदा, 28 नवम्बर, 1918, पृ० 3; इज़वेस्तिया, 17 नवंबर, 1918

देना है'''जिन सिद्धांतों पर आधारित रूस का निर्माण आपने किया है, उस जनवादी रूस को इंग्लैंड अपने प्रमुख उपनिवेशों के आसपास बर्दाश्त नहीं करेगा।" इस चेतावनी के बाद रूसी नेताओं को बहुत-सी सलाहें दी गयी थीं जो उस समय के भारतीय क्रांतिकारियों की विशिष्टता—राष्ट्रीय अहंवाद के दर्शन—को प्रतिबिंबित करती थी। संदेश में कहा गया : "यदि आप विजयी होना चाहते हैं तो आपको कोई किसी भी तरह का समझौता नहीं करना चाहिए। भारत की स्वाधीनता आपके कार्यक्रम का अंग—प्रमुख अंग—होना चाहिए'''भारत की मुक्ति के बिना दुनिया में कोई जनतांत्रिक शासन संभव नहीं है, तथा भारत की मुक्ति का अर्थ है ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नाश।"[1] 23 नवम्बर, 1918 को लेनिन ने इन भारतीयों से मुलाकात की तथा उनके साथ लम्बी बातचीत की,[2] तथा दो दिन बाद 25 नवंबर, 1918 को अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की बैठक में प्रोफ़ेसर जब्बार ने जोशीला भाषण दिया। बैठक में इन दोनों का जोरदार स्वागत किया गया। वक्ता ने कहा कि वह "भारतीय जनगण की ओर से, सात करोड़ भारतीय मुस्लिमों की ओर से" रूसी क्रांति का स्वागत कर रहे थे। उनके भाषण ने इस बात का समुचित प्रमाण दिया कि बोल्शेविक जातीयता (राष्ट्रीयता) नीति भारतीय देशभक्तों के काफ़ी निकट थी तथा आसानी से उनकी समझ में आ रही थी, भारत के लोगों द्वारा आसानी से ग्रहण की जा रही थी। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि अक्तूबर क्रांति का भारत पर जो महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा वह आबादी के अधिक हिस्सों—खासकर मुस्लिम किसानों पर जो अभी तक राजनीतिक संघर्षों से दूर रहे थे—के जागरण के रूप में व्यक्त हुआ : राजनीतिक जीवन में सक्रियता आयी, ब्रिटिश उत्पीड़न के खिलाफ़ संघर्ष में भाग लेने की प्रेरणा मिली।

प्रोफ़ेसर जब्बार ने कहा, "रूसी क्रांति ने भारत के जनगण पर अत्यन्त प्रबल प्रभाव छोड़ा है। इंग्लैंड की तमाम कोशिशों के बावजूद राष्ट्रों (जातियों) के आत्मनिर्णय का नारा भारत पहुँच गया है'''भारत के मुस्लिमों—जो अभी तक अपने समुदाय के सांस्कृतिक विकास के अलावा अन्य किसी चीज में रुचि नहीं लेते थे—ने भी अपनी शक्ति राजनीति में लगाकर एक नया, आगे का कदम उठा लिया है। हमें आशा है कि अन्य भारतीय धार्मिक समुदाय भी विदेशी सत्ता को भारत से बाहर निकालने के लिए हमारे साथ मिलकर कार्यवाही करेंगे।" अपने भाषण का समापन करते हुए प्रोफ़ेसर जब्बार ने कहा कि "भारत की मुक्ति की उद्देश्य की पूर्ति में महान स्वतंत्र रूस के भाई भी भारत की जनता की तरफ अपने

---

1. पेत्रोग्रादस्काया प्रावदा, 20 नवम्बर 1918, पृ॰ 2
2. देखें : ए॰ एन॰ ह्रीफ़िनत्स, 'लेनिन-पूरब के जनगणों के महान मित्र', मास्को, 1960, पृ॰ 176 (रूसी में)

हाथ बढ़ाएँगे।"[1] इसके पश्चात भारतीयों ने याकोव स्वेर्दलोव को वह दस्तावेज सौंप दिया जो बाद में "भारतीय मुस्लिमों के शिष्टमंडल का ज्ञापन"[2] के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसमें विभिन्न तथ्यों को उद्धृत करके भारत में ब्रिटेन की दमनात्मक, लूटमारपूर्ण तथा निर्दयतापूर्ण नीतियों का पर्दाफाश किया गया था, भारतीय जन-गण के कष्टों का वर्णन किया गया था। दस्तावेज में यह कहा गया कि भारतीयों के बड़े जनसमूह भूखों मर रहे थे तथा करों के न कम होने वाले बोझ से दबे हुए थे, जबकि राष्ट्र की स्वतन्त्रता के योद्धाओं को निर्मम यातनाएँ दी जा रही थी तथा भारतीयों को उनके बुनियादी नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। ज्ञापन में मजदूरों की दरिद्रता व अधिकारहीनता की परिस्थिति, उनके मालिकों—ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा उनके श्रम के भयानक शोषण तथा उनके साथ निर्दय व्यवहार के बारे में भी गुस्से के साथ बयान किया गया। इसमें "अंग्रेज़ों के खिलाफ़ बग़ावत करने की भारतीय आबादी की इच्छा" को रेखांकित किया गया तथा कहा गया कि "जनता ने विदेशी दमन के आगे समर्पण नहीं किया है" तथा "वे भारत की पूर्ण स्वाधीनता की माँग कर रहे हैं"। इसका समापन इस विश्वास के साथ हुआ कि भारत के संपूर्ण जनगण सोवियत सहायता से ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भारत से खदेड़ देंगे। यह दस्तावेज प्रमुख रूप से भारत की जनता को संबोधित घोषणा की तरह था अतः इसके लिए यह महत्त्वपूर्ण था कि भारत के भीतर लोग इससे परिचित हों।

दिसम्बर के प्रारम्भ में ज्ञापन को रेडियो तार द्वारा तुर्किस्तान सोवियत गणराज्य को प्रेषित किया गया, जहाँ विभिन्न पूरबी भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया, विज्ञप्ति के रूप में प्रकाशित किया गया तथा स्थानीय आबादी के बीच व्यापक रूप से प्रसारित किया गया। स्वाभाविक ही है कि यह अफ़ग़ानिस्तान पहुँच गया जहाँ से भारतीय देशभक्तों द्वारा भारत ले जाया गया।[3]

1920 में भारतीय देशभक्तों की सोवियत तुर्किस्तान की ओर गति में तेज़ी आयी। इज़्वेस्तिया ने 6 अप्रैल, 1920 को अधिकृत सूचना दी : "भारतीय क्रांतिकारियों के दलों का तुर्किस्तान पहुँचना जारी"। एक माह बाद, 7 मई को इसी समाचारपत्र ने "भारतीय कबीलों के प्रतिनिधियों" के न ख़त्म होनेवाले प्रवाह का

1. देखें : सोवेत्सकाया वोस्तोकोवेदेनी, अंक 2, 1959, पृ० 10-12; इज़्वेस्तिया, 24 नवम्बर 1918, पृ० 3
2. उज़्बेक गणराज्य का केन्द्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 17, रजिस्टर 1, फ़ाइल 233, पृ० 32; इज़्वेस्तिया, 26 नवम्बर 1918, पृ० 1
3. उज़्बेक गणराज्य का केन्द्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 17, रजिस्टर 1, फ़ाइल 223, पृ० 26-32

उल्लेख किया। वे भारतीयों के छोटे समूह ही रहे होंगे जो न केवल ताशकंद में बल्कि तुर्किस्तान के अन्य शहरों—खासकर आंदीजान तथा ओश में—में बस गये।

लाल सेना ने उस समय तक गृह-युद्ध के मोर्चों पर निर्णायक जीतें हासिल कर ली थीं। खासकर, सितंबर (1920)-मध्य तक कोल्चक की शक्तियों को पूरी तरह से कुचल दिया था, तुर्किस्तान के इर्द-गिर्द दुश्मन के घेरे को तोड़ दिया था तथा उसे मध्य एशिया से जोड़ दिया था। हालांकि इसके बाद भी तुर्किस्तान के क्षेत्र में होकर आगे बढ़ना basmach bands की वजह से काफ़ी जोखिम भरा था, फिर भी यह कम खतरनाक हो गया। खिलाफ़त आंदोलन, जिसका भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारी तत्वों ने सीमा पार करके सोवियत गणराज्य में प्रवेश के लिए व्यापक रूप से उपयोग किया था, भी इस समय तक क्षेत्र तथा तीव्रता की दृष्टि से काफ़ी विकसित हो गया था। भारत छोड़कर युवक ब्रिटिश अत्याचारों के खिलाफ़ विरोध ही प्रदर्शित कर रहे थे।

बड़ी संख्या में निर्गमन अभियान के पीछे धार्मिक प्रेरणा भी थी—मित्र राष्ट्रों द्वारा इस्लामी तुर्की के विभाजन के खिलाफ़ तथा तुर्की के सुल्तान—जोकि सभी आस्थावानों के खलीफ़ा थे—को बंदी बनाये जाने के खिलाफ़ विरोध का प्रदर्शन था। दिल्ली में आयोजित खिलाफत कान्फ्रेंस में निर्गमन का विचार सामने आया। यहीं पर 18 अप्रैल, 1920 को अफ़गानिस्तान के अमीर अमानुल्लाह का फ़र्मान पढ़ा गया जिसमें मुजाहिरीनों (मुस्लिम खिलाफ़तवादी उत्प्रवासियों को) उनके देश आने का निमंत्रण दिया गया था। उन्होंने (अमीर ने) इन्हें राजनीतिक शरण की पेशकश की तथा सभी प्रकार के समर्थन का आश्वासन दिया। ऐसा करना काबुल सरकार के लिए महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश-विरोधी कार्यवाही थी, जो स्वयं अफ़गान जनगण के मुक्ति संघर्ष में तेजी लाने में सहायक हो सकता था।

उक्त निर्गमन में क़रीब 36000 लोग शामिल थे, हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही।[1]

पूँजीवादी इतिहास लेखन (भारतीय भी) की यह निरंतर कोशिश रही है कि भारत से खिलाफत निर्गमन अभियान की सारवस्तु व महत्त्व को कम करके आंके, इसकी ग़लत व्याख्या करे। भारतीय इतिहासकार जे० बंद्योपाध्याय यह सिद्ध करने की कोशिश में कि भारत पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव नगण्य था, कहते हैं

1. देखें: 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज़', खंड 1, पृ० 36-37

कि सिर्फ 'कट्टर धार्मिक मुस्लिम' ही देश छोड़कर गये,[1] जबकि हेगिरा के मुस्लिम तुर्की के विभाजन के खिलाफ लड़ने को प्रतिबद्ध थे। वह लिखते हैं : "भारतीयों का जो पहला दल रूस पहुँचा था उसमें सिर्फ हिजरत के मुस्लिम थे जिन्होंने भारत इसलिए छोड़ा था कि वे ब्रिटेन के प्रभुत्व में तनिक भी नहीं रहना चाहते थे, क्योंकि कि वे ब्रिटेन को तुर्कों तथा अन्य मुस्लिम जनगणों के न्यायोचित अधिकारों को चुनौती देने वाला मानते थे। उनमें से बहुत से तुर्की जाना चाहते थे ताकि खलीफ़ा को बचाने के लिए वे तुर्कों के साथ मिलकर ब्रिटेन के खिलाफ लड़ाई में शामिल हो सकें।"[2] वह यह दावा करते हैं कि हिन्दुओं ने अक्तूबर क्रांति के विचारों में लगभग कोई रुचि नहीं दिखाई। उनका कहना है कि "हिजरती मुस्लिमों[3] के अलावा इस अवधि में जो भारतीय कम्युनिज्म तथा सोवियत रूस की ओर सबसे अधिक आकृष्ट हुए थे उनमें वे क्रांतिकारी तथा छात्र रहे लगते हैं जो विदेश जा चुके थे।" चित्र को और अधिक अंधकारपूर्ण बनाने के लिए बंद्योपाध्याय ज़ोर देकर कहते हैं कि "इन लोगों में जो महत्त्वपूर्ण थे वे या तो भारत कभी आये ही नहीं, या तब आए जब वे कम्युनिस्ट रह ही नहीं गये थे।"[4] इस तर्क का सिर्फ़ यही प्रदर्शित करने के लिए उपयोग किया गया कि अक्तूबर क्रांति का भारत पर नगण्य प्रभाव ही नहीं पड़ा, बल्कि कम्युनिज्म के वैचारिक बीजों को भी उगने व फलने-फूलने के लिए इस देश में उपयुक्त भूमि नहीं मिली।

ऐसे कुछ और भी पूंजीवादी लेखक हुए हैं जिन्होंने निर्गमन आंदोलन के सीमित महत्त्व को ही स्वीकार किया। अमरीकी इतिहासकार (कार्लटन कालेज के) जॉन पैट्रिक हेयकॉक्स ने अपनी पुस्तक **कम्युनिज्म एंड नेशनलिज्म इन इंडिया** में यह माना कि "प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात ब्रिटेन तथा उसके मित्र राष्ट्रों द्वारा तुर्की के विभाजन के विरोध में" ही भारत से निर्गमन का निर्णय लिया गया, बहुत से मुस्लिमों ने तुर्की पर थोपी गई संधि की कड़ी शर्तों को स्वयं इस्लाम के लिए खतरे के रूप में व्याख्यायित किया।"[5] भारतीय मूल के अमरीकी इतिहासकार डॉ० चतरसिंह सामरा ने निर्गमन के बारे में यह कहा : "सिवियर्स संधि की शर्तों

1. देखें : बंद्योपाध्याय, 'भारतीय राष्ट्रवाद बनाम अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म', कलकत्ता, 1966, पृ० 130
2. वही, पृ० 129
3. वे मुस्लिम यात्री जिन्होंने 1920 में भारत से निर्गमन में भाग लिया।
4. जे० बंद्योपाध्याय, पूर्व उल्लिखित, पृ० 136
5. जे० पी० हेयकॉक्स, 'भारत में कम्युनिज्म एवं राष्ट्रवाद'—एम० एन० राय और कॉमिंटर्न नीति, 1920-1939, प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, प्रिंसटन, 1917, पृ० 20 (अंग्रेजी में)

के प्रति भारत में जो प्रतिक्रिया हुई वह ब्रिटिश सरकार के प्रति शत्रुता व गुस्से को व्यक्त करती थी। अतिवादी मुस्लिम संधि से इतने अधिक उत्तेजित हुए कि उन्होंने हेगिरा (धार्मिक कारणों से एक देश से दूसरे देश में उत्प्रवासन) का निर्णय किया।[1] एक अन्य अमरीकी इतिहासकार डेविड ड्रूहे, जिन्होंने यद्यपि बड़ी संख्या में लोगों के देश छोड़कर जाने पर तो अलग से विचार नहीं किया किन्तु फिर भी यह मत रख पाना सम्भव मानते हैं कि उन भारतीयों की भी, जिन्होंने सितंबर 1920 मे आयोजित पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस में भाग लिया था, मुख्य प्रेरणा "ख़िलाफ़त को समर्थन देने की इच्छा ही रही होगी।"[2] भारतीय इतिहास-कार ज़फ़र इमाम, जिन्होंने भारत पर अक्तूबर क्रांति के प्रभाव का काफ़ी वस्तु-परक ब्योरा प्रस्तुत किया है, ताशकंद—तथा बाद में मास्को—पहुँचने वाले भारतीयों के बारे में लिखा : वे सभी मुस्लिम थे तथा भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति उनकी शत्रुता मुख्य रूप से धार्मिक आधारों से निर्धारित हुई थी।"[3] और अधिक उद्धरण देने में कोई तुक नहीं है। बहुत से पूँजीवादी इतिहासकारों ने निर्गमन के मुस्लिम अभियान के अपने मूल्यांकन में उसके धार्मिक रूप पर ज़ोर दिया है तथा भावनाओं को लगी चोट का इसका मुख्य कारण माना है। तो भी यह एकदम स्पष्ट है कि निर्गमन अभियान बुनियादी तौर पर एक उग्र राजनीतिक कार्य था, जिसमें प्रमुख रूप से निम्न पूँजीवादी मुस्लिम जनसमूह संलग्न थे जिनका उद्देश्य ब्रिटिश उपनिवेशवादियों से अपनी मातृभूमि को मुक्त कराना था। इसके अलावा आंदोलन में सम्मिलित लोग इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सशस्त्र संघर्ष शुरू करने को कृत-संकल्प थे। ख़िलाफ़त का मुद्दा भारत से बड़ी संख्या में लोगों के बाहर जाने का मौका ज़रूर बन गया, उसका वास्तविक कारण नहीं था। मोहम्मद अली, जो ख़िलाफ़त आंदोलन (1919-1922) के प्रमुख सिद्धांतकार तथा नेता थे, ने इस विचार को अत्यंत स्पष्टता के साथ अभिव्यक्ति दी है।

सिविवर्स संधि का विरोध करने के लिए गये ख़िलाफ़त शिष्टमंडल की मित्र राष्ट्रों के अपूर्ण दौरे से लौटने के बाद, 1920 में उन्होंने घोषणा की कि "मेरे लिए भारत की मुक्ति का संघर्ष ख़िलाफ़त के साथ किये गये अन्यायों के मुद्दे से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था।" उन्होंने आगे कहा "भारतीय मुस्लिमों की आहत

1. सी० एम० सामरा, 'भारत एवं आंग्ल-सोवियत संबंध (1917-1947)', एशिया प्रकाशन गृह, बंबई, 1959, पृ॰52
2. एन० ड्रूहे, 'सोवियत रूस और भारतीय कम्युनिज़्म' 1917-1947, वैन, न्यूयार्क, 1959, पृ॰ 28
3. इमाम, 'पूरब-पश्चिम संबंधों में उपनिवेशवाद', पृ० 118

भावनाओं को राहत तभी मिलेगी जब भारत-भारतीयों के हाथ में होगा।"[1] हालांकि निर्गमन आंदोलन में मुस्लिम जन-समूहों की कार्यवाही व सक्रियता प्रमुख रूप से व्यक्त होती है किन्तु यह उसका ब्रिटिश-विरोधी, मुक्ति केंद्रित चरित्र ही था जिसने बड़ी संख्या में गैर-मुस्लिम युवा देशभक्तों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। आंदोलन में हिस्सा लेने वाले शौकत उस्मानी, जो बाद में भारत के प्रमुख कम्युनिस्ट नेता बने, ऐसा कहने वाले प्रमुख व्यक्ति थे। अपने संस्मरणों में उन्होंने लिखा है : "बड़े पैमाने पर अफगानिस्तान की ओर निर्गमन जो मई, 1920 में शुरू हुआ, मुस्लिमों तक ही सीमित नहीं था। बहुत से हिंदू युवकों ने भी इस मौके का फायदा उठाया तथा मुस्लिम नाम रखकर अफगानिस्तान में तथा बाद में सोवियत संघ में प्रवेश किया।"[2] निर्गमन आंदोलन राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का अभिन्न हिस्सा था तथा इसका उद्देश्य उसे तेज करना व निर्णायक सशस्त्र कार्यवाही में रूपांतरित करना था। शौकत उस्मानी आगे कहते हैं : "अफगानिस्तान जाने वाले भारतीयों का इरादा अफ़ग़ानिस्तान से सैन्य सहायता तथा हथियार प्राप्त करने का था···तथा उसके बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ छापामार युद्ध[3] शुरू करने का था।"

तो इस तरह मुजाहिरीनों का काबुल आना शुरू हुआ। अफगान राजधानी में सोवियत राजदूत या० ज० सुरित्स ने 29 मई को रेडियोग्राम से तुर्किस्तान कमीशन को सूचित किया कि 20 भारतीय मुस्लिमों का पहला दल काबुल पहुंच गया था, तथा एक अन्य दल जिसमें लगभग 8000 लोग होंगे, जल्दी ही वहाँ पहुँचने वाला था। अफ़गानिस्तान में भारतीयों की संख्या काफ़ी तेज़ी से बढ़ रही थी। निर्गमन आंदोलन ने भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए उन संघर्षकारियों के लिए अनुकूल परिस्थिति का निर्माण कर दिया जो, अक्तूबर क्रांति के प्रभाव में, काफ़ी लंबे समय से सोवियत रूस जाना चाहते थे ताकि दमन के खिलाफ़ विजयी संघर्ष के उसके अनुभवों का अध्ययन कर सकें तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने में उसकी सहायता का लाभ उठा सकें। दो वर्ष बाद, स्वयं के बारे में लिखते हुए शौकत उस्मानी ने कहा कि 1919 में जब उन्होंने बोल्शेविकों द्वारा क्रांतिकारी आंदोलनों का समर्थन देने के बारे में पढ़ा, तभी से वह रूस पहुँचने के रास्ते तलाशने लगे, तथा ऐसा करने वाले वह अकेले नहीं थे। अफगानिस्तान में ऐसे मुजाहिरीनों की संख्या बढ़ रही थी जो सीमा पार करके सोवियत रूस पहुँचने का

1. सामरिक एवं सैनिक गज़ट, 9 अक्तूबर, 1920
2. शौकत उस्मानी, 'रूसी क्रांति और भारत', मेन स्ट्रीम, 1 जुलाई, 1967, पृ० 14
3. वही

गंतव्य लिये हुए थे। अफ़ग़ानिस्तान में भारतीयों को अक्तूबर क्रांति के बारे में भारत की तुलना में कहीं अधिक जानकारी मिल गई। काबुल स्थित सोवियत दूतावास इस विषय के बारे में रुचि रखने वाले किसी भी व्यक्ति को विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराने को तैयार एवं प्रस्तुत थी। साथ ही, वहाँ कुछ भारतीय क्रांतिकारी भी थे जो सोवियत गणराज्य हो आये थे तथा लेनिन तक से बात कर पाये थे तथा जो अपने देशवासियों के बीच उपयुक्त प्रचार अभियान चलाने को अपना कर्तव्य मानते थे।

इन परिस्थितियों ने सोवियत गणराज्य में भारतीय उत्प्रवासियों की आवक को बढ़ाने में अपना योगदान दिया। रफ़ीक अहमद—जो शौकत उस्मानी की तरह ताशकंद तक पूरे रास्ते पैदल चलकर पहुँचे थे, उत्प्रवासियों के पहले दल के साथ ही—ने बाद में कहा कि अब्दुर रब्ब बर्क़ तथा प्रतिवादी आचार्य ने दिसंबर 1919 में मास्को से लौटने पर काबुल में युवा भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों से बातचीत करने में काफ़ी समय व्यतीत किया। अब्दुर रब्ब बर्क़ खास तौर पर सक्रिय थे। रफ़ीक अहमद ने बताया कि "उन्होंने हमें जानकारी दी कि रूस में ाति हो गयी थी तथा वहाँ जाने पर हम काफ़ी कुछ देख-सीख सकते थे। हम सा करने को तत्काल सहमत हो गये उस समय हमारा निरंतर चिंतन यही था क क्रांति की उस भूमि पर कैसे पहुँचा जाय।"[1]

कहने का आशय यह है कि ख़िलाफ़त अभियान ने बुनियादी तौर पर नए तत्व को जन्म दिया और वह था अक्तूबर क्रांति के देश में सैकड़ों भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का सुसंगत तथा निरंतर उत्प्रवासन आंदोलन जिसने उनके देश की मुक्ति के संघर्ष को सोवियत रूस के साथ मैत्री के विचार से जोड़ दिया। उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष में सहायता तथा समर्थन के लिए एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान के क्रांतिकारी अनुभव को प्राप्त करने के लिए, उन्होंने सोवियत रूस के मेहनतकशों की ओर आशाभरी नज़रों से देखा। शौकत उस्मानी लिखते हैं: "हम यदि यह कहें कि जो लोग अफ़ग़ानिस्तान आए थे, उनका विशाल बहुमत अपने घरों से प्रस्थान करने से पूर्व ही सोवियत संघ पर अपनी आशाएँ केंद्रित कर चुका था, तो यह तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी।"[2]

तो भी, ख़िलाफ़त आंदोलन अत्यधिक समर्पित मुस्लिमों की बड़ी संख्या थी जो अनातोलिया की ओर कूच की तैयारी कर रहे थे ताकि ब्रिटेन के ख़िलाफ़ व

---

1. देखें: मुज़फ़्फ़र अहमद, 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में उसका गठन', पृ० 16
2. शौकत उस्मानी, 'रूसी क्रांति और भारत', मेनस्ट्रीम, 1 जुलाई, 1967, पृ० 14

मित्र राष्ट्रों के खिलाफ़ कमालवादियों के सशस्त्र संघर्ष में शामिल हो सकें। यह उल्लेखनीय है कि ठीक इसी समय पर खिलाफ़त आदोलन के नेता ब्रिटेन के प्रति अहिंसक प्रतिरोध के गांधीवादी सिद्धातो की ओर आकर्षित हो रहे थे। इसमे सम्मिलित बड़ी संख्या में आदोलनकारी, अपने नेताओ की अपेक्षाओ के प्रतिकूल, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ बडे पैमाने पर लडाई छेडने को उत्सुक थे तथा निष्क्रिय विरोध के तरीकों से असतुष्ट थे। उन्होंने सोवियत रूस तथा अनातोलिया की ओर कूच करने के अपने निश्चय की घोषणा करके अपने असतोष को ही व्यक्त किया। अपने संस्मरणों की पुस्तक **पेशावर से मास्को तक** (1927 मे प्रकाशित) मे शौकत उस्मानी ने लिखा : "भारत के राजनीतिक महासागर मे 1920 मे हिजरत की जो लहर उठी थी वह अपने साथ न केवल पजाब के असतुष्ट भूमिहीन किसानो व दूकानदारो को, बल्कि देश के बुद्धिजीवी वर्ग के कुछ लोगो (स्वतन्त्रता के बारे मे जिनकी धारणा साफ थी) को भी अपने साथ बहाकर दूर-दराज देशो तक ले गई। बुद्धिजीवी वर्ग का यह हिस्सा भारतीय राष्ट्रीय आदोलन के वामपक्ष का अभिन्न अंग था जो अहिंसक असहयोग के कार्यक्रम को अतर्मन से मौन स्वीकृति देने को तैयार नही था।"[1]

किन्तु मुजाहिरीनों के दोनों—पहला तथा दूसरा—दल सोवियत तुर्किस्तान की ओर प्रस्थान करने का ही मन रखते थे। जबकि पहला दल वहाँ पहुँचकर, वहाँ रहना चाहता था, दूसरे दल का विश्वास था कि तुर्की पहुँचने का सबसे सुरक्षित व निरापद रास्ता सोवियत प्रदेशों मे होकर ही जाता था। दूसरे शब्दो मे, सोवियत अधिकारियो के समर्थन पर, तथा तुर्की तक के शेष रास्ते को पार करने मे उनकी सहायता पर इन लोगों को बेहद भरोसा था। और सोवियत अधिकारियों ने भारत की स्वतंत्रता के सेनानियो की तकलीफो को दूर करने के लिए हर संभव काम किया भी, तथा उन्हे रेल द्वारा मुफ्त यात्रा का अधिकार प्रदान किया, उनके भोजन व कपड़ो का प्रबंध किया।

भारतीयों ने उत्तरी सीमा पार करने की अनुमति के लिए अफ़ग़ान अधिकारियो के समक्ष दो बार अधिकृत रूप से आवेदन किया था किन्तु अफ़ग़ान सरकार ने इंग्लैड के साथ तनावपूर्ण सबधों के डर से निर्णय की असमर्थता ही जताई। रफ़ीक़ अहमद ने कहा कि कुछ भारतीय 'सोवियत देश की यात्रा के लिए बेचैन हो उठे।"[2] इन परिस्थितियो मे भारतीयों ने सकल्प की मानसिकता से अपनी तीसरी याचिका भेजी, जो अल्टीमेटम की शक्ल मे था तथा जिसमे स्पष्ट

---

1. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज, खंड 1, पृ० 36 से उद्धृत
2. देखें : 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश मे उसका गठन', पृ० 17

कर दिया गया था कि यदि उन्हें अनुमति नहीं दी गयी तो वे उसके बिना ही प्रस्थान कर देंगे।[1]

आखिरकार, यात्रियों को प्रस्थान करने की अनुमति मिल ही गई तथा 89 युवा भारतीयों के दूसरे दल ने—पहला दल भारतीय क्रांतिकारी संघ का था—तर्मेज़ के लिए प्रस्थान किया। इसका नेतृत्व मोहम्मद अकबर खान ने किया। अफ़गान शहर मज़ार-ए-शरीफ़ स्थित सोवियत वाणिज्य दूतावास कार्यालय ने 28 अगस्त, 1920 की तारीख़ डालकर उन्हें एक पहचान पत्र दिया—89 व्यक्तियों के भारतीय दल के प्रतिनिधि के रूप में, सोवियत रूसी गणराज्य में उत्प्रवासन व ताशकंद तक अबाधित यात्रा को आश्वस्त करते हुए। वाणिज्य दूतावास कार्यालय ने सभी सोवियत सैनिक व नागरिक निकायों व संगठनों को निर्देश दिया कि इन्हें सभी संभव सहायता दी जाए, यातायात के साधन व खाद्य सामग्री उपलब्ध कराई जाए'''। कुछ समय बाद एक अन्य भारतीय दल—जो लगभग इतना ही बड़ा था—ने सोवियत तुर्किस्तान के लिए प्रस्थान किया।[2]

10 नवंबर, को अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद की ओर से अधिकृत संदेश मास्को पहुँचा : "हमारे यहाँ (ताशकंद में) लगभग 100 भारतीय क्रांतिकारी मौजूद हैं तथा 600 तर्मेज़ में प्रतीक्षा कर रहे हैं।" (क पा अ, मा-ले सं 1) लगभग एक महीना बाद, 15 दिसंबर, 1920 के आस-पास, कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो ने ख़ास तौर से कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी समिति को सूचित किया कि "पिछले छः सप्ताहों के दौरान अफ़ग़ानिस्तान से लगभग 200 लोग यहाँ पहुँचे हैं। वे ख़िलाफ़त आंदोलन के परिणामस्वरूप भारत छोड़कर आये थे। हालांकि, यह स्पष्ट नहीं किया गया कि ये उत्प्रवासी किन शहरों में बसे थे।

बड़ी संख्या में भारतीय बुखारा (अमीर के शासन से उसके स्वतंत्र होने के बाद में) की ओर चल दिए थे। मार्च, 1921 में बुखारा स्थित सोवियत मिशन के सूचना प्रमुख फादकिन ने अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद को सूचित किया कि "पुराने बुखारा में लगभग 150 भारतीय मुस्लिम तथा 20 बंगाली हैं।"[3] इसका अर्थ है

1. देखें : 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में उसका गठन', पृ० 17
2. वही, पृ० 17, 19
3. एम० शुलमान का मत था कि दिसंबर 1920 तक ताशकंद व बुखारा में 150 और 200 के बीच भारतीय थे। कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के अधिकारी आई० कुतुज़ोव ने 30 दिसंबर, 1920 को लिखा कि "पुराने बुखारा में 70 भारतीय हैं जिनके साथ राजनीतिक कार्य किया जाना चाहिए", ये उन उत्प्रवासी व्यापारियों से अलग थे जिनके साथ, उनकी राय में, ऐसा कार्य करने की कतई कोई तुक नहीं थी। भारतीय क्रांतिकारी समिति के एक

कि 1920 के अंत तक ताशकंद में 100 से लेकर 110 भारतीय क्रांतिकारी उत्प्रवासी थे। बहुत से भारतीय अदिजान में बस गये थे।[1]

भारतीयों का एक बड़ा समूह बाकू (लाल सेना द्वारा उसे मुक्त कराए जाने के बाद) में एकत्र हो गया। इसमें ज्यादातर वे लोग थे जो तुर्की, ईरान व इराक में ब्रिटिश अधिकार सेना की सेवा छोड़कर भाग आये (भगोड़े) थे। इनके अलावा वे भारतीय भी थे जो मध्य सोवियत एशिया तथा ईरान से आये थे तथा किसी भी क़ीमत पर अनातोलिया पहुँचकर कमालवादियों से मिल जाने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे थे। अज़रबेजान केंद्रीय प्रेस एजेंसी के तत्वावधान में। जून, 1920 को बाकू में भारतीय अनुभाग की स्थापना की गयी। यह एक किस्म का संपादकीय समूह था जो सोवियत प्रचार सामग्री के उर्दू, हिंदी, पुश्तू व अरबी[2] में अनुवाद तथा प्रकाशन कार्य में जुटा हुआ था। साथ ही, इसने एक पाक्षिक समाचार पत्र आज़ाद हिन्दुस्तान का उर्दू में प्रकाशन भी किया जो इस्लाम के सिद्धांतों द्वारा निर्देशित था तथा जिसने अंग्रेज-विरोधी व साम्राज्यवाद-विरोधी प्रचार-कार्य का संचालन किया और सोवियत रूस के साथ समझौता व मित्रता के पक्ष में अभियान चलाया। अक्तूबर, 1920 में प्रकाशित आज़ाद हिन्दुस्तान का एक पूरा अंक पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस को समर्पित था।[3]

ब्यौरे के अनुसार 1920 के अन्त तक ताशकंद में 104 भारतीय थे। (देखें: अक्तूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फ़ाइल 488, पृ० 3) कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो की रिपोर्ट (मई के अंत से 15 जून, 1921 तक) का संकेत था कि 1921 के मध्य तक भी 80-90 से कम भारतीय वहाँ नहीं थे।

1. अस्थायी अखिल भारतीय क्रांतिकारी समिति की रिपोर्ट में उदाहरण के लिए यह कहा गया कि 'दस-पंद्रह साल पहले सोवियत रूस आये भारतीयों का छोटा-सा समुदाय वहाँ (अदिजान में) छोटे दूकानदारों व व्यापारियों के रूप में वहाँ रहा था'''उनके बीच प्रचार-कार्य किया गया था। परिणामस्वरूप करीब 25 युवक भारतीय क्रांतिकारियों के साथ काम करने को सहमत हो गए।' (अक्तूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 495, रजिस्टर 68, फ़ाइल, 413, पृ० 118)
2. 'अज़रबेजान केन्द्रीय प्रेस एजेंसी के बाकू स्थित भारतीय अनुभाग की प्रगति रिपोर्ट—तीन महीनों की अवधि के लिए', 27 सितंबर, 1920 (क पा अ, मा-ले स)
3. अक्तूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फ़ाइल 44, पृ० 6

दरअसल, अपने ही इस मत को खंडित करते हुए—कि मुस्लिमों पर ही अक्तूबर क्रांति का प्रभाव पड़ा था तथा उन्होंने ही सोवियत रूस की ओर कूच किया था—बंद्योपाध्याय ने एक हिन्दू—शिवनाथ बनर्जी—की शिक्षाप्रद कहानी का बखान किया। वह काबुल इसलिए गये थे कि वहाँ से इंजीनियरिंग का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए जर्मनी जा सकें। किन्तु काबुल में कम्युनिस्ट साहित्य पढ़ने के बाद, बनर्जी ने 1922 में भारतीयों के एक नए दल के साथ सोवियत रूस के लिए प्रस्थान किया। वहाँ रहकर उन्होंने, पूरब के मेहनतकशों के लिए (स्थापित) कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय से डिग्री ली तथा मार्क्सवादी बन गये, हालाँकि वह कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य कभी नहीं बने।[1] बंद्योपाध्याय यह दावा करते हैं कि भारतीय मुस्लिमों का नया दल सोवियत रूस के लिए रवाना इसलिए हुआ था कि अफ़ग़ान सरकार ने उन्हें शरण देना अस्वीकार कर दिया था।[2] किन्तु ज़ाहिर है कि वास्तविक कारण यह नहीं था। पूरे दल के सामने, परिणामस्वरूप बनर्जी के सामने भी, भारत लौट आने का मौका तो था ही, और उस स्थिति में भारतीयों को किसी ख़तरे का भी सामना नहीं करना पड़ता। फिर भी वे सोवियत रूस गये और इस कारण से ब्रिटिश अधिकारियों की नजर में एकदम भगोड़े—विद्रोही बन गए। यही नहीं, इंजीनियर बनने के अपने न जाने कब से सँजोए सपने को तिलांजलि देकर बनर्जी रूस में लगभग दो वर्ष तक रहे। वह 1925 में भारत लौट आये तथा अपने देश के ट्रेड यूनियन आंदोलन के प्रमुख नेता बन गये। बनर्जी की कहानी इस बात को एकदम स्पष्ट करती है कि अक्तूबर क्रांति ने आम भारतीयों के चिन्तन को तथा उनके व्यवसाय चयन को प्रबल रूप से प्रभावित किया।

यदि अफ़ग़ान सरकार ने ब्रिटेन के दबाव में उत्प्रवासियों के प्रवाह को अवरुद्ध नहीं किया होता तो सोवियत रूस में भारतीयों की संख्या और भी बड़ी होती। तुर्किस्तान केंद्रीय कार्यकारिणी समिति के विदेश संबंध विभाग द्वारा 13 अगस्त, 1920 को विदेशी मामलों के उपमंत्री, एल० एम० कराखान के नाम मास्को भेजी गयी अधिकृत रिपोर्ट में भारतीय मुजाहिरीनों के पहले दल के प्रतीक्षित आगमन के संबंध में कहा गया : "पंजाब तथा पेशावर से शरणार्थियों का पहला दल—600 में से 85 लोगों का—ताशकंद पहुँचने ही वाला है।"[3] इस रिपोर्ट से केवल एक ही अर्थ निकाला जा सकता था और वह यह कि 600 लोग प्रस्थान करने को तैयार थे जिनमें से केवल 85 या 89 को ऐसा करने की अनुमति दी गयी, जैसाकि अन्य

1. देखें : जे० बंद्योपाध्याय, 'भारतीय राष्ट्रवाद...', पृ० 131
2. वही, पृ० 132
3. सोवियत सैनिक केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 110, रजिस्टर 1, फ़ाइल 96, पृ० 50

रिपोर्टों से भी समझ पड़ता है। भारतीय क्रांतिकारी मोहम्मद सादिक ने 27 अप्रेल, 1921 को चार्दझू से ख़बर दी कि "अफ़गान अधिकारियों ने 500 भारतीय उत्प्रवासियों को, जो रूस की ओर बढ रहे थे, मज़ार-ए-शरीफ़ मे गिरफ़्तार कर लिया है।" अदिजान स्थित कामिटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के प्रतिनिधि श्कोलिक ने 18 मई, 1921 को ताशकद को सूचित किया कि "जरकद तथा कशगारिया होकर भारत से रूस की यात्रा करने वाले 36 भारतीयों को ब्रिटिश वाणिज्यदूत के आदेशों की पालना के क्रम मे हिरासत मे ले लिया गया था तथा पहरे मे वापस भारत भेज दिया गया था। हमारी यह समझ है कि वे इस देश को आने वाले एक शिष्ट मंडल के सदस्य थे।" (क पा अ, मा-ले स।)

यह मानने के आधार हैं कि अफ़गान अधिकारियों ने अफ़गानिस्तान छोड़ने के इच्छुक लोगों के दलो व समूहो के गठन की प्रक्रिया मे भी हस्तक्षेप किया होगा तथा सिर्फ़ उन्ही को इनमे शामिल करवाने का हर संभव प्रयास किया होगा जो सोवियत रूस की बजाय तुर्की जाना चाहते थे। यही नहीं, ताशकंद स्थित अफ़गान मिशन ने तुर्किस्तान मे पहले से बसे भारतीयों को जल्दी-से-जल्दी भारत वापस लौटने के लिए फुसलाने-समझाने का हरसंभव प्रयास किया था। उदाहरण के लिए, एम० एन० रॉय द्वारा हस्ताक्षरित भारतीय क्रांतिकारी समिति की रिपोर्ट मे अनुमान के रूप मे नहीं बल्कि तथ्य के रूप मे यह कहा गया कि "अफ़गान अधिकारियों ने, रूसी भूमि पर किए जा रहे कार्य की काट करने तथा अफ़ग़ानिस्तान मे भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार के कारण गिरी हुई प्रतिष्ठा को दुरुस्त करने की इच्छा से, ताशकद मे भारतीयो को हर तरीके से फुसलाया-ललचाया कि वे अफ़गानिस्तान वापस आ जाएँ। उन्होंने भारतीयों को धन, घोड़े तथा पासपोर्ट उपलब्ध कराए तथा सैनिक स्कूल के कैडेटों तक को ताशकंद छोड़ने को राजी करने की जी-तोड़ कोशिश की।"[1] उपरोक्त-वर्णित तथ्य हालांकि अधूरे हैं तो भी इससे इस बात का अंदाज लग जाता है कि बड़ी सख्या मे भारतीय सोवियत रूस मे प्रवेश करने का दृढ निश्चय किए हुए थे, तथा इस बात का भी कि उनमे से कितने ऐसा कर पाने मे व कुछ समय तक सोवियत गणराज्य मे बने रहने मे सफल हो पाए।

चूँकि लगभग आधे उत्प्रवासियो ने जल्दी-से-जल्दी तुर्की पहुँचने के प्रयास किए थे, अतः न केवल सोवियत मध्य एशिया से काकेशस तथा वहाँ से बाकू की ओर, वल्कि विपरीत दिशा में भी, ताशकंद होकर अफ़ग़ानिस्तान भी निरंतर जन-प्रवाह

---

1. देखें: 'अस्थायी अखिल भारतीय केंद्रीय क्रांतिकारी समिति द्वारा तीन महीनों—अक्तूबर 1920-जनवरी 1921—के दौरान किए गये काम के बारे में रिपोर्ट', (अक्तूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फाइल 488, पृ० 4)

जारी था। यहाँ देखने की बात यह है कि बिना किसी अपवाद के, भारतीय कभी भी तुर्की नहीं पहुँच पाए और बाकू लौट आये क्योंकि तुर्की अधिकारियों ने उन्हें अनुमति देने के मुद्दे पर टका-सा जवाब दे दिया।[1]

सोवियत रूस में भारतीयों के प्रवेश को बिल्कुल भिन्न तरीके से अनुमति मिली थी। तुर्किस्तान, बाकू तथा अन्यत्र के सैनिक और नागरिक अधिकारियों ने उनका शानदार तथा खुले दिल से स्वागत किया, यह उन लोगों के लिए स्वाभाविक ही था जो अपने देश में जोश के साथ क्रांति कर रहे थे, भारतीयों को संघर्ष में अपने साथियों के रूप में देखना चाहते थे तथा बिना विलंब किए उनकी सहायता के लिए आगे आने को तैयार थे। रफ़ीक अहमद ने स्मरण दिलाया कि जब तर्मेज फ़ोर्ट की रक्षक सेना को भारतीयों के एक दल के वहाँ पहुँचने की खबर मिली तो लाल सेना के सैनिक व अफ़सर बैंडबाजे के साथ उनका स्वागत करने के लिए आये तथा उन्हें विशिष्ट आगंतुकों की तरह फ़ोर्ट लिवा ले गये।[2]

उल्लेखनीय यह है कि, उन तमाम दिक्क़तों-तकलीफ़ों के बावजूद जिनका सामना सोवियत रूस आने के इच्छुक भारतीयों को करना पड़ता था—भारतीय वहाँ पहुँचे, जिसका अर्थ है कि सोवियतों की आकर्षण शक्ति वास्तव में अत्यंत प्रबल थी। मोहम्मद अकबर खान के नेतृत्व वाले दल के आगे बढ़ने की कहानी इस दृष्टि से बेहद ठोस साक्ष्य प्रस्तुत करती है।

जब नावों में बैठकर भारतीय तर्मेज से आमू दरिया मे चले तो उन्हें बीच रास्ते,

---

1. उदाहरण के लिए, पूरब में प्रचार एवं कार्यवाही की बाकू समिति ने 9 फ़रवरी, 1921 को ताशकंद को सूचित किया कि अज़रबेजान स्थित तुर्की मिशन 33 भारतीय उत्प्रवासियों को 'अनातोलिया नहीं भिजवा पाया है' तथा उसने बाकू प्रचार परिषद से 'उन्हें अफ़ग़ानिस्तान रवाना कर देने' का आग्रह किया। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए बहुत-सा साक्ष्य उपलब्ध है। इस संदर्भ में अनातोलिया के अधिकारियों के व्यवहार के बहुत से कारण थे। कमालवादियों के पास मनुष्य शक्ति संसाधनों की कोई कमी नहीं थी तथा शायद उन्हें खिलाफ़तवादियों की राजनीतिक स्थिरता के बारे में भी भरोसा नहीं था क्योंकि कमालवादी क्रांति का निशाना मित्र राष्ट्र ही नहीं थे, सुल्तान भी था जोकि खिलाफ़त आंदोलन का नामधारी झंडा बना हुआ था। इसके अलावा, कमालवादियों को डर था कि वे भारतीय, जो सोवियत रूस में होकर गुज़रे थे, तुर्की जनता पर बोल्शेविक प्रभाव का अतिरिक्त स्रोत बन जाएँगे।
2. देखें: मुज़फ़्फ़र अहमद, 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में उसका गठन', पृ० 19

केर्की फोर्ट के इलाके में basmach bands ने लूट लिया तथा बंदी बना लिया। उन्हें पच्चीस दिन तक बंद रखा गया—पीटा गया, अपमानित किया गया तथा यातना दी गई। उनमें से ग्यारह लोगों की नृशंस हत्या कर दी गयी। कई मुजाहिरीन बच निकलकर वापस अफगानिस्तान पहुँच गये। basmach band पूरे दल को गोली से उड़ाने वाले ही थे कि लाल सेना के दस्ते के वहाँ पहुँच जाने से उन्हें पीछे हटना पड़ा, तथा उसके बाद लाल सेना के केर्की फ़ोर्ट रक्षादल ने उनका गर्मजोशी के साथ स्वागत किया और उनके रहने का प्रबंध किया।' फिर भी यात्रियों की यंत्रणा का अंत नहीं हुआ क्योंकि कई basmach bands ने फोर्ट पर हमला बोल दिया। इसके बाद कुछ भारतीयों ने लाल सेना के साथ मिलकर प्रतिक्रांतिकारियों के हमलों को परास्त करने के इरादे से आमू-दरिया से दिखनेवाले क्षेत्र की रक्षा करते हुए खाइयों में सात दिन बिताए।[2] 1922 में शौकत उस्मानी ने एम० एन० राय को लिखा, "हम तब तक लड़े जब तक कि हमने रक्षक सेना को बचा नहीं लिया।" (क पा अ, मा-ले सं।) जब दुश्मन के हमले का मुँह-तोड़ जवाब दे दिया गया तथा फ़ोर्ट के वासियों के सामने से तात्कालिक खतरा टल गया तो उसकी छोटी-सी रक्षक सेना ने प्रत्याक्रमण कर दिया। पीछे हटते हुए दुश्मन का तीन भारतीयों—रफ़ीक अहमद[3], शौकत उस्मानी तथा मसूद अली शाह[4]—ने खदेड़ा। पहले दोनों व्यक्ति बाद में कम्युनिस्ट बन गए।

मोहम्मद अकबर शाह का दल, हालांकि उसे लगभग नष्ट कर दिया गया था, 22 अक्तूबर को चार्दशू पहुँचा। चार्दशू तथा मेर्की की जागीरों में सोवियत रूसी वाणिज्यदूत स्कोरिनोव ने 22 अक्तूबर, 1920 के अपने एक तार में सूचना दी कि "इस शहर में 73 भारतीय क्रांतिकारी आ पहुँचे हैं जिन्हें आज ही ताशकंद भेजने का मेरा विचार है।" (क पा अ, मा-ले स) उनमें से 36 ने ताशकंद जाने से इनकार कर दिया तथा घोषणा कर दी कि वे कमाल के अलावा अन्य

---

1. देखें : मुज़फ़्फ़र अहमद, 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में उसका गठन' पृ० 21-25
2. वही, पृ० 26
3. वही, 1967 में रफ़ीक़ अहमद—जो अब बहुत बूढ़े हो गये थे—को सोवियत सरकार की स्थापना की पचासवीं सालगिरह के मौके पर मास्को आमंत्रित किया तथा उन्हें सशस्त्र प्रतिक्रांति के खिलाफ़ लाल सेना के संघर्षों में भाग लेने के लिए सम्मान पदक भेंट किया गया। (देखें : 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज़', खंड 1, पृ० 229)
4. मुज़फ़्फ़र अहमद, "भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में उसका गठन", पृ० 26,27

किसी व्यक्ति के पास नहीं जाएँगे, "चाहे उनकी जान पर ही क्यों न बन आये।"[1] उपरोक्त वर्णित कथाएँ कई तरह से उल्लेखनीय हैं। अन्य प्रासंगिक सामग्री की भाँति इनका भी सही मूल्यांकन करने के लिए यह ज़रूरी है कि सबसे पहले उन बीसियों, सैकड़ों भारतीयों—जिनसे मिलकर सोवियत गणराज्य में भारतीय प्रवासी समुदाय निर्मित हुआ था—की सामाजिक-राजनीतिक छवि की पहचान की जाए।

भारतीय क्रांतिकारी उत्प्रवासियों का सामाजिक एवं राजनीतिक रेखाचित्र

सोवियत रूस पहुँचने पर भारतीयों द्वारा भरी गयी प्रश्नोत्तरियों से उत्प्रवासी समुदाय के सामाजिक रंग का कुछ अंदाज़ लग जाता है। सौभाग्य से, 1920 के अंत में तथा 1921 के आरंभ में ताशकंद में आ बसने वाले भारतीयों द्वारा भरे गये 84 फ़ार्मों का एक पुलिंदा खोज निकाला गया है। प्रत्येक फ़ार्म में 20 प्रश्न थे।

क्रांतिकारियों के सामाजिक उद्‌भव का पता इस प्रश्न के उनके उत्तरों से चलता है कि "आपके माता-पिता का सामाजिक स्तर क्या है?" फ़ार्मों के आधार पर उत्प्रवासियों के उद्‌भव का जो वर्गीकरण सामने आता है वह भानुमती का कुनबा ही कहा जा सकता है।

छोटे किसान	17
भू-स्वामी	14
बड़े किसान	2
ज़मींदार	11
जागीरदार	4
नंबरदार	1

1. मोहम्मद अकबर खान के दल का दूसरा हिस्सा—जिसमें रफ़ीक अहमद, शौकत उसमानी तथा अन्य थे—अक्तूबर के अंत में या नवंबर के आरंभ में ताशकंद पहुँचा। एल० एम० कराखान को अपने 10 नवंबर, 1920 के पत्र में एम० एन० रॉय ने ताशकंद से लिखा : 'क़रीब दस दिन पूर्व 36 लोगों का जो दस्ता यहाँ पहुँचा था उसे तुर्कमिनों द्वारा केर्की में बंदी बना लिया गया....' भारतीय क्रांतिकारी समिति की रिपोर्ट पर विश्वास किया जाए तो उक्त दल में 37 लोग थे तथा 21 या 22 अक्तूबर, 1920 को ताशकंद पहुँचे थे। (अक्तूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फ़ाइल 488, पृ० 2)

सरदार	1
बड़े भू-स्वामी	2
कार्यालय कर्मचारी	9
व्यापारी	14
मज़दूर	2
ठेकेदार	2
बुद्धिजीवी	3

उपरोक्त श्रेणियों के अर्थ को स्पष्ट किये जाने की जरूरत है क्योंकि विशिष्ट भारतीय परिस्थितियों को ध्यान मे रखें तो यह एकदम साफ नही होता कि उदाहरण के लिए छोटे किसान व भू-स्वामी के बीच तथा इन दोनों व बड़े किसानों के बीच क्या अंतर होता है। न यह ही स्पष्ट है कि ज़मींदार क्या होते हैं क्योंकि भारत के विभिन्न भागों मे इस शब्द के अलग-अलग अर्थ लिये जाते थे। पंजाब तथा उत्तर पश्चिमी सीमांत मे इसका अर्थ बड़े किसान लगाया जाता था जबकि शेष भारत मे इसका अर्थ होता था बड़े भू-स्वामी। क्योंकि उत्प्रवासियों में इन प्रांतों के प्रतिनिधियों का वर्चस्व था अतः इस विशेष संदर्भ मे इस शब्द का अर्थ भू-स्वामी किसान था न कि बड़े भू-स्वामी। 'क्या आपके पास संपत्ति है?' इस प्रश्न के उत्तर से इस विषय के संदर्भ मे हमारे लिए रुचि की सीधी जानकारी मिल सकती है। अप्रत्यक्ष जानकारी 'शिक्षा' शीर्षक के अंतर्गत दिए गये उत्तर से मिल सकती है। इस शीर्षक के हवाले से किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए क्योंकि किसी भी व्यक्ति की सामाजिक हैसियत उसकी औपचारिक शिक्षा में भी व्यक्त होती है।

उपरोक्त शीर्षकों के अंतर्गत की गयी प्रविष्टियों के अध्ययन से यह साफ हो जाता है कि भू-स्वामियों, छोटे किसानों, बड़े किसानो व ज़मींदारों की संपत्ति-हैसियत लगभग एक-सी थी तथा ये सब भू-स्वामी किसान थे। 17 छोटे किसानों के परिवारो से आने वाले उत्प्रवासियों मे से केवल एक ने यह कहा कि उसके पास संपत्ति नही थी। जबकि 14 भू-स्वामी परिवारो से आए हुओं मे से तीन संपत्ति-हीन थे, तथा ज़मींदारों मे से छः इस श्रेणी मे आते थे। दो किसानो मे से एक के पास 'भूमि तथा मकान' थे जब कि दूसरे के पास कोई संपत्ति नहीं थी। शायद ये सभी संपत्तिहीन वे किसान थे जो कि बरबाद हो गए थे। इन तीनो श्रेणियों के शेष व्यक्तियों के पास कुछ-न-कुछ संपत्ति थी जो फ़ार्मों में एक ही तरह से भरी गयी थी। उदाहरण के लिए, "मेरे पास कुछ भूमि तथा एक मकान है", या केवल 'भूमि' तथा केवल 'मकान' या 'एक से अधिक मकान'। सिर्फ दो उदाहरण ऐसे है जहाँ किसानों ने सुनिश्चित रूप से उत्तर दिया कि उनके पास 120 जरीब भूमि अथवा 25 जरीब भूमि (एक जरीब = 4043,336 वर्ग मीटर) थी।

'शिक्षा' शीर्षक में भी हमारे निष्कर्ष को पुष्ट किया। किसानों के परिवारों में आने वाले उत्तरदाताओं में, एक ने अपूर्ण उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, दो सैकंडरी शिक्षा प्राप्त थे, अन्य दो ने सिर्फ प्राथमिक शिक्षा प्राप्त की थी जबकि शेष 12 (इस श्रेणी का बहुमत) निरक्षर थे।

भू-स्वामियों व जमीदारों के समूहों ने जो चित्र प्रस्तुत किया वह कुछ भिन्न किस्म का था। उनके शैक्षिक स्तर स्पष्ट रूप से ऊँचे थे। भू-स्वामियों में एक उच्च शिक्षा-प्राप्त था, तीन अपूर्ण उच्च शिक्षा-प्राप्त थे, एक सैकंडरी स्तर तक तथा तीन प्राथमिक स्तर तक शिक्षित थे, दो ने सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त किया था तथा तीन निरक्षर थे। जमीदारों में से तीन ने अपूर्ण उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, चार सैकंडरी व दो प्राथमिक स्तर तक पढ़े हुए थे, व अन्य दो निरक्षर थे। *इस समूह में काफी* हद तक अधिक संपन्न किसान रहे होने चाहिए।

इन तथ्यों को निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। क्योंकि उन दो व्यक्तियों में भी जो अपने आपको किसान कहते थे, एक उच्च शिक्षा प्राप्त था तथा दूसरा निरक्षर। अब यदि यह मान लिया जाए कि सुशिक्षित खिलाफ़तवादी ही विदेश यात्रा करने वाले थे तो इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि भू-स्वामी समूह का तुलनात्मक रूप से ऊँचा शैक्षिक स्तर इस बात के आगे प्रश्न चिह्न नहीं लगाएगा कि इस समूह में प्रमुख रूप से भू-स्वामी किसान थे।

दूसरे सबसे बड़े समूह—जिसमें 14 व्यक्ति थे—में वे लोग थे जो जन्म से व्यापारी थे। उनमें से छः दूकानदारों के पुत्र थे जिन्होंने अपने माता-पिता से विरासत में कोई संपत्ति प्राप्त नहीं की। केवल एक व्यक्ति—जो बड़े व्यापारी का पुत्र तथा स्वयं भी बड़ा व्यापारी था—ऐसा था जिसके पास तीन मकान, छः दूकानें व एक गोदाम था। अन्य लोगों की संपत्ति को 'मकान व भूमि' तथा 'दूकान एवं मकान' के रूप में वर्णित किया गया था। इस समूह के शैक्षिक स्तर से भी यह बात साफ होती थी कि इसमें छोटे दूकानदारों का वर्चस्व था। इस समूह में चार अशिक्षित थे, तीन ऐसे थे जो प्राथमिक शिक्षा के परे नहीं गये, दो सैकंडरी स्तर तक पढ़े थे, तीन के पास अपूर्ण उच्च शिक्षा का प्रमाण था व सिर्फ दो ऐसे थे जो उच्च शिक्षा प्राप्त थे। बड़े भू-स्वामी वर्ग में जागीरदारों तथा सरदारों की संतानें थीं।

जागीरदारों ने अपनी संपत्ति का मूल्यांकन कुछ अस्पष्ट ढंग से ही किया—उनके उत्तर आम तौर पर 'हाँ' तक ही सीमित थे, हालाँकि उनमें से एक ही ऐसा था जिसने अधिक सटीक उत्तर देते हुए लिखा था : "हाँ, बहुत सारी संपत्तियाँ किंतु जागीरदारों का समूह काफ़ी छोटा था—उसमें सिर्फ चार लोग थे—तथा सरदारों का समूह और भी छोटा था, उसमें सिर्फ दो ही लोग थे। जहाँ तक बड़े भू-स्वामियों का सवाल है वे सामंती राजाओं के परिवारों से संबद्ध रहे होंगे, जैसे

राजा महेंद्रप्रताप थे। भारतीय इतिहासकार देवेंद्र कौशिक, जिन्होंने सोवियत एशिया में भारतीय प्रवासी समुदाय के प्रश्न का अध्ययन किया था, का मत है कि उत्प्रवासियों के बीच "कुछ सामंती सरदार थे।"[1] यह सही है कि उनमें कुछ इस श्रेणी के लोग थे—कुल मिलाकर मात्र 3.5 प्रतिशत। यहाँ इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए उत्प्रवासियों के एक बड़े हिस्से का संबंध बाबुओं के परिवारों से था—जो आम तौर पर औपनिवेशिक प्रशासन के लिए काम करते थे। बुद्धिजीवियों को भी इसी श्रेणी में सम्मिलित कर लेने से इस दस्ते की संख्या 12 तक पहुँच जाती है।

अतः इस दल की सदस्यता के आधार पर भारतीय क्रांतिकारियों के सामाजिक उद्‌भव को इस तरह वर्णित किया जा सकता है :

किसान (मालिक व बँटाईदार)	44
मजदूर	2
भू-स्वामी	6
सामंती सरदार	3
व्यापारी	14
क्लर्क	12
अन्य	2

इस दल में किसान पृष्ठभूमि के लोगों की संख्या सर्वाधिक थी—लगभग 53 प्रतिशत। शहरी निम्न-पूँजीवाद तत्त्व—व्यापारियों, बाबुओं तथा अन्य वैसे ही परिवारों से आये हुए लोग दूसरे नंबर पर थे—लगभग 56 प्रतिशत। बड़े भू-स्वामियों के परिवारों में 6 प्रतिशत, तथा सामंती राजघरानों से 4 प्रतिशत से कम। मजदूरों का अनुपात नगण्य था—लगभग 2.5 प्रतिशत। उत्प्रवासियों की इस संरचना को उस समय के भारतीय समाज की सामाजिक संरचना के समान ही माना जा सकता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि अपनी क्रांतिकारी कार्यवाही की शुरुआत के समय उन सबकी सामाजिक प्रतिष्ठा उनके उद्‌भव से एकदम अलग थी (प्रश्न था : क्रांतिकारी कार्यवाही शुरू करने से पहले आपका व्यवसाय क्या था?)। भू-स्वामियों के परिवारों से संबद्ध लगभग सभी क्रांतिकारी काश्तकारी से अपना प्रत्यक्ष संबंध खत्म कर चुके थे। जिस दल को हमने अध्ययन के लिए चुना है उसमें कुल मिलाकर पाँच काश्तकार रह गए थे। 'किसान' व 'भू-स्वामी' शब्द पूरी तरह से गायब थे। और यही हाल कर्मचारियों का था। इन श्रेणियों के बदले में लोग 'सिपाही' अथवा 'नौकरी याफ़्ता' बन गए थे। ऐसे लोगों की संख्या 12 थी।

1. देवेंद्र कौशिक, पूर्वोल्लिखित, पृ॰ 76

बाबुओं की संख्या 18 तक पहुँच गयी थी। एक नयी श्रेणी—विद्यार्थियों की—का उदय हुआ जिसमें 27 लोग थे (20 विद्यार्थी विश्वविद्यालय स्तर के थे। इस श्रेणी में वे लोग भी समा गये जोकि सुविधाभोगी भू-स्वामियों तथा खाते-पीते सामाजिक समूहों (व्यापारियों, बाबुओं आदि) के प्रतिनिधि थे।

मजदूरों की संख्या दुगुने से अधिक होकर पाँच तक पहुँच गयी थी क्योंकि वे किसान भी सम्मिलित हो गए जो गाँव में बरबाद हो जाने के बाद जीविकोपार्जन के लिए शहर आ गये थे।

भारतीय प्रवासी समुदाय की सामाजिक बनावट का सबसे अधिक विशिष्ट पक्ष यह था कि जन्म से अधिकांश लोग भू-स्वामी किसान अथवा बँटाईदार थे जबकि अपने स्तर के आधार पर लगभग सभी शहरी निम्न-पूँजीवादी तत्त्व थे—बाबू, व्यापारी, छात्र अथवा नौकरी-याफ़्ता।

उनके साथ काम कर चुके उनके समकालीनों द्वारा दिये गए ब्यौरों अथवा स्वयं भारतीयों द्वारा दिये गए ब्यौरों में ऐसी अतिरिक्त सूचना मिलती है जिसके आधार पर निर्वासित क्रांतिकारियों की सामाजिक छवि का मूल्यांकन किया जा सकता है। कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के अधिकारी बर्कत ने अनातोलिया पहुँचकर कमालवादियों से जा मिलने में असफल रहने पर, मार्च 1921 में ताशकंद पहुँचने वाले भारतीयों के बारे में लिखित रिपोर्ट में कहा : "34 लोगों में से 10 बुद्धिजीवी थे जो अंग्रेज़ी बोल सकते थे तथा भारत में क्रांतिकारी आंदोलन में हिस्सा ले चुके थे। इनमें से (उन 10 में से) अधिकांश का सामाजिक स्तर या तो छोटे भू-स्वामियों जैसा था अथवा छात्रों (ज़मींदारों के बच्चे जो अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़ते थे) का। इनमें दो डॉक्टर थे तथा शेष 24 पददलित लोग थे जो एकदम निरक्षर थे तथा दिन में 5 बार प्रार्थना करने के अलावा कुछ भी कर पाने में अक्षम थे। सभी उत्प्रवासी मुस्लिम थे तथा दिल्ली, लाहौर, पेशावर और अमृतसर से आये थे। (क पा अ, मा-ले सं) अंतिम वाक्य उल्लेखनीय है क्योंकि इसका निहितार्थ यह है कि सभी उत्प्रवासी शहरों में रहने वाले थे।

शौकत उस्मानी ने रॉय को लिखे अपने पत्र में उल्लेख किया कि "ताशकंद पहुँचने वाले 36 व्यक्तियों के दल में—उस्मानी इसी दल के साथ आये थे—सिर्फ कुछेक पढ़े-लिखे साथी थे", तथा भारतीय क्रांतिकारी संघ के आम सदस्यों के बारे में उनकी टिप्पणी यह थी कि "वे सब निरक्षर थे, उनका स्वयं का कोई दृष्टिकोण नहीं था तथा वे धर्मांधता में ग्रस्त थे।" (क पा अ, मा-ले सं।)

दोनों अध्येता इस बात की पुष्टि करते हैं कि उत्प्रवासियों के बीच निरक्षरों का बाहुल्य था। ऐसे लोगों की संख्या 23 थी, जबकि प्राथमिक शिक्षा प्राप्त (जिन्हें अल्पशिक्षित भी कहा जा सकता है) की संख्या 15 थी : इन दोनों श्रेणियों को एक करने का अर्थ है दल के सदस्यों का 45 प्रतिशत। यह भी संभव है कि अन्य

दलों में अशिक्षितों का अनुपात और भी ज्यादा था—खासकर तुर्की जाने वाले दलों का।

एक और चीज़ है जिस पर नज़र टिकनी चाहिए और वह है अधूरी उच्च शिक्षा प्राप्त (लगभग बुद्धिजीवी) लोगों तथा उच्च शिक्षा प्राप्त की बड़ी संख्या (18) तथा (12)। दोनों मिलकर इस दल के सदस्यों की कुल संख्या का 30 प्रतिशत बनते थे। इसमें यदि सैकंडरी स्तर तक शिक्षितों (16) को जोड़ दिया जाए तो कुल अनुपात 50 प्रतिशत से अधिक हो जाएगा। यह सच है कि उनकी बौद्धिकता का संदर्भ मानदंड काफ़ी सापेक्ष था। तथ्य यह है कि निर्वासित क्रांतिकारियों का विशाल बहुमत 20 और 27 वर्ष[1] के बीच की आयु वाले युवाओं का था, अतः उनमें से जो शिक्षित थे वे संभावनाशील बुद्धिजीवी ही तो थे। बहरहाल, यह साफ़ है कि भारतीय आबादी के शैक्षिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से प्रबुद्ध एवं आगे बढ़े हुए हिस्से ने क्रांतिकारी कार्यवाही में भाग लिया था, तथा इस श्रेणी में ही हमें सोवियत रूस के भीतर आने वाले उत्प्रवासी प्रवाह को रखना चाहिए।

भारतीय उत्प्रवासियों की धार्मिक संबद्धता एक और ऐसा मुद्दा है जिसमें हमारी रुचि हो सकती है। शौकत उस्मानी व बर्कत दोनों ने ही उत्प्रवासियों के बीच मुस्लिमों के बाहुल्य को रेखांकित किया। फिर भी देवेंद्र कौशिक का मत है कि "यह मानना गलत होगा कि सोवियत एशिया में सक्रिय क्रांतिकारियों में मुजाहिरीनों का वर्चस्व था।"[2] यह सही है, यदि हमारा अर्थ भारत के बाहर (यूरोप में, अमरीका में तथा स्वयं सोवियत तुर्किस्तान में) के विभिन्न भारतीय क्रांतिकारी संगठनों का सोवियत रूस में प्रतिनिधित्व करने वाले शीर्षस्थ नेतृत्व से है। लेकिन यदि ताशकंद, बुखारा, बाकू, चारदंजू, अंदिजान व अन्य कुछ शहरों में रहने वाले तथा खासकर तुर्की की ओर कूच करने वाले निर्वासित क्रांतिकारियों यानी आम सदस्यों को देखें तो हम पाएँगे कि भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के मुस्लिम पक्ष के प्रतिनिधियों का ही बाहुल्य था। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, यह माना जा सकता है कि सोवियत रूस में मौजूद भारतीयों की लगभग आधी संख्या उन लोगों की थी जो तुर्की जाने को उत्सुक थे तथा अनातोलिया की यात्रा में सोवियत सहायता की प्रतीक्षा कर रहे थे।

भारतीय उत्प्रवासियों के दूसरे आधे हिस्से में वे लोग थे जो अन्य किसी स्थान के बजाय सोवियत रूस को अपनी आख़िरी मंज़िल मानते थे। जहाँ तक उनका

---

1. 89 उत्प्रवासियों के दल—जिसमें मूलतः शौकत उस्मानी व रफ़ीक अहमद भी थे—की सूची में 30 से ऊपर का एक भी व्यक्ति नहीं था। अधिकांश 27 वर्ष से कम के, तथा कुछ 20 वर्ष से भी कम के थे।
2. देवेंद्र कौशिक, 'सोवियत एशिया में भारतीय क्रांतिकारी', पृ० 76

संभव है ट्रेनिंग में उनका सम्मिलित होना अफ़ग़ानिस्तान से सोवियत तुर्किस्तान में प्रवेश की कठिनाइयों को हल्का करने का ही एक ढंग था। जैसा दिखाई पड़ता था, इस हिस्से में भी मुस्लिमों का प्राधान्य था। अन्य धार्मिक समुदायों के सदस्य अल्पमत में थे। इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है, और न ऐसा ही कुछ है जो समाजवाद के प्रति मुस्लिमों की उन्मुखता के तर्क को—जो दूर की कौड़ी से अधिक कुछ नहीं है—पुष्ट करता हो। असली मुद्दा यह है कि हिंदुस्तान के मुस्लिम इलाके सोवियत सीमा के सबसे पास थे। इसलिए इन इलाकों की आबादी, अन्य लोगों की तुलना में, रूस की क्रांतिकारी घटनाओं के प्रभाव को अधिक अनुभव कर पाती थी, साथ ही यही कारण था कि शेष भारत के निवासियों की तुलना में इन इलाकों के लोगों के लिए सोवियत गणराज्य में प्रवेश कर पाना कहीं अधिक आसान था।

सोवियत केंद्रीय एशिया में आम भारतीय प्रवासियों के धार्मिक स्वरूप के बारे में किये गये उपरोक्त मूल्यांकन को सही सिद्ध करने के लिए समुचित साक्ष्य उपलब्ध है। अधिकांश प्रवासियों की इस्लाम में आस्था के तथ्य को पहले भारतीय कम्युनिस्टों ने, तथा उनके साथ काम कर चुके सोवियत अधिकारियों ने कड़वाहट के साथ रेखांकित किया। 'कड़वाहट के साथ' का प्रयोग हम इसलिए कर रहे हैं कि आरंभिक भारतीय कम्युनिस्ट उन लोगों को क्रांतिकारी नहीं मानते थे जो राष्ट्रीय मुक्ति मात्र के परे किसी चीज के लिए लड़ते थे। उनकी दृष्टि में समाजवादी आदर्शों के लिए लड़ने वाले ही सच्चे क्रांतिकारी थे।

1920 के अंत में ताशकंद और बुखारा पहुँचने वाले भारतीयों का विवरण देते हुए एम० शुलमान ने लिखा : "ये सभी उत्प्रवासी मुस्लिम हैं जिन्होंने खिलाफ़त आंदोलन के कारण भारत छोड़ा था।" उन्होंने स्पष्ट किया कि वे लोग अपरिपक्व, राजनीतिक दृष्टि से अशिक्षित तथा अनुभवहीन तत्त्व हैं। इन्हें क्रांतिकारी एवं राजनीतिक कार्य के लिए उपयुक्त बनाने में समय, कौशल व धैर्य की जरूरत होगी।" शुलमान ने आगे कहा, "ये सभी धार्मिक क्रांतिकारी हैं" तथा "ये मुस्लिम किसी भी क्षण, अपने धर्म के लिए अपनी जान तक की कुर्बानी देने को तैयार हैं।" (क पा अ, मा-ले स) तथाकथित अखिल भारतीय क्रांतिकारी समिति (एम० एन० रॉय द्वारा स्थापित) द्वारा नवंबर 1920 में स्कोरिकोव को लिखे गये पत्र में भी यही धारणा, और भी अधिक स्पष्टता के साथ, व्यक्त हुई थी। 'चार्दजू में 19 भारतीय प्रवासियों' के प्रतिनिधि ताशकंद पहुँचे, "जिन्हें तुर्की की ओर प्रस्थान करना है···ये केवल प्रवासी हैं, क्रांतिकारी नहीं···अफ़ग़ानिस्तान से आने वाले प्रवासियों के बहुमत पर भी यही लागू होता है।" (क पा अ, मा-ले सं) प्रचार एवं कार्यवाही की बाकू परिषद ने भी 13 नवंबर, 1930 को ताशकंद अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के नाम लिखे पत्र में यही सब कुछ लिखा। पत्र में कहा

गया कि अफगानिस्तान से 35 भारतीय शरणार्थी बाकू पहुँचे तथा वे सब तुर्की ही जाना चाहते थे तथा राजनीतिक अर्थ में वे "पूरी तरह अनुभवहीन अपरिपक्व जनता" थे। (क पा अ, मा-ले स)

उपर्युक्त साक्ष्य भारतीय प्रवासियों के वस्तुपरक चित्रांकन मे काफी हद तक सहायक है। लेकिन फिर भी हर दृष्टि से नही। प्रवासियो की धार्मिक भावना व प्रतिबद्धता पर आधारित उनकी राजनीतिक अपरिपक्वता, उनकी निष्क्रियता तथा 'अनुभवहीन जनता' होने के बारे मे निकाले गये निष्कर्षों को निर्विवाद नही माना जा सकता। क्योकि खिलाफतवादियों तक मे, हालांकि उनमे कुछेक अशिक्षित थे, समुचित राष्ट्रीय राजनीतिक सजगता थी जिसके कारण ही वे कठिनतम यात्रा पर निकल पाये थे; यह अपने आप मे एक चमत्कार था, यही नही उनका उद्देश्य कमालवादियों के सशस्त्र संघर्ष मे सहयोग करके उन शक्तियों को परास्त करना था जिन्होंने उनकी मातृभूमि को पराधीन बना रखा था। इस मामले मे, उनकी धार्मिक प्रतिबद्धता तथा इस्लाम के प्रति निष्ठा ने उन्हे मुस्लिम एकता का विचार दिया, जिसे वे अच्छी तरह समझ सकते थे, तथा जिसमे तुर्की की रक्षा करते हुए भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कुचल देने की उनकी उत्कट इच्छा व मुख्य चिंता (सरोकार) पूरी तरह से प्रतिबिंबित हुई।

भारतीय क्रांतिकारी प्रवासियों का एक हिस्सा ऐसा भी था। तुर्किस्तान मे होकर लंबी यात्रा पर निकलते समय जिसके दिमाग मे तुर्की जैसी कोई चीज नही थी। उनकी एकमात्र महत्त्वाकांक्षा सोवियत गणराज्य पहुँचना थी। लेकिन क्यो? हम उनके द्वारा दिया गया उत्तर ही प्रस्तुत कर रहे हैं। पूर्ववर्णित फार्मों मे एक प्रश्न यह भी था कि "आप रूस क्यों आये हैं ?"

45 लोगों से यह प्रश्न पूछा गया तथा उनमे से अधिकांश ने जो उत्तर दिये वे इस प्रकार हैं : "भारतीय क्रांति के लाभ के लिए काम करने को", "भारतीय क्रांति की सेवा करने को", "भारत की मुक्ति के लिए", "इंगलैंड से संघर्ष करने को", "भारत की सेवा करने को","अपनी मातृभूमि की सेवा करने को" आदि। एक अन्य दल—जिसमें 17 लोग थे—के उत्तर यूँ थे: "रूस से सहायता प्राप्त करने को", "सहायता की माँग करने को", "सोवियत अधिकारियों की सहायता की तलाश मे"। सात लोगों ने घोषित किया कि वे "क्रांति मे भाग लेने के लिए" आये थे, या "क्रांतिकारी कार्य संचालित करने के लिए" आये थे या फिर बीस वर्षीय शौकत उस्मानी ने कहा "क्रांतिकारी आंदोलन मे भाग लेने के लिए।" आठ लोगों ने इस प्रकार के उत्तर दिये : "सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए तथा प्रचार कार्य सीखने के लिए।" अन्य पाँच ने कहा कि वे "बोल्शेविकों का अध्ययन करना चाहते थे" या "क्रांति करना सीखना चाहते थे", या फिर जैसा पचास वर्षीय अब्दास सुभान ने कहा कि भारतीय क्रांतिकारी रूसी क्रांति से सबक लेना चाहते थे। बयालीस

संबंध है हीगिरा में उनका सम्मिलित होना अफ़गानिस्तान से सोवियत तुर्किस्तान में प्रवेश की कठिनाइयों को हल्का करने का ही एक रूप था। जैसा दिखाई पड़ता था, इस हिस्से में भी मुस्लिमों का प्राधान्य था। अन्य धार्मिक समुदायों के सदस्य अल्पमत में थे। इसमे आश्चर्यजनक कुछ भी नही है, और न ऐसा ही कुछ है जो समाजवाद के प्रति मुस्लिमों की उन्मुखता के तर्क को—जो दूर की कौड़ी से अधिक कुछ नही है—पुष्ट करता हो। असली मुद्दा यह है कि हिंदुस्तान के मुस्लिम इलाके सोवियत सीमा के सबसे पास थे। इसलिए इन इलाकों की आबादी, अन्य लोगों की तुलना मे, रूस की क्रांतिकारी घटनाओं के प्रभाव को अधिक अनुभव कर पायी थी, साथ ही यही कारण था कि शेष भारत के निवासियो की तुलना में इन इलाकों के लोगो के लिए सोवियत गणराज्य में प्रवेश कर पाना कहीं अधिक आसान था।

सोवियत केंद्रीय एशिया में आम भारतीय प्रवासियों के धार्मिक स्वरूप के बारे मे किये गये उपरोक्त मूल्यांकन को सही सिद्ध करने के लिए समुचित साक्ष्य उपलब्ध है। अधिकाश प्रवासियों की इस्लाम मे आस्था के तथ्य को पहले भारतीय कम्युनिस्टो ने, तथा उनके साथ काम कर चुके सोवियत अधिकारियों ने कड़वाहट के साथ रेखांकित किया। 'कड़वाहट के साथ' का प्रयोग हम इसलिए कर रहे है कि आरंभिक भारतीय कम्युनिस्ट उन लोगों को क्रांतिकारी नही मानते थे जो ाष्ट्रीय मुक्ति मात्र के परे किसी चीज के लिए लड़ते थे। उनकी दृष्टि में समाज-ादी आदर्शों के लिए लड़ने वाले ही सच्चे क्रातिकारी थे।

1920 के अत में ताशकंद और बुखारा पहुंचने वाले भारतीयों का विवरण ते हुए एम॰ शुलमान ने लिखा : "ये सभी उत्प्रवासी मुस्लिम हैं जिन्होंने खिलाफ़त ांदोलन के कारण भारत छोड़ा था।" उन्होंने स्पष्ट किया कि वे लोग अपरिपक्व, ाजनीतिक दृष्टि से अशिक्षित तथा अनुभवहीन तत्त्व हैं। इन्हें क्रांतिकारी एवं ाजनीतिक कार्य के लिए उपयुक्त बनाने मे समय, कौशल व धैर्य की जरूरत ोगी।" शुलमान ने आगे कहा, "ये सभी धार्मिक क्रांतिकारी हैं" तथा "ये मुस्लिम कसी भी क्षण, अपने धर्म के लिए अपनी जान तक की कुर्बानी देने को तैयार हैं।" क पा अ, मा-ले सं) तथाकथित अखिल भारतीय क्रांतिकारी समिति (एम॰ न॰ रॉय द्वारा स्थापित) द्वारा नवंबर 1920 में स्कोरिकोव को लिखे गये पत्र ं भी यही धारणा, और भी अधिक स्पष्टता के साथ, व्यक्त हुई थी। 'बादंशू में 19 भारतीय प्रवासियों' के प्रतिनिधि ताशकद पहुंचे, "जिन्हें तुर्की की ओर स्थान करना है···ये केवल प्रवासी हैं, क्रांतिकारी नहीं···अफ़ग़ानिस्तान से आने ाले प्रवासियों के बहुमत पर भी यही लागू होता है।" (क पा अ, मा-ले सं) चार एवं कार्यवाही की बाकू परिषद ने भी 13 नवंबर, 1930 को ताशकंद अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के नाम लिखे पत्र में यही सब कुछ लिया। पत्र में

गया कि अफगानिस्तान से 35 भारतीय शरणार्थी बाकू पहुँचे तथा वे सब तुर्की ही जाना चाहते थे तथा राजनीतिक अर्थ में वे "पूरी तरह अनुभवहीन अपरिपक्व जनता" थे। (क पा अ, मा-ले सं)

उपर्युक्त साक्ष्य भारतीय प्रवासियो के वस्तुपरक चित्रांकन मे काफी हद तक सहायक है। लेकिन फिर भी हर दृष्टि से नही। प्रवासियो की धार्मिक भावना व प्रतिबद्धता पर आधारित उनकी राजनीतिक अपरिपक्वता, उनकी निष्क्रियता तथा 'अनुभवहीन जनता' होने के बारे में निकाले गये निष्कर्षों को निर्विवाद नही माना जा सकता। क्योकि खिलाफतवादियो तक में, हालांकि उनमे कुछेक अशिक्षित थे, समुचित राष्ट्रीय राजनीतिक सजगता थी जिसके कारण ही वे कठिनतम यात्रा पर निकल पाये थे; यह अपने आप मे एक चमत्कार था, यही नही उनका उद्देश्य कमालवादियों के सशस्त्र सघर्ष में सहयोग करके उन शक्तियो को परास्त करना था जिन्होंने उनकी मातृभूमि को पराधीन बना रखा था। इस मामले मे, उनकी धार्मिक प्रतिबद्धता तथा इस्लाम के प्रति निष्ठा ने उन्हे मुस्लिम एकता का विचार दिया, जिसे वे अच्छी तरह समझ सकते थे, तथा जिसमे तुर्की की रक्षा करते हुए भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कुचल देने की उनकी उत्कट इच्छा व मुख्य चिंता (सरोकार) पूरी तरह से प्रतिबिंबित हुई।

भारतीय क्रांतिकारी प्रवासियो का एक हिस्सा ऐसा भी था। तुर्किस्तान से होकर लंबी यात्रा पर निकलते समय जिसके दिमाग मे तुर्की जैसी कोई चीज नही थी। उनकी एकमात्र महत्वाकांक्षा सोवियत गणराज्य पहुँचना थी। लेकिन क्यो ? हम उनके द्वारा दिया गया उत्तर ही प्रस्तुत कर रहे हैं। पूर्ववर्णित फार्मों मे एक प्रश्न यह भी था कि "आप रूस क्यो आये हैं ?"

45 लोगों से यह प्रश्न पूछा गया तथा उनमे से अधिकांश ने जो उत्तर दिये वे इस प्रकार हैं : "भारतीय क्रांति के लाभ के लिए काम करने को", "भारतीय क्रांति की सेवा करने को", "भारत की मुक्ति के लिए", "इंगलैंड से संघर्ष करने को", "भारत की सेवा करने को", "अपनी मातृभूमि की सेवा करने को" आदि। एक अन्य दल—जिसमे 17 लोग थे—के उत्तर यूं थे : "रूस से सहायता प्राप्त करने को", "सहायता की माँग करने को", "सोवियत अधिकारियो की सहायता की तलाश मे"। सात लोगो ने घोषित किया कि वे "क्रांति मे भाग लेने के लिए" आये थे, या "क्रांतिकारी कार्य सचालित करने के लिए" आये थे या फिर बीस वर्षीय शौकत उस्मानी ने कहा "क्रांतिकारी आंदोलन मे भाग लेने के लिए।" आठ लोगों ने इस प्रकार के उत्तर दिये : "सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए तथा प्रचार कार्य सीखने के लिए।" अन्य पाँच ने कहा कि वे "बोल्शेविकों का अध्ययन करना चाहते थे" या "क्रांति करना सीखना चाहते थे", या फिर जैसा पचास वर्षीय अब्दास सुभान ने कहा कि भारतीय क्रांतिकारी रूसी क्रांति से सबक लेना चाहते थे। इयालीस

बर्गीय सरदार खान का उत्तर था कि वह रूसी क्रांति का अध्ययन करना तथा जोश होने वाली भारतीय क्रांति के तरीकों का पता लगाना चाहते थे। भारतीय क्रांतिकारी संघ के नेता अब्दुर रब्ब बर्क ने 29 जुलाई, 1921 को ल्यावी मिरेरिन को लिखा कि यह सोवियत गणराज्य की अच्छी जीवन-परिस्थितियों के कारण नहीं था कि उनका संगठन यहाँ आ गया था। "रूस के भीतर की तुलना में भारतीय रूस के बाहर कहीं अच्छी तरह से रह सकते थे। एक चीज जो भारतीय क्रांतिकारियों को रूस की ओर सबसे ज्यादा आकर्षित करती थी वह थी उसकी क्रांतिकारी चेतना व जीवट, भारत से उसकी निकटता तथा युवा क्रांतिकारियों को प्रशिक्षित करने के लिए उसके विद्यालय।" एक व्यक्ति ने कहा कि वह अंग्रेज फ़ौज से भागकर रूस आया है, जबकि एक अन्य व्यक्ति ने कहा कि वह तुर्की से अपने घर की ओर लौट रहा है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सोवियत गणराज्य में आये सभी उत्प्रवासी—प्रश्नोत्तरियों में इस बात को सिद्ध करने का समुचित साक्ष्य उपलब्ध था—उच्च स्तर की राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न थे, राष्ट्रीय मुक्ति के विचार से ओत-प्रोत थे तथा इस बात से आश्वस्त थे कि वे सोवियत संघ में व उसकी सहायता से ही भारत की स्वाधीनता के क्रांतिकारी संघर्ष के उद्देश्य को अच्छी तरह से पूरा कर पायेंगे।

साथ ही, उनमें से करीब 80 प्रतिशत—जैसाकि अध्ययन किये गये फ़ार्मों से स्पष्ट होता है—को अभी तक यह ज्ञान नहीं था (या बहुत कम था) कि सोवियत अधिकारियों से प्राप्त होने वाली सहायता का रूप क्या हो तथा उन्हें अपनी मातृभूमि की मुक्ति के लिए कैसे आगे बढ़ना था। एम० एन० रॉय ने दिसंबर 1920 के अंत में ताशकंद में भारतीयों की साधारण सभा को संबोधित करते हुए कहा: "आप सब एक चीज चाहते हैं और वह है अंग्रेजों से लड़ना, पर आप में से अधिकांश को यह पता नहीं है कि यह कैसे किया जायेगा। यही कारण है कि आप अपने स्वयं के भविष्य के क्रियाकलाप के बारे में अनिश्चित हैं।"[1] यह उचित व सही टिप्पणी थी।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि कुछेक क्रांतिकारी प्रवासी सोवियत भूमि पर जारी घटना प्रवाह को बेहतर ढंग से समझने के लिए तथा उनके महत्वपूर्ण विशिष्ट पक्षों की गहरी पकड़ प्राप्त करने के लिए यहाँ पहुँचे थे। इस दल के

---

1. 'तुर्किस्तान में भारतीय प्रवासी।' कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के अनुरोध पर बुलायी गई भारतीय क्रांतिकारियों व उत्प्रवासियों की साधारण सभा में कामरेड रॉय का उद्बोधन। (देखें: अक्तूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फ़ाइल 488, पृ० 6)

लगभग दस प्रतिशत सदस्य इस श्रेणी मे आते थे। उन्होंने यह समझ लिया था कि संगठन का कार्य, जन-समूहों के मध्य व्याख्या व प्रचार का कार्य क्रांति के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने अपने अनुभव से यह भी देख-समझ लिया था कि शस्त्र उठाकर क्रांतियों की रक्षा करना अनिवार्य था। इसीलिए प्रश्नोत्तरी मे यह उत्तर दिया गया था : "हम सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करना तथा प्रचार-कार्य सीखना चाहते हैं।"

अंत में, प्रवासियों का एक छोटा-सा किंतु सबसे ज्यादा सक्षम हिस्सा ऐसा था जिसकी समझ यह थी कि सोवियत रूस मे उनके प्रवास की सार्थकता इस बात मे निहित थी कि वे क्रांति करना सीख सकें, रूसी बोल्शेविको के अनुभव का अध्ययन कर सकें, तथा अपने स्वयं के क्रांतिकारी कार्य के लिए उससे सबक ले सकें। इस तरह के प्रवासियों की संख्या 6 प्रतिशत से अधिक नही थी। इनमे अक्सर वे ही लोग थे जिन्हें क्रांतिकारी आंदोलन मे भागीदारी का लंबा अनुभव था तथा षड्यंत्रकारी कार्यनीति से जिनका मोहभंग हो चुका था, या फिर युवा क्रांतिकारी थे जो इस प्रश्न का उत्तर तलाश रहे थे कि लड़ाई कैसे की जानी चाहिए।

राज्य सत्ता की सोवियत प्रणाली के प्रति उनका नजरिया आम असंगठित भारतीय उत्प्रवासियो की राजनीतिक छवि का प्रतीक बन गया था। दरअसल, विभिन्न सामाजिक समूहों—जो शैक्षिक स्तर तथा राजनीतिक एवं क्रांतिकारी प्रशिक्षण की मात्रा के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न थे—के प्रतिनिधियों का नजरिया न तो एक-सा था और न ऐसा हो सकता था। फ़ार्मों से प्राप्त व परीक्षित साक्ष्य इस समस्या के बारे में थोड़ी जानकारी प्रस्तुत करता है। पर वह काफी नही है, चाहे प्रश्नोत्तरियों की न टाली जा सकने वाली संक्षिप्तता के कारण ही हो। अतः उसे भिन्न प्रकार के तर्कों—अधिक गतिशील एवं विस्तृत—से जोड़ा जाना चाहिए।

भारतीय जनगण के बड़े हिस्से सोवियत रूस अथवा सोवियत रूस होकर तुर्की क्यों गये, इसे व्याख्यायित करने का अत्यंत सामान्य कारण यह था कि उन्होंने सोवियत गणराज्य को उत्पीड़ित लोगों के रक्षक के रूप मे, उनके शरण्य के रूप मे देखा क्योंकि उनकी राय मे यह एक ऐसा स्वतंत्र देश था जो अन्य जनगणों की राष्ट्रीय मुक्ति के लिए सेनानियो को सहायता देने में समर्थ भी था और इच्छुक भी।

अब्दुल करीम मुहम्मजान, 25 वर्षीय भारतीय किसान, की कहानी बड़ी विचित्र है। वह तथा उसके पिता, दोनों ही, जीवन भर अनाज उगाने वाले रहे थे। यह कहानी 3 जून, 1921 को कही गई। अब्दुल करीम ने कहा : "क़रीब 8 महीने पहले, अफ़ग़ानिस्तान होकर यात्रा करने के उद्देश्य से मैंने भारत छोड़ दिया क्योंकि अंग्रेज भारतीयो का दमन कर रहे थे। मैं इंगलैंड की सेना में भर्ती

होने के लिए बुलाए जाने से बचना चाहता था। अफ़ग़ानिस्तान में
सोवियत रूस ग़रीबों तथा क्रांतिकारियों—चाहे वे विदेशी नागरि
हों—को मदद दे रहा था तथा आम तौर पर क्रांतिकारियों को शरण
और क्योंकि भारत की जनता अंग्रेज़ों के दमन का शिकार थी, मैंने अ
साथ भारत छोड़ने का तथा रूस आने का मानस बना लिया था।"
मा-ले सं।)

सोवियत संघ के बारे में यह दृष्टि अत्यंत व्यापक थी। एम० शु
बात को रेखांकित किया सोवियत रूस में प्रवेश करने वाले आम
"अपरिपक्व, अनुभवहीन तत्त्व थे, यूरोप की आम जनता से काफ़ी
भिन्न···किंतु उन्होंने अपने तरीके से स्वतंत्र राष्ट्र का लाभ समझ लि
उन्हें अक्सर यह कहते सुना : 'हां, हम एक स्वतंत्र देश में हैं जहां कोई भी
नहीं बना सकता : अंग्रेज़ों द्वारा हमें परेशान किये जाने की हद हो चु
(क पा अ, मा-ले सं।)

रूसी समाचार एजेंसी रोस्ता के एक प्रतिनिधि ने ब्रिटिश सेना
सोवियत तुर्किस्तान पहुंचे दो भारतीयों से बात करने का जुगाड़ बैठा लि
पत्रकार ने उनसे पूछा "आप भागकर क्यों आये हैं?" उनमें से एक ने कहा,
विद्रोह में मेरा भाई मारा गया था।"[1] दूसरे ने यह स्पष्टीकरण देते
दिया कि वह "हिन्दू व मुस्लिम भाइयों से लड़ना" नहीं चाहता था जैसा
कमान उससे चाहती थी।[2]

यह उल्लेखनीय है कि वे भारतीय प्रवासी भी बाकू या ताशकंद इसी
थे कि वहां से तुर्की जा सकें, सोवियत रूस को एक ऐसा महान मित्र मान
समूचे उत्पीड़ित पूरब की सहायता करना चाहता था।

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी समिति की बैठक में बाकू प्र
कार्यवाही परिषद् की गतिविधियों के बारे में 1920 के अंत में वि
पाव्लोविच द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट में परिस्थितिजन्य ढंग से यह सूचना दी
"ब्रिटिश सेना को छोड़कर आए भारतीय सिपाहियों के एक दल ने वि
परिषद के अध्यक्षमंडल से यह आग्रह किया था कि उन्हें सीधे तुर्की मोर्चे प
दिया जाए ताकि वे मेसोपोटामिया में ब्रिटिश फ़ौज से लड़ सकें।" पाव्लो
आगे कहा : "सैनिक हमारी शैक्षणिक पहलकदमी के प्रति उत्साहित थे।

---

1. यह संदर्भ पंजाब तथा अन्य प्रांतों के व्यापक साम्राज्यवाद विरोधी आं
को मार्च-अप्रैल 1919 में ब्रिटिश फ़ौजों द्वारा सशस्त्र तरीके से कुचल
होना चाहिए।

मुझसे यह पूछा कि (पूरब के क्रांतिकारी कर्मियों के लिए आयोजित) हमारी लघु-अवधि की कक्षाओं (पाठ्यक्रमों) में क्या पढ़ाया जा रहा था तथा उन्हें यह जानकर बेहद खुशी हुई कि इन पाठ्यक्रमों से संबंधित व्याख्यानों में पृथ्वी और मनुष्य के उद्भव, वर्ग-संघर्ष की सारवस्तु पर ज़ोर दिया जाता था तथा संक्षिप्त भौगोलिक एवं अन्य जानकारी दी जाती थी।" एक सैनिक ने कड़वाहट भरी टिप्पणी की : "हमने पर्शिया, तुर्की व फ्रांस में ब्रिटेन के लिए लड़ते हुए इतने वर्ष बिता दिए पर हमें लिखना व पढ़ना तक नहीं सिखाया गया। सोवियत रूस हमारा मित्र है तथा वह चाहता है कि सभी भारतीयों, पर्शियाइयों व तुर्कों को प्रबुद्ध बनाया जाए जिससे कि अपनी स्थिति को समझ सकें। समूचा पूरब रूस की रक्षा करेगा।"[1]

तो खिलाफ़तवादियों का तुर्की की ओर बढ़ते हुए रूस के क्षेत्र में होकर (तथा पर्शिया के क्षेत्र में होकर लगभग नहीं) निकलना मात्र संयोगवश नहीं था। यह इसलिए हुआ कि रूस अक्तूबर क्रांति का देश बन चुका था, सोवियत गणराज्य बन चुका था।

भारतीय उत्प्रवासियों द्वारा भरे गये 84 फ़ार्मों में दो प्रश्नोत्तरियाँ उल्लेखनीय हैं। ये दो भू-स्वामी किसानों—मोहम्मद इस्माइल व मोहम्मद खान के बेटों द्वारा भरी गयी थीं। दोनों ब्रिटिश सेना की नौकरी में रह चुके थे तथा प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद बच निकलकर भारत से ईरान पहुँच गए। 1919 में वे सोवियत क्षेत्र में घुस पाने में सफल हो गये जहाँ वे लाल सेना में शामिल हो गए तथा उसके साथ मिलकर कई महीने तक देनिकिन के खिलाफ़ लड़े। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि वे भारत छोड़ने की तिथि को नहीं, बल्कि लाल सेना में भरती होने की तिथि को अपनी क्रांतिकारी कार्यवाहियों की शुरुआत का बिंदु मानते थे।

बुखारा में बसे हुए भारतीय क्रांतिकारी प्रवासियों की कहानी भी इसी अर्थ में रोचक है। बुखारा में सोवियत मिशन के सूचना विभाग के प्रमुख फ्रेडरिक्न ने उनके बारे में कहा : "ये वे राजनीतिक प्रवासी हैं जिन्होंने युद्ध के दौरान तथा पश्चात भारत छोड़ा था, इनमें से कुछेक बुद्धिजीवी हैं तथा शेष मज़दूर व किसान।" उन्होंने कुछ दिन पूर्व स्थापित (तथा काफ़ी कमज़ोर) लोक जनवादी व्यवस्था—जिसे सोवियत रूस की सहानुभूति व समर्थन प्राप्त था—को सुदृढ़ करने तथा उसकी रक्षा करने के कार्य में अत्यधिक सक्रियता दिखाई। इस दल का बड़ा हिस्सा रेगिस्तान के नियंत्रण में मिलीशियाइ के मशीनगन दस्ते के लाल सैनिकों के रूप में बुखारा सरकार की सेवा में था", इसका नेतृत्व अकबर जान, अब्दुल अज़ीज़

1. अक्तूबर क्रांति केन्द्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फ़ाइल 63, पृ० 3

तथा अब्दुल अजान ने किया था।[1] एक अन्य दस्तावेज़ में यह संकेत मिलता है कि इन भारतीयों ने न केवल मिलीशिया में बल्कि सेना में भी काम किया था। ऐसे लोगों की संख्या 70 थी।[2]

सोवियत सरकार के प्रति असंगठित भारतीय उत्प्रवासी समूहों के नज़रिये के बारे में प्रस्तुत उपर्युक्त साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि भारतीय जनगण के सर्वाधिक क्रांतिकारी तत्त्वों, जो अपनी स्वतंत्रता के लिए उठ खड़े हुए थे, ने सोवियत रूस को ध्रुवतारे (पद-प्रदर्शक) के रूप में देखा, उसके साथ संबंध क़ायम करने के प्रयास किये तथा उसके समर्थन-सहायता पर भरोसा किया। फ़ाज़िल अली (ज़ाहिर है, वह भारतीय क्रांतिकारी संघ के सदस्य थे) ने 24 अगस्त, 1920 को बाकू में (जहाँ वह पूरब के जनगणों की कांग्रेस में भाग लेने के लिए ताशकंद से आए थे) एक बैठक को संबोधित करते हुए कहा: "भारत के मुस्लिम सोवियत रूस से मिलने वाली सहायता के प्रति अत्यंत आशावान हैं···तथा वे दुनियाभर के मुस्लिमों के लिए एकमात्र सही चीज़ सोवियत रूस के साथ मैत्री संधि को मानते हैं।" एक अन्य भारतीय प्रतिनिधि नज़ीर ने यह कहकर अपना भाषण समाप्त किया कि "रूस से सहायता मिलने का अर्थ है हमारी मुक्ति।"[3] लेनिन ने कहा: "भारत में भी, जहाँ 30 करोड़ लोग ब्रिटिश शासन द्वारा उत्पीड़ित हैं तथा उनके साथ मजदूरों का-सा बर्ताव किया जाता है, दिमाग़ी जागरण हो रहा है तथा क्रांतिकारी आंदोलन हर दिन बढ़ रहा है। वे सिर्फ़ एक सितारे—सोवियत गणराज्य का सितारा—की ओर देख रहे हैं क्योंकि उन्हें यह पता है कि उसने साम्राज्यवादियों से संघर्ष की ख़ातिर भारी त्याग किये हैं, नुकसान उठाये हैं तथा अत्यधिक कष्टपूर्ण परीक्षाओं में भी वह खरा उतरा है।"[4]

सोवियत रूस में भारतीय प्रवासियों के आचरण व कार्यकलाप ने यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया कि अक्तूबर क्रांति तथा सोवियत वास्तविकताओं ने ही भारत की जनता के अनगिनत प्रतिनिधियों को "स्वतंत्र राजनीतिक चिंतन व स्वतंत्र राजनीतिक कार्यवाही की आकांक्षा" से अनुप्राणित किया था।[5] स्वतंत्र

---

1. फ़ेडरिन, 'बुख़ारा में विदेशी उपनिवेशों तथा क्रांतिकारी तत्त्वों का जीवन'
2. कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के अधिकारी आई॰ बुतोजोव का येनिसेव तथा तोम्वागोव (बुख़ारा) के नाम 30 दिसंबर 1920 का पत्र।
3. कोम्युनिस्त, बाकू, 26 अगस्त, 1920, पृ॰ 1
4. वी॰आई॰ लेनिन, '1 मार्च 1920 को मेहनतकश कज़ाकों की पहली अखिल रूसी कांग्रेस में भाषण', संकलित रचनाएँ, खंड 30, 1977, पृ॰ 151
5. वी॰ आई॰ लेनिन, 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस', संकलित रचनाएँ, खंड 31, पृ॰ 75

राजनीतिक चिंतन की यह आकांक्षा कुछेक भारतीय उत्प्रवासियों को प्रत्यक्ष क्रांतिकारी कार्यवाही की ओर ले आई, सोवियत सरकार के शत्रुओं के खिलाफ सशस्त्र लड़ाइयों में खींच लायी तथा इसी ने कमोबेश स्पष्ट समझ पैदा की कि सोवियतों की रक्षा करने का अर्थ था पूरब की मुक्ति के लिए संघर्ष करना।

इस सबके बावजूद भी, यह नहीं माना जा सकता कि सोवियत रूस में सभी भारतीय क्रांतिकारी प्रवासी, या उनका बड़ा हिस्सा भी, अक्तूबर क्रांति में तथा गृहयुद्ध में हिस्सा लेने तथा किसानों व मजदूरों की सत्ता पर बल देने के लिए संघर्ष करने से प्रतिबद्ध थे, या उसके लिए तैयार भी थे। भारतीयों के मध्य ऐसे लोग थे, उनकी संख्या निरंतर बढ़ भी रही थी, पर वे कभी भी बहुमत में नहीं थे।

पूर्ववर्णित केर्की कांड इस बिंदु को उजागर करता है। रफीक अहमद[1] तथा शौकत उस्मानी के संस्मरणों में यह बात एकदम साफ है कि 89 भारतीयों में से अधिक-से-अधिक 25 से 30 लोगों ने रक्षात्मक लड़ाइयों में व 3 ने आक्रमणात्मक व्यवस्थाओं में भाग लिया। एक अन्य तथ्य जिसे ध्यान में रखना चाहिए वह यह है कि रक्षात्मक लड़ाइयाँ न केवल फ़ोर्ट की रक्षक सेना के लिए बल्कि उन भारतीय यात्रियों के लिए भी, जो अंदर थे, जीवन-मरण का प्रश्न था। आक्रमणात्मक लड़ाइयों में किले के अंदर रहने वालों के लिए खतरा कम था, उनके लिए ज्यादा था जो पीछे हटते हुए शत्रु पर धावा बोलते थे।

उन भारतीयों के बारे में भी कुछ बातें कहना जरूरी है जिन्होंने बुखारा मिलीशिया के साथ काम किया था। मिलीशिया सेवा में संलग्न भारतीयों की संख्या नगण्य ही थी जिनकी दृष्टि में मास्को समर्थित बुखारा की सरकार का सोवियत राजनीतिक व्यवस्था की ओर विकास महत्त्वपूर्ण था। बहुमत के लिए जो अधिक महत्त्वपूर्ण था—जैसाकि बुखारा के भारतीयों के नेता अक्बर जान ने स्पष्ट किया था—कि "बुखारा की सरकार इस्लामी है" तथा उनकी राय में उसका कम्युनिस्टों से कोई सरोकार नहीं था किंतु वह भारतीयों की सहायता करने को तत्पर थी।[2] जहाँ तक अन्य बातों का प्रश्न है, सोवियत सरकार के समाजवादी चरित्र तथा उसके कार्यक्रम की कम्युनिस्ट सार-वस्तु को उत्प्रवासियों के अल्पमत की स्वीकृति-समर्थन प्राप्त था। उनमें से अधिकांश तो समाजवादी परिवर्तन को स्वीकार करने को तैयार ही नहीं थे तथा पिछड़े हुए औपनिवेशिक समाज द्वारा उत्पन्न तथा गहरे बैठी हुई निम्न-पूँजीवादी धारणाओं को त्यागने में असमर्थ थे।

1. देखें: मुजफ्फर अहमद, 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में उसका गठन', पृ० 26-27
2. वी० पेरेलमन द्वारा भारतीय क्रांतिकारी समिति, ताशकंद को 12 मार्च, 1921 को रिपोर्ट

उदाहरण के लिए, भारतीय क्रांतिकारी संघ के प्रथम सचिव अमीन फ़ारूक़
1921 के शुरू में ही मास्को पहुँच गये थे—सोवियत राजधानी में दिखायी
वाली नवीनताओं से काफ़ी हतोत्साहित हुए। उन्होंने लिखा : "मास्को में
काफ़ी भयानक है, न बाजार है और न दूकानें, सब कुछ राज्य का है, कोई
संपत्ति नहीं है तथा किसी को भी उसे रखने का अधिकार नहीं है।" (क
मा-ले सं)

भारतीय उत्प्रवासी अपने साथ उन तमाम पूर्वाग्रहों को लाए थे (दरअस
इससे अलग कुछ भी कर ही नहीं सकते थे) जो शताब्दियों से चली आ रही
व्यवस्था तथा कट्टर धार्मिक आस्था से पैदा हुए थे। क्योंकि कुछ लोग ऊँची जा
से संबंधित थे, ताशकंद समूह के कुछेक सदस्यों ने इसीलिए उत्पादक का
संलग्न होने से साफ़ इनकार कर दिया।[1] एम० एन० रॉय ने उस समय (दि
1920 में) ताशकंद में भारतीयों की बैठक को संबोधित करते हुए सही ही
कि उनकी "क्रांतिकारी चेतना इतनी गहन नहीं है कि वे यह समझ पाएँ कि
के पुनर्निर्माण के लिए कार्य करने का अर्थ है विश्व क्रांति के लिए कार्य करना

"धर्म के कबाड़घर से अपने आपको बाहर निकाल पाना किसी के लिए
बहुत मुश्किल था क्योंकि यही वह जगह है जहाँ पूरब के देशों के सभी रा
आंदोलनों का बीजारोपण व जन्म हुआ" : ये शब्द मन्मथनाथ गुप्त के हैं जो भ
के विशिष्ट क्रांतिकारियों में एक हैं। उन्होंने आगे कहा कि "भारतीय क्रांति
रूसी क्रांति तथा उसके बाद के विकासक्रम के प्रशंसक थे किंतु वे मार्क्सवादी द
जिसने रूसी क्रांति को प्रेरित किया था, को छूने तक को तैयार नहीं थे।"[3]

भारतीय उत्प्रवासियों के व्यापक बहुमत—संगठित एवं असंगठित दोनों
का—की क्रांतिकारी प्रतिबद्धता का चरित्र राष्ट्रवादी था जिसमें राष्ट्रीय स्वा
परता व सीमा की खुराक भी अपरिहार्य रूप से मिली हुई थी। जो कुछ भी अब त

---

1. प्रतिवादी आचार्य ने बाद में (22 जुलाई, 1921 को) लिखा कि 'बहुत
लोग (उत्पादक) कार्य करने में सक्षम नहीं थे, अथवा असमर्थ थे क्योंकि
विभिन्न प्रकार के वर्गीय अथवा व्यावसायिक पूर्वाग्रहों' से ग्रस्त थे
(क पा अ, मा-ले सं)
2. *कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के अनुरोध पर बुलाई गयी भारतीय क्रांति*
कारियों तथा उत्प्रवासियों की साधारण सभा की बैठक में मानवेन्द्र रॉय द्वारा
प्रस्तुत रिपोर्ट, (अक्तूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402
रजिस्टर 1, फ़ाइल 488, पृ० 7)
3. *मन्मथनाथ गुप्त, 'क्रांतिकारियों की दृष्टि में महान अक्तूबर क्रांति', न्यू एज,*
8 अक्तूबर, 1967, पृ० 11

कहा गया है—उसका अर्थ भारतीय क्रांतिकारी उत्प्रवासियों के दृष्टिकोण की आलोचना नहीं माना जाना चाहिए—उसका अर्थ यही है कि उनका दृष्टिकोण औपनिवेशिक समाज के आर्थिक व सामाजिक विकास के स्तर द्वारा ही निमित व निर्धारित हुआ था। लेनिन ने इस विषय पर लिखा : "जितना अधिक पिछड़ा हुआ देश होगा, छोटे पैमाने के कृषि उत्पादन, पितृसत्तात्मकता तथा अलगाव—जो सबसे अधिक गहरे निम्न-पूंजीवादी पूर्वाग्रहों, जैसे राष्ट्रीय अहंवाद तथा राष्ट्रीय संकीर्ण मनोवृत्ति, को अनिवार्य रूप से शक्ति एवं मजबूती प्रदान करते हैं—की जकड़ उतनी ही अधिक मजबूत होगी।"[1] लेनिन ने आगाह किया कि "वे पूर्वाग्रह आसानी से समाप्त नहीं होंगे।"[2]

फिर भी, सोवियत रूस में सैकड़ों भारतीय उत्प्रवासियों की मौजूदगी, बहु-जातीय क्रांतिकारी जनगण के साथ उनके संबंधों तथा रूसी कम्युनिस्टों—जिन्होंने उन्हें वैचारिक रूप से प्रभावित करने के पूरे प्रयास किए—के साथ उनके रोजमर्रा के मेलजोल ने राष्ट्रीय सीमाओं की जकड़ से कुछेक भारतीय क्रांतिकारियों की क्रमशः मुक्ति की गति को तेज कर दिया। भारतीय उत्प्रवासियों के मध्य से कम्युनिस्टों के उदय तथा उनमें से कुछ के द्वारा सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के आरंभिक समर्थन में इसे साफ तौर पर देखा जा सकता था। कुछेक भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों ने इसी तरह से कम्युनिस्ट आंदोलन—जो उस समय सोवियत रूस में बसे पूर्वी देशों के नागरिकों के मध्य विकसित हो रहा था—में प्रवेश किया।

1. वी॰ आई॰ लेनिन, 'राष्ट्रीय (जातीय) तथा औपनिवेशिक प्रश्नों पर प्रारंभिक ड्राफ्ट थीसिस', संकलित रचनाएँ, खंड 21, पृ॰ 150
2. वही

अध्याय : 2

सोवियत रूस में विदेशी पूरबी जातियों के मेहनतकशों के मध्य कम्युनिस्ट आंदोलन का उदय

एशिया के पहले कम्युनिस्टों की मार्क्सवादी शिक्षा में लेनिन तथा कामिंटर्न की भूमिका

सोवियत गणराज्य की सीमा से लगे पूरबी देशों पर अक्तूबर क्रांति के प्रभाव की एक ख़ास विशिष्टता रही। जैसा मैंने पहले भी कहा, यह विशिष्टता इस तथ्य से पैदा हुई कि 1917 में तथा बाद के वर्षों में कम-से-कम दस लाख विदेशी राष्ट्रीयताओं के लोग—प्रमुख रूप से चीन, पशिया, कोरिया व तुर्की के मेहनतकश—रूसी क्षेत्र में रह व काम कर रहे थे। इनमें से अधिकांश मौसमी मजदूर थे—बरबाद किसान, विपन्न मजदूर तथा सर्वोपरि, ख़स्ताहाल सर्वहारा के लोग जो काम तथा रोज़ी-रोटी की तलाश में रूस आए थे। इनमें हज़ारों चीनी थे, जिनका सब कुछ छिन चुका था तथा जिन्हें प्रथम विश्व युद्ध के दौरान मोर्चे पर काम करने के लिए भरती किया गया था, तथा तुर्की युद्धबंदी थे—जिनकी संख्या 63,000 थी, जो तुर्की सेना के भूतपूर्व सैनिक व अफ़सर थे—तथा इनके अलावा पूरबी देशों की आबादी की अन्य श्रेणियों के भी लोग थे।[1] ये सभी अक्तूबर क्रांति व गृहयुद्ध के चश्मदीद गवाह थे। क्योंकि वे एशिया के उत्पीड़ित राष्ट्रों से आए थे, उन्होंने अक्तूबर क्रांति के कार्यक्रम—जिसका संबंध राष्ट्रीय मुक्ति तथा जनवाद से था—को तुरत स्वीकार कर लिया व उसे समर्थन दिया। किंतु रूसी मजदूरों के कंधे से कंधा मिलाकर काम करते हुए उन्होंने उनकी भावनाओं को आत्मसात

1. इस विषय में अधिक जानकारी के लिए देखें : एम० ए० पेर्सित्स, 'रूस में पूरबी अंतर्राष्ट्रीयतावादी और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के कुछ प्रश्न (1918-जुलाई 1920)', कामिंटर्न एवं पूरब, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1979, पृ० 71-84

करके और उनके विचारों को ग्रहण करने की तैयारी करके चीजों को उनके सही परिदृश्य में देखने की दिशा में महत्त्वपूर्ण क़दम आगे बढ़ाया। उनमें से अधिकांश की समझ में यह आने लगा कि सोवियत सरकार की ओर से विदेशी आक्रमण व श्वेत गार्डों के खिलाफ़ लड़ने व संघर्ष करने का अर्थ था औपनिवेशिक उत्पीडन से अपने देशों की मुक्ति के लिए संघर्ष करना। यही नहीं, पूरबी विदेशी राष्ट्रीयताओं वाले लोगों का एक ऐसा, हालाँकि छोटा, आगे बढ़ा हुआ हिस्सा भी था जो अक्तूबर क्रांति के न केवल साम्राज्यवाद-विरोधी विचारों को ग्रहण करने को, बल्कि उसके समाजवादी नारों को भी ग्रहण करने को तत्पर था। जिस बात से यह तथ्य एकदम ठोस व निर्णायक रूप में सामने आता है वह यह कि उनमें से बीसियों हज़ार लोग ऐसे थे जिन्होंने सोवियत राजनीतिक व्यवस्था की रक्षा के लिए श्वेतगार्डों व आक्रमणकर्त्ताओं के खिलाफ़ सशस्त्र संघर्ष में सक्रिय हिस्सा लिया। रूस की सीमा से लगे पूरबी देशों के जनगणों पर अक्तूबर क्रांति के समाजवादी कार्यक्रम का सीधा प्रभाव पड़ा तथा यह प्रभाव अक्तूबर क्रांति के उस प्रभाव से कहीं अधिक था जोकि भारतीयों पर पड़ा, जिनका शुरू में सोवियत रूस में कोई व्यापक प्रतिनिधित्व नहीं था।

पूरबी विदेशी जातियों के मेहनतकश लोगों के साथ बोलशेविकों का अंतर्राष्ट्रीयतावादी कार्य

महान अक्तूबर क्रांति के विचारों तथा सोवियत राजनीतिक व्यवस्था के तदनंतर विकास का जो स्वाभाविक प्रभाव था वह आसपास के पूरबी देशों के प्रवासी मज़दूरों के बीच बोलशेविकों द्वारा बड़े पैमाने पर किए गए राजनीतिक एवं संगठनात्मक कार्य के माध्यम से अत्यंत सघन हो गया। बोलशेविक समाजवाद के तथा साम्राज्यवाद विरोध के विचारों को प्रचारित-प्रसारित तो कर ही रहे थे, उन्होंने पूरब की क्रांतिकारी शक्तियों के हिरावल दस्तों को लामबंद करने तथा कम्युनिस्ट समूह गठित करने के लिए उन्हें तैयार करने के उद्देश्य से काम भी किया। सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावादियों के रूप में उन्होंने इस कार्य को अपना कर्तव्य तो माना ही, अपना हित भी माना क्योंकि, इससे साम्राज्यवाद की शक्ति क्षीण हो रही थी तथा नवजात सोवियत राज्य की शक्ति में बढ़ोतरी हो रही थी। कहने का आशय यह है कि कॉमिंटर्न की स्थापना से पहले ही, सोवियत कम्युनिस्टों ने रूस में प्रवासी विदेशियों के मध्य बड़े पैमाने पर अंतर्राष्ट्रीयतावादी प्रचार-कार्य शुरू कर दिया था। मार्च 1919 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की पहली कांग्रेस में बोलते हुए, ओटो कूसिनेन ने कहा कि शुरू से ही "क्रांतिकारी रूस ने, दरअसल,

एक वर्ष से भी अधिक तक नए इंटरनेशनल के रूप में कार्य किया है।"[1]

जल्दी ही, यानी मई 1918 में, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति के तत्वावधान में विदेशी कम्युनिस्टों के महासंघ को मास्को में गठित किया गया। इससे कम्युनिस्टों के वे विभिन्न समूह, जोकि पश्चिमी एवं पूरबी यूरोप के युद्धबंदियों के मध्य बन गए थे, एक जाजम पर आ गए। पूरबी राष्ट्रों के कम्युनिस्ट संगठनों का केंद्रीय ब्यूरो सोवियत रूस में प्रवासी एशियाई मेहनतकशों के बीच कम्युनिस्ट कार्य—प्रचार एवं संगठन—का संचालन करता था। शुरू में इसे रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का मुस्लिम संगठनों का केंद्रीय ब्यूरो का नाम दिया गया था। तकनीकी दृष्टि से ब्यूरो का गठन दिसंबर 1918 में हुआ था, हालांकि इसके नेतृत्वकारी समूह ने उस वर्ष की जनवरी में ही आकार ग्रहण कर लिया था व काम करना शुरू कर दिया था केंद्रीय संगठनों के अलावा पार्टी की जिला एवं प्रांतीय शाखाओं ने तथा कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति के क्षेत्रीय उपखंडों ने काकेशस, दक्षिणी रूस, मध्य एशिया, साइबेरिया व सुदूर पूर्व में—जहाँ पूरबी देशों के नागरिकों की आबादी सघन थी—उनके साथ मिलकर राजनीतिक कार्य संचालित किया। जनवरी 1920 में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति के साइबेरियाई ब्यूरो ने पूरबी साइबेरिया मे तथा सटे हुए देशों में तथाकथित विदेशी मामलों के साइबेरियाई मिशन की स्थापना की जिसका प्रमुख व्लादीमिर विलेंस्की-सिबिरियाकोव को बनाया गया। मिशन ने रूस में चीनी, कोरियाई व मंगोल समुदायों के मध्य भी क्रांतिकारी राजनीतिक कार्य किया। इस तरह के कार्यकलाप के लिए यह जरूरी था कि एक विशेष निकाय की स्थापना की जाए, तथा इसी क्रम में 24 अप्रेल, 1920 को साइबेरियाई मिशन ने पूरबी ब्यूरो का गठन किया।[2] इस ब्यूरो के संविधान मे कहा गया कि इसका उद्देश्य "पूरबी देशों में साम्राज्यवादी शक्तियों तथा औपनिवेशिक-साम्राज्यवादी व्यवस्था के खिलाफ़ प्रचंड क्रांतिकारी संघर्ष की तैयारी करके व संगठित करके विश्व साम्राज्यवाद की गुलामी व उत्पीड़न से सुदूर-पूर्व एवं एशिया के जनगणों की मुक्ति में सहायता देना था।"[3] कुछ समय बाद ही, पूरबी ब्यूरो के कार्यभार एक नये विशेष संगठन को स्थानांतरित कर दिए गए। रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति के साइबेरियाई ब्यूरो ने 15 जुलाई, 1920 को इरकुत्स्क मे पूरबी जनगणों के

---

1. 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की पहली कांग्रेस', पेत्रोग्राद, 1921, पृ॰ 93 (रूसी मे)
2. क पा अ, मा-ले सं
3. वही

सैक्टर का गठन किया।[1] जनवरी 1921 में उक्त सैक्टर बंद कर दिया गया किंतु वहाँ के स्टाफ को कामिंटर्न के सुदूर-पूर्वी सचिवालय में—जोकि उसी स्थान पर स्थापित की गई थी—खपा दिया गया।[2] सुदूर-पूर्वी गणराज्य के कम्युनिस्टों ने कोरियाइयों व चीनियों के बीच बहुत-सा काम किया। रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति के सुदूर-पूर्वी ब्यूरो ने प्रांतीय एवं जिला पार्टी समितियों—जहाँ कोरियाई नागरिक बड़ी संख्या में थे—के साथ विशेष कोरियाई प्रचार सैक्टर संबद्ध कर दिए थे।[3] जहाँ चीनियों की संख्या अधिक थी वहाँ चीनी सैक्टर संबद्ध कर दिए थे।

इससे पूर्व 1919 के शुरू में, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की क्षेत्रीय समिति ताशकंद में एक एजेंसी के माध्यम से पशियाइयों, तुर्कों, अफगानों, चीनियों, उइगरों व भारतीयों के मध्य प्रचार-कार्य का संचालन करती थी। बाद में, अखिल रूसी कार्यकारिणी समिति के तुर्किस्तान ब्यूरो ने इस उद्देश्य से एक विशिष्ट प्रचार उपखंड गठित किया, तथा उसी वर्ष के 23 दिसंबर को अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद स्थापित करने का निर्णय लिया।[4] 6 फ़रवरी, 1920 को[5] तुर्की कम्युनिस्टों के नेता मुस्तफ़ा सुभी को परिषद का अध्यक्ष चुना गया। परिषद को "सटे हुए देशों के सभी मौजूदा क्रांतिकारी संगठनों को एकताबद्ध करना था, जो तुर्किस्तान के भीतर अथवा बाहर सक्रिय थे।" परिषद ने सोवियत तुर्किस्तान में पूरबी राष्ट्रों की क्रांतिकारी पार्टियों के राष्ट्रीय अनुभागों तथा केंद्रीय सचालित्रा सभाओं के काम को संचालित करने" का कार्यभार संभाल लिया। उसने तुर्किस्तान से सटे हुए देशों से आए हुए क्रांतिकारी तत्वों को संगठित करके कम्युनिस्ट सैलों की स्थापना करने का अपना कार्यभार निर्धारित किया। परिषद ने "रूसी क्रांति को पूरब के उत्पीड़ित मेहनतकशों के आंदोलन से जोड़ने का तथा रूसी सर्वहारा द्वारा दिए गए नारों को पशिया, भारत, बुखारा आदि के मेहनतकशों को साफ़ तथा सीधे तौर पर समझाने" का प्रयास किया।[6] परिषद ने व्यापक प्रचार चलाया—भाषणों व छपे हुए शब्द दोनों के माध्यम से—बैठकें, सभाएँ, चर्चाएँ व

---

1. नरोदी दाल्नेगो वोस्तोका, अंक 2, 1921, पृ॰ 176 (रूसी में)
2. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 17, रजिस्टर 65, फ़ाइल 322, पृ॰ 8 तथा अनुभाग 17, रजिस्टर 13, फ़ाइल 905, पृ॰ 2
3. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 372, रजिस्टर 1, फ़ाइल 1094, पृ 36
4. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 122, रजिस्टर 1, फ़ाइल 29, पृ॰ 261
5. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 544, रजिस्टर 1, फ़ाइल 4
6. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 122, रजिस्टर 1, फ़ाइल 29, पृ॰ 201 से 203; अनुभाग 544, रजिस्टर 1, फ़ाइल 10, पृ॰ 21, 23

व्याख्यान प्रायोजित किए। उसने पाँच भाषाओं—फ़ारसी, तुर्की, उज़्बेक, उर्दू व अंग्रेज़ी—में प्रचार साहित्य प्रकाशित किया। परिषद ने "पूरब में साफ़ समझ वाले समर्थ आंदोलनकारी और संगठनकर्त्ता प्रशिक्षित करने"[1] की जी-तोड़ कोशिशें की। यह एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन था क्योंकि इसके सर्वोच्च स्तर पर न केवल रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के स्थानीय संगठनों के प्रतिनिधि ही थे, बल्कि तुर्किस्तान में आकार ग्रहण कर रहे राष्ट्रीय कम्युनिस्ट समूहों के प्रतिनिधि भी थे।

प्रचार एवं कार्यवाही परिषद ने बाकू में इसी तरह के काम को आगे बढ़ाया। यह कामिंटर्न की एजेंसी थी जिसे पूरब के जनगणों की पहली कांग्रेस में सितंबर 1920 में कायम किया गया था। 2 नवंबर, 1920 को परिषद ने पूरबी राष्ट्रीयताओं के लोगों को आंदोलनकारियों व प्रचारकों के रूप में प्रशिक्षित करने के लिए लघु-अवधि के उन्नत पाठ्यक्रम शिविर शुरू किए। चालीस के करीब विद्यार्थियों में से 20 तुर्क थे तथा 14 पर्शियाई। बाकू के समाचार पत्र कोम्मुनिस्त ने लिखा कि पाठ्यक्रम "पूरब में क्रांतिकारी एवं कम्युनिस्ट विचारों की पहली पाठशाला"[2] होंगे। परिषद ने पूरबी क्रांतिकारियों के लिए समाज विज्ञानों के एक विश्वविद्यालय की स्थापना की योजना तक बनाई। कम्युनिस्ट पार्टी की ओडेसा प्रांतीय समिति के पूरबी विभाग ने बड़े पैमाने पर अंतर्राष्ट्रीयतावादी कार्यवाही को आगे बढ़ाया,[3] खासकर तुर्की मेहनतकशों के मध्य, जिसमें कुछ स्थानीय पार्टी संगठनों ने भी हिस्सा लिया।

रूस में पूरबी नागरिकों के लिए पाठ्यक्रम व विद्यालय सिर्फ़ बाकू में ही नहीं बल्कि ताशकंद, इरकुत्स्क व कुछ अन्य शहरों में भी चलाए जहाँ चीनी, कोरियाई, तुर्क, पर्शियाई विद्यार्थियों के अलावा आसपास के अन्य एशियाई देशों के नागरिकों को भी प्रशिक्षित किया। सोवियत कम्युनिस्टों ने पाठ्यक्रमों में ही नहीं बल्कि अन्यत्र भी—जहाँ भी यह संभव व आवश्यक समझा गया—पूरब के मेहनतकशों के बीच इस आशा से राजनीतिक कार्य आगे बढ़ाया कि आने पर वापस पहुँचने पर वे अपने देशवासियों को सोवियतों की भूमि के बारे में, उनके समाजवादी आदर्शों की जानकारी देंगे तथा अपने देशों के कम्युनिस्ट एवं मुक्ति आंदोलनों में गंभीरता से प्रतिबद्ध होकर कूद पड़ेंगे। तीसरे साइबेरियाई इंफैन्ट्री—जिसमें बहुत से चीनी व कोरियाई थे तथा कोरियाई-चीनी रेजिमेंट भी सम्मिलित थी—के कमांडर का आदेश इस दृष्टि से बेहद दिलचस्प व विशिष्टता लिये हुए था। 22 अगस्त,

---

1. क पा अ, मा-ले स, अनुभाग 122, रजिस्टर 1, फ़ाइल 29, पृ० 208
2. कोम्मुनिस्त, बाकू, 1 नवंबर 1920
3. वहीं, 12 अक्तूबर 1920

1920 के उक्त दस्तावेज़ में यह लिखा था : "मैं इसके द्वारा सभी कमान अफसरों से अपेक्षा रखता हूँ कि वे उपयुक्त समझदारी अर्जित करके चीनी तथा कोरियाई लाल सैनिकों के मध्य अत्यधिक सक्रियता के साथ काम करेंगे ताकि इन लोगों को गंभीर योद्धाओं के रूप में, तथा कोरिया व चीन में कम्युनिज़्म के विचारों के (भविष्य के) वाहकों के रूप में प्रशिक्षित करेंगे। इसके लिए अत्यंत सघन कार्य—सैनिक एवं राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक—की जरूरत पड़ेगी। मुझे आशा है कि कमान अफसर तथा लाल सैनिक एक होकर इस रचनात्मक कार्य में जुट जाएँगे, तथा अपनी चौकियों पर राइफ़ल हाथ में लेकर मुस्तैद खड़े रहेंगे जब तक कि धरती से सभी परजीवियों का नामोनिशान नहीं मिटा दिया जाता। यह आदेश चीनी व कोरियाई में अनूदित किया जायेगा तथा सभी यूनिटों में पढ़कर सुनाया जायेगा व चिपका दिया जायेगा।"[1]

विदेशी पूरबी जातियों के नागरिकों के मध्य कम्युनिस्ट आंदोलन की शुरुआत

अक्तूबर क्रांति के प्रभाव, जिसे बोल्शेविकों ने आगे बढ़ाया, ने रूस में पूरबी नागरिकों के मध्य कम्युनिस्ट आंदोलन को जन्म दिया। इसमें सबसे ज्यादा सक्रिय रूप में जो सामने आए वे तुर्की युद्धबंदियों के मध्य से उभरे हुए क्रांतिकारी थे।[2] मुस्तफ़ा सुभी इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय व प्रखर थे। उन्होंने, बहुत पहले 1910 में ही, तुर्की की समाजवादी पार्टी—जो तभी स्थापित हुई थी—की सदस्यता ग्रहण कर ली थी, तथा रूस पहुँचते ही वह कम्युनिस्ट बन गए। जून 1918 में ही स्थानीय सोवियत प्रशासन तथा पार्टी संगठनों की सहायता से मुस्तफ़ा सुभी ने भूतपूर्व युद्धबंदियों के बीच जो तुर्की अंतर्राष्ट्रीयतावादी समाजवादी थे उनका अधिवेशन कज़ान में बुलाया। जुलाई में मास्को में एक और भी अधिक प्रातिनिधिक अधिवेशन आयोजित किया गया। इन अधिवेशनों ने रूस में तुर्की समाजवादियों को एकताबद्ध करके तुर्की के कम्युनिस्ट आंदोलन को जन्म दिया। मास्को अधिवेशन ने समाजवादी कम्युनिस्टों की तुर्की पार्टी के केंद्रीय समिति का चुनाव किया तथा प्रचार समिति गठित की। उनके सामने जो कार्यभार था वह राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की तैयारी का था—खास तौर से तुर्की के अंदर, ताकि वहाँ से आने वाले लगभग सभी प्रतिनिधियों की प्रातिनिधिक कांग्रेस आयोजित की जा सके। यह एक ऐसा पक्का तरीक़ा था जिसका

1. क पा अ, मार्क्से सं, अनुभाग 495, रजिस्टर 154, फ़ाइल 20, पृ० 13
2. अधिक जानकारी के लिए देखें : एम० ए० पेसिल्स, 'रूस में तुर्की अंतर्राष्ट्रीयतावादी', नरोदी अज़ी इ अफ्रीकी, अंक 5, 1976

अर्थ था इतने मुश्किल कार्य को संपादित करने में किसी तरह की जल्दबाज़ी न करना। इसमें इस ज़रूरत की स्वीकृति भी निहित थी कि इसी समय तुर्की के भीतर भी कम्युनिस्ट आंदोलन विकसित किया जाय। सितंबर 1920 में जबकि सोवियत रूस में बसे तुर्की मेहनतकशों के बीच, तथा खासकर तुर्की में भी—बड़ी संख्या में कम्युनिस्ट संगठन तथा समूह पहले से ही मौजूद थे—तुर्की कम्युनिस्ट पार्टी की संविधान सभा बुलाई गई।

रूस में बसे ईरानी मेहनतकश तथा उनके आगे बढ़े हुए तत्वों का छोटा-सा हिस्सा 1905 की रूसी क्रांति तथा काकेशस-पार के बोल्शेविकों के कार्य-कलाप से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होकर काफ़ी समय से सामाजिक-जनवादी आंदोलन में शामिल हो रहे थे। ईरानी सामाजिक-जनवादी पार्टी अदालत का गठन 1916 में बाकू में किया गया। हालांकि उसे सर्वहारा के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त आगे बढ़े हुए ईरानी मौसमी मजदूरों के मध्य सुनिश्चित आधार महान अक्तूबर क्रांति के निर्णायक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही प्राप्त हुआ। अदालत की शाखाएँ, बहुत सारी दिक़्क़तों के बावजूद, ईरान के विभिन्न भागों में—संजान, रश्त, अर्दबिल, मेशहद तथा अस्तर में¹—एक-एक करके संगठित होकर सामने आने लगीं। इस प्रक्रिया को रोके रखने वाला प्रमुख कारक औद्योगिक सर्वहारा की अनुपस्थिति था। जहाँ तक उन मौसमी मजदूरों का सवाल है जो रूस से लौटकर आये थे, तो उनका बड़ा हिस्सा ऐसा था जिसने ईरान के अर्द्ध-सामंती वातावरण में स्वयं को एक बार फिर पाकर, विदेश में अर्जित सर्वहारा राजनीतिक चेतना तथा सर्वहारा संघर्षों में भाग लेने का माद्दा काफ़ी सीमा तक खो दिया। एक कारण तो यह भी था कि वे पूरे देश में अलग-अलग स्थानों पर बसने के कारण बिखर गये थे, अलग-थलग पड़ गये थे। दूसरे, वे जिन स्थानों (विभिन्न गाँवों व क़स्बों में) पर बसे उद्योग या तो नहीं ही थे या बहुत कम थे जिसके कारण वे पहले जैसे नहीं रह पाये : क्रांतिकारी अवसरों के अभाव ने उनके पहले के क्रांतिकारी उत्साह को ठंडा कर दिया। भूतपूर्व मौसमी मजदूर एक बार फिर बंधुआ किसान बन गये, कुछ खस्ता हाल सर्वहारा अथवा भिखमंगेपन की हालत तक पहुँच गये; कुछ नाविक व खनिक बन गये, ऐसे बहुत कम लोग थे जिन्होंने कारीगरी का पेशा फिर से अपनाया। (सार रूप में, यह उन चीनी व कोरियाई नागरिकों के समूहों के बारे में

---

1. क पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 544, रजिस्टर 3, फ़ाइल 45, पृ० 24; देखें : ए० सुल्तान जदे, 'ईरान की कम्युनिस्ट पार्टी', 'द कम्युनिस्ट इंटरनेशनल', अंक 13, 1920। इसमें ईरानी कम्युनिस्ट आंदोलन के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण एवं विश्वसनीय सामग्री है जिसमें कुछ निराधार दावे भी मिला दिए गये हैं।

भी सच है जो बाद में रूस से लौटकर स्वदेश मे फिर से बसे थे। जून, 1920 के उत्तरार्द्ध में ईरानी कम्युनिस्टों ने एंजेली मे अपनी पहली कांग्रेस आयोजित की जिसमें अदालत ईरान की कम्युनिस्ट पार्टी का अंग बन गयी। क्रांतिकारी रूस की ओर हजारों विदेशी मजदूरों को जिस कम्युनिस्ट आंदोलन ने आकृष्ट किया उसमे चीनी व कोरियाई भी सक्रिय रूप से शामिल हुए थे। सोवियत रूस मे ही, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के सदस्यो के रूप मे, पहले चीनी व कोरियाई कम्युनिस्टो का उदय हुआ। 1918 के बाद से ही चीनी कम्युनिस्ट सैलों का चीनी मजदूर संघों के चोखटे में गठन प्रारंभ हो गया तथा जो 1920 के अंत तक रूसी गणराज्य मे 12 शहरों मे अस्तित्व में आ चुके थे। चीनी मजदूरों की इरकुत्स्क लीग ने अपने अल्प-अवधि कार्यक्रम मे यह उल्लेख किया कि "लीग के सदस्यों के मध्य व्यापक कार्य करने का पहला तथा तात्कालिक उद्देश्य चीनी कम्युनिस्टों (चीनी क्रांति के हिरावल दस्तों) का ठोस तथा पक्का केंद्रक निर्मित करना है जिसके लिए कम्युनिस्ट सैल का गठन एकदम जरूरी है। सैनिक छावनियों व टुकड़ियों में कम्युनिस्ट सैलों का गठन किया गया। उदाहरण के लिए, तीसरे साइबेरियाई इन्फेंट्री डिवीजन के अंतर्राष्ट्रीय कोरियाई-चीनी रेजिमेंट मे, 1920 मे रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के तीस पूर्ण सदस्य थे तथा 120 परिवीक्षाधीन सदस्य थे। चीनी कम्युनिस्टों के क्षेत्रीय संघ भी कायम हो चुके थे। इनमें से एक को अमूर क्षेत्र की चीनी कम्युनिस्ट पार्टी (ब्लागोवेश्चेंस्क मे चीनी कम्युनिस्ट समूह[1]) के रूप मे जाना जाता था। रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के भीतर चीनी कम्युनिस्टों की बढ़ती हुई संख्या के कारण तथा उनके साथ किए जाने वाले काम की विशिष्टता एवं जटिलता के कारण एक विशेष केंद्र का स्थापित किया जाना आवश्यक बन गया था। और इसलिए ही 1 जुलाई, 1920 को रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के तत्वावधान मे चीनी कम्युनिस्टों का केंद्रीय संगठनात्मक ब्यूरो स्थापित किया गया[2], जिसने उनके मध्य समस्त वैचारिक, शैक्षणिक तथा संगठनात्मक कार्य का नेतृत्व करने का लक्ष्य निश्चित किया।

रूसी सुदूर पूर्व में 1919 में कोरियाई नागरिकों के मध्य कम्युनिस्ट समूहों

1. देखें : एम० ए० पेसिरस, 'सुदूर-पूर्वी गणराज्य की भूमि पर चीनी क्रांतिकारी संगठन और सन यात सेन', 'सन यात सेन 1866-1966, संकलित लेख, संस्मरण, अभिलेख—एस० एल० तिखविंस्की द्वारा संपादित, नाऊका प्रकाशन, मास्को, 1966, पृ० 356-363 (रूसी मे)
2. वी० एम० उस्तिनोव, 'सोवियत रूस मे चीनी कम्युनिस्ट संगठन (1918-1920)', वोस्तोचनाया साहित्य प्रकाशन, मास्को, 1961, पृ० 48 (रूसी मे)

का उदय प्रारंभ हुआ। 1920 के अंत तक सोवियत रूस में लगभग बीस कोरियाई पार्टी संगठन थे जिनमें 2305 पूर्ण अथवा परिवीक्षाधीन सदस्य थे।[1] सोवियत सुदूर-पूर्व में कोरियाई कम्युनिस्टों की कार्यवाहियों को रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की क्षेत्रीय समितियों के विशेष विभागों द्वारा संचालित किया जाता था तथा रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति के सुदूर-पूर्वी ब्यूरो का कोरियाई अनुभाग उनका नेतृत्व करता था।[2]

कोरियाई कम्युनिस्टों ने अपनी स्वयं की राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी स्थापित करने के प्रयास किए। इस दिशा में उन्होंने एक अग्रगामी कदम बढ़ाया जब 1919 मे दो कोरियाई सामुदायिक संगठनों—कोरियाई समाजवादियो का संघ तथा नए नागरिकों का संघ—की संयुक्त कांग्रेस का ब्लादीवोस्तक में आयोजन किया ताकि कोरियाई समाजवादी पार्टी स्थापित की जा सके। गठन के बाद यह पार्टी कामिंटर्न मे शामिल हो गयी।[3]

पूरबी मजदूरों द्वारा सोवियत रूस में गठित कम्युनिस्ट समूहों ने अपने देश-वासियों के बीच समझाने व संगठित करने का काफी काम किया। उदाहरण के लिए, मुस्तफ़ा सुभी तथा उनके सहयोगियों ने अपनी पार्टी की संविधान सभा आयोजित करने के प्रबंधों के संदर्भ में बहुत काम किया। आंदोलनकारी देश के उन विभिन्न शहरों मे सक्रिय थे जहाँ भूतपूर्व तुर्की युद्धबंदियों की सघन आबादी थी। उन्होंने रूस में घटित हो रही घटनाओं के अर्थ की व्याख्या की तथा अपने विद्यार्थियों का आह्वान किया कि वे समाजवाद के विचारों को स्वीकार करें। स्वदेश के क्रांतिकारी संघर्षों मे भाग लेने के लिए उन्हें प्रशिक्षित भी किया गया। जबानी तथा छपाई के माध्यम से गंभीर प्रचार-कार्य चलाया गया जिससे कि एशिया में साम्राज्यवादी नीति का पर्दाफाश किया जा सका। साथ ही, मार्क्स एवं लेनिन की प्रमुख रचनाओं का तथा अन्य सामग्री का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद किया गया। रूस के पूरबी कम्युनिस्ट समूहों तथा एशियाई देशों की क्रांतिकारी शक्तियों के बीच पारस्परिक संबंध कायम किये गये। इसका लाभ यह हुआ कि अक्तूबर क्रांति के क्रांतिकारी प्रभाव का विस्तार पूरब के राष्ट्रों तक पहुँच गया

---

1. नरोदी दाल्नेगो वोस्तोका, अंक 2, 1921, इरकुत्स्क, पृ० 212-217, में प्राप्त अपूर्ण जानकारी पर इस लेखक द्वारा लगाया गया अनुमान।
2. एम० ए० स्मीर्नित्न, 'सोवियत सुदूर-पूर्व में आक्रमणकारियों के खिलाफ संघर्ष में कोरियाई मेहनतकश (1918-1922)', वोप्रोसी इस्तोरी, अंक 11, पृ० 175
3. त्रिगुन पाक (पाक दिन शुन) 'कोरिया का समाजवादी आंदोलन', कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, अंक 7-8, 1919, पृ० 1173

तथा उन देशों में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास की प्रक्रिया तीव्र हो गयी। उदाहरण के लिए, रूसी सुदूर-पूर्व में बसे हुए चीनी कम्युनिस्टों ने सनयात सेन से तथा अन्य क्रांतिकारियों से मिलने के लिए अपने प्रतिनिधियों को शंघाई व अन्य शहरों में भेजा। मैं यह पहले भी कह चुका हूँ कि चीन के राष्ट्रीय क्रांतिकारी नियमित रूप से सोवियत रूस आ रहे थे। क्यू क्विबे, जो 1920 के अंत में ही रूस पहुँच गये थे, के अलावा झांग ताईली 21 मार्च, 1921 को इरकुत्स्क पहुँचे। दूसरे ही दिन उन्हें कामिंटर्न के सुदूर-पूर्वी सचिवालय के चीनी सैक्टर का सचिव नियुक्त कर दिया गया। उन्होंने सोवियत सुदूर-पूर्व में चीनी एवं कोरियाई समुदायों के बीच किए गये कम्युनिस्ट कार्य में हिस्सा लिया। ल्यू शाओची, पेंगे शुझी, लुओ ज्यू, रेंग बिशी तथा मार्क्सवाद के अन्य बहुत से अनुयायी अध्ययन करने की दृष्टि से सोवियत रूस पहुँचे।[1]

इस्तंबूल तथा अंकारा से कुछ कम्युनिस्ट तुर्की कम्युनिस्ट संगठनों के केंद्रीय ब्यूरो से संपर्क करने के लिए अक्सर बाकू आया करते थे। सोवियत अधिकारियों द्वारा पूरबी नागरिकों की नियमित (स्वदेश) वापसी 1918 के आरंभ में शुरू कर दी गयी जिससे क्रांतिकारियों के पारस्परिक संबंधों को कायम रखने में काफी सहायता मिली।[2] यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण मुद्दा था क्योंकि यह अपनी मातृभूमियों से वर्षों तक दूर रहे विदेशी मेहनतकशों की अपरिहार्य तथा पूरी तरह से न्यायोचित इच्छा व आकांक्षा को प्रतिबिंबित करता था। साथ ही, स्वदेश भेजने का यह उपाय पूरब में जातीय आत्म-निर्णय तथा समाजवाद के विचारों को प्रचारित-प्रसारित करने का कारगर साधन भी था। सोवियत अधिकारी स्वदेश लौटने वालों को खाना, कपड़ा और धन उपलब्ध कराते थे तथा उन्हें औपचारिक विदाई देते थे। उदाहरण के लिए, साइबेरियाई ब्यूरो के पूरबी विभाग के अध्यक्ष ने पाँचवीं सेना (जिसमें कोरियाई-चीनी रेजिमेंट शामिल था) की इरकुत्स्क प्रांतीय क्रांतिकारी समिति तथा राजनीतिक विभाग के नाम अपने विशेष संदेश में कहा :

1. देखें: यू० कोस्तिन, 'चीन में अक्तूबर क्रांति के बारे में दो दृष्टियाँ', 'नरोदी अज़ी इ अफ्रीकी', अंक 5, 1967, पृ० 79; चांग कुओ-ताओ, 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का उदय' 1921-1927, खंड 1, लारेंस, मैनहटन, 1971, पृ० 128; एम० ए० पेसिस्स, 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास से', 'नरोदी अज़ी इ अफ्रीकी', अंक 4, 1971, पृ० 47-49; उन्हीं की, 'रूस में पूरबी अंतर्राष्ट्रीयतावादी और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से संबंधित कुछ प्रश्न (1918-जुलाई, 1920)', 'कामिंटर्न और पूरब', प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1979, पृ० 82-83

2. वोल्या नूदा, 30 नवंबर, 1918, पृ० 3

"ऐसे चीनी मजदूरों की—जो तीन से छः वर्षों से, बिना एक भी बार बाहर गये हुए, रूस में रह रहे हैं—आंशिक स्वदेशी वापसी इन दिनों हो रही है तथा दाउर की अड़चन दूर हो जाने के बाद—पूरबी बैकल-पार के क्षेत्र की आक्रमणकर्त्ताओं तथा श्वेत गार्डों से मुक्ति हो जाने के बाद—अब यह व्यवस्थित रूप से जारी रहेगी। इन चीनी मजदूरों को विदेश में काफ़ी क्रांतिकारी परेशानियों का सामना करना पड़ा", और इसलिए ब्यूरो ने "रूस छोड़कर जाने वालों के लिए थाने की व्यवस्था को सुधारने, बिना विलंब के उनकी रेल गाड़ियों को जाने देने तथा उनके लिए सरकारी विदाई आयोजित करने"[1] की माँग की। पूरब के नागरिकों की विभिन्न सोवियत सीमावर्ती क्षेत्रों में ऐसी ही विदाई दी गयी। अक्तूबर 1920 में कई हज़ार भूतपूर्व तुर्की युद्धबंदी बाकू में एकत्र हुए। "वह सब बन्दोबस्त हो जाने के बाद जिसकी उन्हें ज़रूरत थी", उन्हें तुर्की के लिए विदा कर दिया गया। विदाई समारोहों में संगीत सभाएँ, बैठकें, व्याख्यान तथा शुभकामना भाषण आयोजित किये गये थे।[2]

क्रांतिकारी रूस से पूरबी मजदूरों की बड़े पैमाने पर स्वदेश वापसी ने उपनिवेशवादियों को बुरी तरह से डरा दिया। वाशिंगटन ने इस भय को बिना किसी लाग-लपेट के अभिव्यक्ति दी। संयुक्त राज्य विदेश विभाग ने, 1919 के अंत में, आमन्न चीनी स्वदेश वापसी के संबंध में ब्रिटिश प्रतिनिधि से पत्र-व्यवहार के क्रम में कहा कि वह "चीनी मजदूरों तथा कुलियों—जो रूस में बोल्शेविक शासन के प्रभाव में रहे हैं—की चीन वापसी को उस समय दी जा रही सहायता के औचित्य को गंभीरता से चुनौती देता है।"[3]

सोवियत रूस में पूरबी मेहनतकशों के बीच अक्तूबर क्रांति के प्रभाव में जिस कम्युनिस्ट आंदोलन का उदय हुआ था उसने ऐसे क्रांतिकारी विचार विकसित किये जिनमें आक्रमणकर्त्ताओं से सोवियत रूस की रक्षा तथा विदेशी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ (अपने यहाँ के राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ भी) अटल संघर्ष निहित था। कहने का अर्थ यह है कि पूरब के अग्रगामी कम्युनिस्ट स्वाधीन विकसित एवं मध्यम विकसित पूँजीवादी देशों की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों तथा एशिया के उत्पीड़ित राष्ट्रों की प्राक्-पूँजीवादी परिस्थितियों की महत्त्वपूर्ण भिन्नताओं को समझने में असफल रहे अथवा उन्होंने इन्हें अनदेखा कर दिया। आरंभिक

---

1. क गा अ, मा-ले सं, अनुभाग 495, रजिस्टर, फ़ाइल 34, पृ० 122
2. कोम्युनिस्त, बाकू, 6 तथा 15 अक्तूबर, 1920, पृ० 3
3. देखें : संयुक्त राज्य विदेश विभाग—संयुक्त राज्य के विदेश संबंधों में संबंधित दस्तावेज़, 1919, सं० रा० राजकीय छपाई कार्यालय, वाशिंगटन, 1937, पृ० 193

पूरबी कम्युनिस्ट इसीलिए पूरब के कम्युनिस्ट आंदोलन की कार्य-नीति एवं रण-नीति से संबंधित प्रमुख मुद्दों पर अपने विचारों की दृष्टि से वाम-संकीर्णतावादी सिद्ध हुए : उन्होंने एशियाई देशों की आसन्न क्रांतियों के पूंजीवादी जनवादी चरित्र को अस्वीकार किया, समाजवादी क्रांतियों से स्वयं को प्रतिबद्धता घोषित की, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की क्रांतिकारी संभावनापूर्ण क्षमताओं को स्वीकार नहीं किया जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने साम्राज्यवाद-विरोधी गुट में उसके साथ सहयोग करने के विचार (प्रस्ताव) को ठुकरा दिया। जन-समूहों के मध्य कष्टसाध्य एवं दीर्घकालीन काम के महत्त्व को न समझकर उसके स्थान पर सोवियत सशस्त्र सेनाओं की सहायता से क्रांतिकारी युद्ध छेड़ने के दुस्साहसी विचार को वरीयता दी गई।

'वामपंथी' बचकाने उग्रवाद के ये सब लक्षण रूस से सटे हुए एशियाई देशों के अधिकांश आरंभिक कम्युनिस्टों में देखे जा सकते थे। इन्हें भारतीयों में भी देखा जा सकता था जो उस समय तक सोवियत रूस में विकसित हो रहे कम्युनिस्ट आंदोलन में शामिल हो चुके थे।

भारतीय प्रवासियों के एक बड़े समूह ने सोवियत रूस में बाद में—यानी 1920 के उत्तरार्द्ध में, तथा चीन, कोरिया, ईरान तथा तुर्की के हजारों उत्प्रवा-सियों—जो क्रांति के पहले से ही रूस में थे तथा जिनमें प्रमुख रूप से मौसमी मजदूर तथा तुर्क युद्धबंदी थे—से भिन्न तरीके से उभरे तथा आकार ग्रहण किया। यह सच है कि उनमें कुछ क्रांतिकारी थे किन्तु अधिकांश महान अक्तूबर क्रांति से आकृष्ट होकर तथा सोवियतों के क्रांतिकारी अनुभव व समाजवादी व्यवहार के अध्ययन की इच्छा से प्रेरित होकर बाद में ही वहां पहुंचे थे।

भारतीय प्रवासी, चाहे वे संख्या में कितने ही कम क्यों न रहे हों, औपनिवे-शिक दासता से अपने देश को मुक्ति दिलाने की प्रमुख क्रांतिकारी लड़ाइयों में सक्रिय रहे थे। वे भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी संगठनों के समूचे शिष्ट मंडलों का प्रतिनिधित्व करते थे, मात्र वैयक्तिक क्रांतिकारियों के समूह नहीं थे।

ईरानी मौसमी मजदूरों तथा चीनी कारीगरों के साथ रूस में रहने वाले भारतीयों की विशिष्टता उनका उच्च शैक्षणिक स्तर था। और अंत में, महान अक्तूबर क्रांति के परिणाम स्वरूप भारतीयों का सोवियत संघ पहुंचना मात्र ही उनके देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में एक सुविचारित और महत्त्वपूर्ण कार्यवाही था तथा भारत पर रूसी क्रांति के जबर्दस्त प्रभाव को व्यक्त करता था।

भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद का अंगीकार किया जाना

भारतीय क्रांतिकारियों का हालांकि उनकी संख्या कम थी, तथा जो रूसी

क्रांति की सारवस्तु को समझने में सफल हुए और परिणाम स्वरूप कम्युनिस्ट आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध हुए, को सोवियत गणराज्य पहुँचना 1920 के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ।

मानवेंद्रनाथ रॉय (1889-1954), जिन्हें भारत प्रथम कम्युनिस्ट माना जाना सही ही है, मई अथवा जून 1920[1] में मास्को पहुँचे। उन्हें कम्युनिस्ट इंटर-नेशनल की दूसरी कांग्रेस में भाग लेने के लिए प्रतिनिधि के रूप में मैक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी ने भेजा था जिसकी स्थापना में उनकी नेतृत्वकारी भूमिका थी।

कुछ समय पूर्व तक कट्टर राष्ट्रवादी क्रांतिकारी (जैसाकि कुछ समय बाद अपने बारे में कहा) युवा रॉय ने भारत पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आधिपत्य के ख़िलाफ़ अपना सक्रिय संघर्ष प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ही प्रारंभ कर दिया था। वह पश्चिम बंगाल के एक गुप्त क्रांतिकारी आतंकवादी संगठन—अनुशीलन समिति—के सदस्य थे। 1915 में संगठन ने रॉय को प्रशांत क्षेत्र के देशों की लंबी विदेश यात्रा पर भेजा ताकि वे हथियार प्राप्त करके भारत भिजवा सकें। यह ब्रिटेन के ख़िलाफ़ भारत-जर्मन कार्यवाही की तैयारियों का ही हिस्सा था जिसके लिए भारतीय क्रांतिकारी काफी दबाव डाल रहे थे। एम० एन० रॉय जावा, कोरिया, जापान व चीन हो आये थे। 1916 के ग्रीष्म में वह 'क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के दूत' के रूप में अमरीका पहुँचे। उन्होंने मार्क्स की रचनाओं का अध्ययन वहीं पर ही प्रारंभ किया तथा परिणामस्वरूप, उन्हीं के शब्दों में, "उन्होंने समाजवाद को, उसके भौतिकवादी दर्शन के बिना, स्वीकार कर लिया।"[2] अमरीकी पुलिस-उत्पीड़न से बचने के लिए अपने भूमिगत हो जाने के दौरान उन्होंने नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य से बदलकर मानवेंद्रनाथ रॉय कर लिया और मैक्सिको चले गये। वहाँ पहुँचकर ही उन्हें महान अक्तूबर क्रांति के बारे में पता चला। उस देश के वामपंथी समाजवादियों पर इसका विशेष असर हुआ तथा इसके प्रभाव में ही एम० एन० रॉय ने अपने वैचारिक विकास की दृष्टि से अगला कदम उठाया: वह कम्युनिस्ट बन गये।

रॉय ने लिखा कि उनके समान मैक्सिको के वामपंथी समाजवादी साथियों ने कम्युनिस्ट बनने का निर्णय एकदम ले लिया और वे भीषण भावात्मक तनाव की स्थिति तथा बड़ी अपेक्षाओं से भरी-पूरी मनोदशा से होकर गुजरे। वैसी ही आकांक्षा रॉय पर हावी रही तथा उन्होंने 'कट्टर राष्ट्रवाद से कम्युनिज्म की ओर'

---

1. एस० जी० सरदेसाई, 'भारत और रूसी क्रांति', कम्युनिस्ट पार्टी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967, पृ० 43
2. 'एम० एन० रॉय के संस्मरण', अलाइड, बंबई, 1964, पृ० 22, 29

आकस्मिक छलांग लगा दी। रॉय ने यह स्पष्ट किया कि उनके मत परिवर्तन की गति व सहजता का प्रेरक राष्ट्रीय (जातीय) संबंधों के प्रश्न पर बोल्शेविक कार्य-क्रम ही था। उन्होंने रेखांकित किया कि "समाजवाद ने अपनी साम्राज्यवाद-विरोधी अर्थछवियों के कारण ही मुझे प्रभावित किया।" यही कारण था कि "क्रांतिकारी साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रवाद से कम्युनिज्म तक के रास्ते का फासला काफ़ी कम हो गया।"[1]

यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं रोचक स्पष्टीकरण लगता है क्योंकि इसमें वह वास्तविक स्थिति प्रतिबिंबित हुई जो अकेले एम॰ एन॰ रॉय के संदर्भ में ही विशिष्ट व सांयोगिक नहीं थी। जिस तरह बाद के भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का मार्क्सवाद की ओर विकास हुआ उसी से स्पष्ट है कि मजदूर वर्ग के आंदोलन से गुजरकर ऐसा नहीं हुआ—क्योंकि उससे उनका कोई वास्ता नहीं रहा तथा उनमें से अधिकांश उसके महत्त्व को समझने में विफल रहे थे—बल्कि साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के माध्यम से तथा सोवियत सरकार प्रणाली—जो दुनिया की प्रमुख उपनिवेश-विरोधी शक्ति तथा पूरब के जनगणों के मुक्ति आंदोलन के समर्थन का मुख्य आधार बन गई थी—के प्रति उनकी सहानुभूति के माध्यम से ही यह संभव हो पाया। इस दृष्टि से यह स्वाभाविक ही था कि जिस तीव्रता से षड्यंत्रकारी कार्यवाहियों में वर्षों तक संलग्न रहे राष्ट्रीय क्रांतिकारियों ने मार्क्सवाद को अपनाया था व कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की थी, उस तीव्रता से उनकी वैचारिक एवं राजनीतिक दृष्टि में तदनुरूप परिवर्तन नहीं था आया।

यही कारण है कि अपने आपको कम्युनिस्ट घोषित कर चुकने के बाद भी अधिकांश भारतीय क्रांतिकारी निम्न-पूँजीवादी क्रांतिवाद की अपनी पुरानी धारणाओं से चिपके रहे: सचेष्ट राजनीतिक कार्यवाही के संदर्भ में मजदूर वर्ग तथा किसानों की सामर्थ्य में अविश्वास, सामूहिक कार्य का एकदम परित्याग, समाजवादी क्रांति की तैयारी में सैन्य कारक की भूमिका एवं महत्त्व की अति-रंजित समझ उक्त क्रांतिवाद के प्रमुख घटक थे।

एम॰ एन॰ रॉय ने अपने संस्मरणों में स्पष्ट किया कि तेजी से कम्युनिस्ट दृष्टिकोण अपना लेने के बावजूद वह "सांस्कृतिक दृष्टि से अभी भी राष्ट्र-वादी थे और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ऐसा पूर्वाग्रह है जो धीरे-धीरे ही समाप्त होता है, एकदम नहीं।" उन्होंने लिखा: "जैसा बाद में मेरी समझ में आया, मेरी प्रगति सतही ही थी।" रॉय ने यह सही ही कहा कि न केवल उन्होंने ही "इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अनुभव किया बल्कि अन्य बहुत से लोग भी

1. 'एम॰ एन॰ रॉय के संस्मरण', अलाइड, बंबई, 1964, पृ॰ 59-60

चमत्कारिक रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजरे तथा उन्होंने कम्युनिज्म को भ्रष्ट कर दिया।"[1] आरंभिक कम्युनिस्टों के मध्य एम० एन० रॉय की प्रतिष्ठा हालांकि शुरू से ही सबसे अधिक शिक्षित व्यक्ति के रूप में थी, तो भी वह वैज्ञानिक कम्युनिज्म के सिद्धांत की सार-वस्तु की सही समझ से कोसों दूर थे। यह एम० एन० रॉय ही थे जो पूरब के कम्युनिस्ट आंदोलन में 'वामपंथी उग्रवाद के बचकाने मर्ज' के सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रतीक के रूप में उभरे तथा जिन्होंने वाम संकीर्णतावादी तर्कों को प्रणाली के रूप में सूत्रबद्ध किया।

एम० एन० रॉय अवनी मुकर्जी (1891-1937) के साथ मास्को आये। मुकर्जी तब से सोवियत संघ में रहते रहे, कामिंटर्न के लिए काम करते रहे तथा अध्ययन करके विद्वान बने। रॉय की तरह ही अवनी मुकर्जी ने भी अपनी क्रांतिकारी कार्यवाहियों की शुरुआत राष्ट्रीय क्रांतिकारी के रूप में, तथा बंगाली आतंकवादी आंदोलन के सदस्य के रूप में की। 1916 में ब्रिटिश अधिकारियों ने उन्हें गिरफ्तार करके सिंगापुर जेल में बन्द कर दिया। 1917 के पतझड़ में वह जेल से निकलकर भागने में, तथा मछुआरों की नाव में बैठकर इंडोनेशिया पहुँचकर शरण लेने में सफल हो गये तथा 1919 तक वहाँ रहे। वहाँ रहते हुए ही उन्होंने पहली बार अक्तूबर क्रांति के बारे में सुना। उन्होंने डच मूल के स्थानीय क्रांतिकारियों से संपर्क किया जिनमें से कुछ पहले से ही मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर क़ायम थे। उनकी सहायता से वह 1920 के शुरू में वह हालैंड (रॉटरडम) चले गये तथा वहाँ से जर्मनी (बर्लिन) पहुँच गये। स्वयं को कम्युनिस्ट घोषित करके उन्होंने कामिंटर्न के पश्चिमी यूरोपीय ब्यूरो से सपर्क स्थापित किया जिसने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए उन्हें मास्को भेज दिया।[2]

प्रतिवादी आचार्य भारतीय क्रांतिकारी संघ के सदस्यों के एक दल के साथ 1 जुलाई, 1920 को काबुल से ताशकंद पहुँचे। हालांकि राष्ट्रीय क्रांतिकारी दल में आचार्य का (अब्दुर रब्ब बर्क़ के बाद) दूसरा स्थान था, पर उन्होंने ताशकंद पहुँचने से पूर्व ही (संभवतया 1920 के शुरू में ही काबुल में) स्वयं को कम्युनिस्ट घोषित कर दिया था।

1907-08 में इंगलैंड में कालेज के दिनों में ही आचार्य की क्रांतिकारी कार्यवाहियाँ शुरू हो गई थीं। प्रथम विश्व युद्ध के अंतिम वर्षों में उन्होंने बर्लिन में

---

1. 'एम० एन० रॉय के संस्मरण', अलाइड, बंबई, 1964, पृ० 59-60
2. पी० उन्नीकृष्णन, 'सोवियत संघ में भारतीय क्रांतिकारी', लिंक, 20 अगस्त, 1964, पृ० 33-34; गौतम चट्टोपाध्याय, 'अवनी मुकर्जी, निडर क्रांतिकारी तथा अग्रणी कम्युनिस्ट', पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1976, पृ० 11, 12, 15

भारतीय क्रांतिकारी समिति के साथ सहयोग किया।[1] जून 1917 में भारत में क्रांतिकारी प्रचार कार्य संचालित करने को समर्पित भारतीय ब्यूरो की स्थापना करने के लिए आचार्य चट्टोपाध्याय (जिनसे उनका परिचय इंगलैंड में ही हो गया था) के साथ स्टॉकहोम पहुँचे। स्टॉकहोम में ही आचार्य ने अक्तूबर क्रांति के बारे में सुना तथा उसका स्वागत किया।[2] उनका वैचारिक तथा राजनीतिक विकास निर्वासित रूसी क्रांतिकारियों (विशेषकर किरिल त्रोयानोव्स्की, जो 1917 में स्टॉकहोम में कामिंटर्न के अधिकारी बने[3]) के साथ निकट व्यक्तिगत संपर्कों से बहुत प्रभावित हुआ।

आचार्य के लिए जो घटनाएँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध हुईं वे थी जून अथवा जुलाई में उनका (महेंद्र प्रताप तथा अब्दुर रब्ब बर्क के साथ) मास्को आगमन तथा लेनिन (जिन्होंने उन सबका स्वागत किया) के साथ उनका वार्तालाप। तदनंतर सोवियत राजनयिकों— या० ज० सूरित्स एवं आई० एम० राइस्नर—के साथ काबुल यात्रा व अफ़गान राजधानी में प्रवास के दौरान उनके दीर्घ संबंधों ने भी आचार्य के वैचारिक विकास में योगदान किया। बहरहाल, कामिंटर्न की तीसरी कांग्रेस के परिचयपत्र कमीशन के नाम 24 जून, 1921 के अपने पत्र में आचार्य ने स्वयं को 'पक्का कम्युनिस्ट' कहा तथा या० ज० सूरित्स एवं आई० एम० राइस्नर का हवाला देते हुए कहा कि उन्होंने रूसी कम्युनिस्ट पार्टी में उनके प्रवेश की सिफ़ारिश करने का वादा किया था। स्वयं को कम्युनिस्ट घोषित कर देने के बाद भी सिद्धांत के बहुत से मुद्दों पर आचार्य का नजरिया राष्ट्रवादी था।

काबुल से तुर्किस्तान पहुँचने वाले कुछ अन्य भारतीय क्रांतिकारियों का भी सोवियत राजनीतिक प्रणाली के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण था। जिन 84 प्रश्नोत्तरियों का मैंने अध्ययन किया है उनमें से तीन-चार ऐसी थीं जो कम्युनिस्ट-सहानुभूति को उद्घाटित करती थीं। उदाहरण के लिए, 23 वर्षीय अब्दुल मजीद ने अपने उत्तरों में लिखा कि वह "कम्युनिस्ट कार्यक्रम के साथ पूरी तरह (पूरे मन से) सहमत थे।" यह उल्लेख करना काफी दिलचस्प होगा कि वह एक कश्मीरी

1. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज, खंड 1, पृ० 17-18
2. कामिंटर्न की तीसरी कांग्रेस के परिचय कमीशन को चट्टोपाध्याय का 25 जून, 1921 का पत्र (के पा अ, मा-ले सं, अनुभाग 400, रजिस्टर 1, फ़ाइल, 208, पृ० 664)
3. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी समिति के पूरबी कमीशन के सदस्य एम० पाव्लोविच के नाम किरिल त्रायोनाव्स्की का 25 अगस्त, 1921 का पत्र (अक्तूबर क्रांति केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 5402, रजिस्टर 1, फ़ाइल 56, पृ० 1-2)

व्यापारी घराने से आये थे तथा अपने सामाजिक पद की दृष्टि से बाबूनुमा काम करने वाले थे, उनकी शिक्षा अधूरी रह गयी थी और 1915 से ही वह क्रांतिकारी कार्य में संलग्न हो गए।

पेशावर के 23 वर्षीय निसार मोहम्मद ने यह घोषणा की कि "यदि कम्युनिस्ट सिद्धांतों को ईमानदारी से क्रियान्वित किया जाए व आगे बढ़ाया जाए तो समूची दुनिया आज़ाद हो जाएगी। उनके पिता भू-स्वामी थे तथा वह सैकंडरी स्तर तक की शिक्षा ही प्राप्त कर पाए थे व 1916 में क्रांतिकारी आंदोलन में शामिल होने तक वह अध्ययन ही कर रहे थे। यह व्यक्ति सोवियत रूस में कम्युनिस्ट बना तथा पूरे जीवन रूस में ही रहा। उन्होंने तदनंतर पार्टी व सरकार के अधिकारी के रूप में काफ़ी काम किया। वह ताजिक सोवियत गणराज्य के शिक्षा-मंत्री पद पर नियुक्त हुए तथा बाद में शोध की ओर मुड़ गये।"[1]

एक अन्य भारतीय—गुलाम मोहम्मद, जो ज़ाहिरा तौर पर भूतपूर्व मुहाजिरीन थे—की मनोदशा व कारगुज़ारियाँ सोवियत सरकार के प्रति भारतीय क्रांतिकारियों की बढ़ती हुई सहानुभूति तथा समाजवाद के सिद्धांतों की क्रमशः स्वीकृति का संकेत देती हैं। ब्रिटिश खुफिया सेवा के मुखबिर अतानास जोवानोविच—जो ज़ार के ज़माने से ही तुर्किस्तान में खुफ़ियागिरी कर रहा था तथा कभी कभी ईरान[2] में घुस जाता था—ने उनके बारे में जो रिपोर्ट दी थी वह उपलब्ध है। 22 अप्रैल, 1922 को जोवानोविच ने मेशहद स्थित ब्रिटेन के वाणिज्य दूतावास अस्पताल में (जहाँ वह रूस से भारत जाते हुए बीमार पड़ जाने के कारण भर्ती हुए थे) गुलाम मोहम्मद से बात की। जोवानोविच ने लिखा : "मुझे तब बेहद आश्चर्य हुआ जब उसने कहा कि 'रूस में बहुत अच्छी लाल सेना है, दुनिया में सबसे अच्छी' तथा यह भी कि 'रूस स्वतंत्र देश है'।" गुलाम मोहम्मद ने बताया कि वह ताशकंद व मास्को में प्रचार पाठ्यक्रमों (कक्षाओं) में अध्ययन कर चुके थे तथा उस स्वतंत्रता से गद्‌गद थे जो उन्हें रूस में प्राप्त हुई थी। तब मुखबिर ने उनसे एक उत्तेजित करने वाला प्रश्न पूछा, "जैसी स्वतंत्रता रूस में है वैसी आप अपने देश के लिए तो नहीं चाहते न?" गुलाम मोहम्मद ने सधा हुआ उत्तर दिया: "हम अंग्रेजों के बाहर चले जाने पर प्रसन्न होंगे" तथा एक क्षण सोचने के बाद जोड़ दिया कि "उसके बाद मैं वापस रूस चला जाऊँगा क्योंकि रूस रहने लायक अच्छी जगह है।" मुखबिर द्वारा यह पूछे जाने पर कि वह अपने नाम में खान शब्द को

---

1. पी॰ उन्नीकृष्णन, 'सोवियत संघ में भारतीय क्रांतिकारी', लिंक, 27 सितंबर, 1964, पृ॰ 33
2. सोवियत सैन्य केंद्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 110, रजिस्टर 3, फ़ाइल 925, पृ॰ 1

क्यों नहीं लगाते थे, गुलाम मोहम्मद ने कहा कि "मेरा रहन-सहन का तरीका सोवियत है—मैं न तो किसी राजा को तस्लीम करता हूँ और न किसी खान को।"[1]

पंजाब विश्वविद्यालय के 22 वर्षीय छात्र अब्दुल कयूम (उनके पिता रेल निरीक्षक थे) ने लिखा कि उन्होंने रूसी कम्युनिस्ट कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया था। (क पा अ, मा-ले सं।) कम्युनिज्म तक की अब्दुल कयूम की यात्रा भी राष्ट्रीयतावादी युवाओं की लाक्षणिक विशिष्टताओं से भरी हुई थी जिन्होंने अक्तूबर क्रांति के प्रभाव का यकायक अनुभव कर लिया था। ऐसा लगता है कि उन्होंने विश्वविद्यालय में रहते हुए ही समाजवाद के उन विचारों की जानकारी पा ली थी जिन्होंने उन्हें अत्यंत आकृष्ट किया था। चूंकि वह अपने देश की मुक्ति के लिए संघर्ष का मार्ग खोजने के प्रति अत्यंत चिंतित व उत्सुक थे, 1919 में वह संयुक्त राज्य जाने ही वाले थे ताकि वहाँ पहुँचकर गदर पार्टी में शामिल हो सकें। पर वह ऐसा नहीं कर पाए और कुछ समय बाद वह खिलाफत संगठन में शामिल हो गये। मार्च 1920 में ब्रिटिश-विरोधी गतिविधियों के लिए उन्हें थोड़े समय के लिए हिरासत में रखा गया। कुछ समय बाद, 13 मई, 1920 को 'खिलाफत क्रांतिकारी परिषद के निर्देशों' के तहत उन्होंने भारत छोड़ दिया तथा निष्क्रमण के व्यापक अभियान में सम्मिलित हो गए। खिलाफत क्रांतिकारी परिषद के निर्देशों की उनकी सोवियत रूस पहुँचने की निजी उत्कट इच्छा के साथ पूरी संगति बैठ गयी। कयूम के उसके बाद के क़दमों व कार्यवाहियों के दस्तावेज़ी साक्ष्य के आधार पर इसे निश्चित व पक्का माना जा सकता है। मुजाहिरीनों के साथ कयूम काबुल पहुँचे, जहाँ से वह शौकत उस्मानी व रफ़ीक़ अहमद के दल के साथ सोवियत तुर्किस्तान चले गये। तुर्किस्तान में बसे प्रवासियों के जीवन की एक उल्लेखनीय घटना ऐसी है जिसके साथ अब्दुल कयूम का नाम जुड़ा हुआ है। सोवियत भूमि पर पैर रखते ही भारतीय क्रांतिकारी समाजवाद के बारे में ऐसी गरमागरम बहसों में उलझ पड़े जिनके परिणामस्वरूप वे समाजवादी सिद्धांतों के पक्षधरों के रूप में छोटे-छोटे समूहों में विभाजित हो गये। अगस्त, 1920 में तर्मेज में छिड़ी ऐसी ही एक बहस में बिल्कुल यही हुआ। जैसाकि अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के अधिकारी ने खबर दी उन लोगों के मध्य 'अच्छा-खासा झगड़ा' हो गया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय दो समूहों में विभाजित हो गये: मामेद

---

1. भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार—विदेश एवं राजनीतिक विभाग, फ़ाइल 359-एम, मध्य एशिया, गोपनीय, संख्या 11, पृ० 22। यह लेखक एल० वी० मित्रोखिन के प्रति उक्त दस्तावेज़ को उपलब्ध कराने के लिए कृतज्ञ है।

अख्तर (भू-स्वामी-पुत्र) के नेतृत्व में राष्ट्रीयतावादी बहुमत समूह और अब्दुल कयूम के नेतृत्व में कम्युनिस्ट रुझान वाला अल्पमत समूह जिसमें केवल 22 व्यक्ति थे।

सोवियत तुर्किस्तान पहुँचकर अब्दुल कयूम ने मार्क्सवाद का स्वतंत्र अध्ययन शुरू कर दिया तथा 1921 के प्रारंभ में अंग्रेजी में एक पुस्तिका लिखने का साहस दिखाया जिसे उन्होंने 'भारतीय श्रमिक एवं किसान : गुटका' की संज्ञा दी। कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के अधिकारी सेवर्ताल्स्की द्वारा इस पुस्तक का 13 अप्रैल, 1921 को प्रस्तुत सार संक्षेप उपलब्ध है। पुस्तिका में सात अध्याय थे। पहले अध्याय 'पूँजीपति और मेहनतकश वर्गों का उदय : हमारे अतीत एवं वर्तमान का अध्ययन' में लेखक ने कुल व्यवस्था से आधुनिक राज्य में संक्रमण और संपूर्ण राजशाही की स्थापना की चर्चा की है। जाहिर है वह वर्तमान सामाजिक वर्गों के उदय की भी चर्चा करते हैं। दूसरे अध्याय का शीर्षक 'संपूर्ण राजशाही से सरकार के साम्राज्यवादी व पूँजीवादी रूप तक विकासमान पूँजीवाद' दिया गया है। तीसरा अध्याय 'हमारी आर्थिक परिस्थितियाँ—अतीत एवं वर्तमान' के बारे में है। भारत की संपदा की चर्चा करते हुए लेखक का बल इस बात पर है कि उसका निर्माण "किसानों एवं मजदूरों के श्रम द्वारा हुआ है जोकि फिर भी भूखों मरते हैं तथा अपने बच्चों को शिक्षा तक मुहैया नहीं कर पाते।" उनके द्वारा पैदा की गयी संपदा को "ताजपोशी समारोहों, बाबुओं के भारी वेतनों व पूँजीपतियों के बच्चों को दिए जाने वाले उपहारों पर" अनुत्पादक रूप से खर्च किया जाता है। चौथे अध्याय का शीर्षक है : 'अब मेहनतकश वर्ग पूँजीवाद का गुलाम नहीं है : आपकी सफलता का मार्ग।' इसमें लेखक ने मेहनतकश लोगों की असहनीय जीवन-परिस्थितियों की चर्चा की है तथा मजदूरों व किसानों को बताया है कि वे "यह भूल जाएँ" कि "उनके लिए ऐसा जीवन भाग्य-लेख के रूप में पूर्व निर्धारित है। हर श्रमिक को वैसे ही जीने का अधिकार है जैसाकि उसके मालिक को है।" पाँचवें अध्याय का शीर्षक है 'यह मार्ग कहाँ को जाता है?' अध्याय छः में कम्युनिज्म के गुण व पूँजीवाद के दोष गिनाये गये हैं। अध्याय सात में 'कम्युनिज्म के अंतर्गत जैसा हमारा जीवन होगा' की व्याख्या की गयी है। लेखक का मत है कि समाजवादियों की दो किस्म होती हैं : (i) राष्ट्रीय समाजवादी जो वस्तुतः राष्ट्रवादी ही होते हैं तथा (ii) अंतर्राष्ट्रीयतावादी समाजवादी। दूसरी श्रेणी के समाजवादियों ने ही मजदूरों व किसानों के "सामाजिक एवं आर्थिक कष्टों के निवारण की संभावना को सिद्ध किया है।" कम्युनिस्ट मत की सार-वस्तु का विवेचन करते हुए लेखक ने यह मत व्यक्त किया है कि वह "साम्राज्यवाद एवं पूँजीवाद की सत्ता को उखाड़ फेंकने की माँग करता है तथा पूँजी के निजी संपत्ति के अधिकार को अस्वीकार करता है", क्योंकि "श्रम प्रत्येक वस्तु का

उत्पादन करता है जबकि पूँजी श्रम को लूटने के अलावा कुछ नहीं करती।" लेखक पुस्तिका का अंत भारत के मजदूरों व किसानों से रूसी मजदूरों के उदाहरण का अनुसरण करने के आह्वान के साथ करता है। उन्हीं के शब्दों में, "यदि आप लोग पूँजीपतियों के अमानुषिक नियंत्रण में नहीं रहना चाहते हैं तो उठ खड़े हों तथा अपनी स्वयं की सहायता करें, आप लोग 30 करोड़ हैं जबकि भारतीयों का मात्र दसवाँ हिस्सा--यदि सेना के रूप में संगठित हो तो—समूची दुनिया पर विजय-पताका फहरा सकता है।" यह अपेक्षाकृत संक्षिप्त सार-संक्षेप भी उस उभरते हुए कम्युनिस्ट के चिंतन की समुचित झलक उपलब्ध करा देता है जिसने कि मार्क्सवाद के ज्ञान को खोज लिया है तथा जो उससे इतना अभिभूत हो गया है कि जन-समूहों को दमन व उत्पीड़न के समस्त रूपों से मुक्ति प्राप्त करने में क़तई विलंब नहीं करना चाहता है। ऐसा करने में लेखक मात्र सहज वृत्ति के सहारे वामपंथी क्रांतिकारी मान्यताओं की ओर बढ़ जाता है। वह भारत में रूसी अनुभव के अनुसरण का आह्वान ईमानदारी से व भाव-विभोर होकर करता है तथा तुरंत समाजवादी क्रांति की माँग करता है जिसमें उसका आशय जन-सेना द्वारा किए जाने वाले सशस्त्र विद्रोह से है तथा क्रांति की किसी भी अवस्था में राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के साथ अस्थायी सहयोग की संभावना उसके लिए अकल्पनीय है। अभिलेखागार से प्राप्त अब्दुल कयूम के पार्टी सदस्यता कार्ड से यह पता चलता है कि उन्होंने 11 अप्रैल, 1921 को पार्टी-सदस्यता ग्रहण की—यानी पुस्तिका लेखन से मुक्त होते ही। लगता यही है कि कयूम के लिए बेहद महत्व की इन दो घटनाओं का एक साथ घटित होना आकस्मिक नहीं है। पुस्तिका ने उन्हें अपने राजनीतिक आत्म-निर्णय की लंबी प्रक्रिया की अंतिम अवस्था में पहुँचा दिया। यही कारण है कि पार्टी-सदस्यता कार्ड के इस प्रश्न ('कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण करने की आपकी क्या प्रेरणा रही है?') के उत्तर में कयूम ने लिखा : "मार्क्स एवं एंगेल्स का अध्ययन।" कुछ समय बाद कयूम ने, निसार मोहम्मद की भाँति ही सोवियत नागरिकता ग्रहण कर ली। उन्होंने कालिनिन शहर में लाल सेना के कमांडर के रूप में काम किया तथा रेल यातायात व उद्योग के पुनर्निर्माण में भागीदारी निभाई।[1]

शौकत उस्मानी राष्ट्रवाद से कम्युनिज्म की यात्रा करने वाले एक अन्य व्यक्ति हैं जो उपनिवेशवाद से भारत को मुक्त करने के संघर्ष के प्रति स्वयं को समर्पित करने वाले विशिष्ट भारतीय क्रांतिकारी युवा थे। उन्होंने 1922 में

1. मसूद अली खान, 'उन दिनों का स्मरण जब क्रांति के लिए भारतीय सोवियत जनता के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर लड़े', न्यू एज, 1 अक्तूबर, 1967, पृ॰ 8

लिखा : "ब्रिटिश शासन के प्रति मेरा घृणा भाव मेरे जन्म के साथ ही पैदा हो गया था। बचपन में मैंने क्रांतिकारी विचारों को पाला-पोसा तथा बारह वर्ष का होते ही मैंने बदला लेने का संकल्प लिया। 19 वर्ष का हुआ कि मैं भूमिगत मैनपुरी संगठन का सदस्य बन गया जिसका लक्ष्य भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त करना था। किन्तु संगठन के भीतर एक गद्दार भी था। वह क़रीब 20 सदस्यों को जानता था। छापा मारकर उन्हें कुछ गोला-बारूद के साथ पकड़ लिया गया। इनमें से कुछ को फाँसी लगा दी गयी तथा शेष को जीवन भर के लिए निष्कासित करके अंडमान द्वीप समूह में भेज दिया गया। यह 1919 की बात है। मेरे दिमाग में ऊटपटाँग व अनियंत्रित विचारों की दौड़ मची हुई थी।" (क पा अ, मा-ले सं।) यह युवा अपनी मातृभूमि को मुक्त कराने के तरीकों की कष्टप्रद तलाश में लगा हुआ था। जब उसे अक्तूबर क्रांति तथा सोवियत सरकार—जिसने उत्पीड़ित जनगणों के मुक्ति संघर्ष को समर्थन देने की तत्परता की घोषणा कर दी थी—के बारे में जानकारी मिली तो उसने यह तय किया कि वह अपने दिमाग़ को परेशान करने वाले प्रश्नों के उत्तर क्रांतिकारी रूस में ही पा सकता था। इसी समय निष्क्रमण अभियान प्रारंभ हुआ था और यह स्वाभाविक ही है कि उसने इसमें शामिल हो जाने का निर्णय किया। उस्मानी के शब्दों में : "अपने साथियों के साथ यह सोचकर मैंने अफ़ग़ानिस्तान जाने का निश्चय किया कि शायद वहाँ रहकर मैं कुछ कर सकूँ।" काबुल पहुँचते ही मुजाहिरीनों की समझ में यह आ गया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ़ दृढ़ संघर्ष करने की काबुल की कोई मंशा नहीं बची थी। उस्मानी ने लिखा कि "इसलिए हमने प्रचार अभियान चलाया कि सभी लोग उत्तर की ओर बढ़ें, तथा मैं ही रूस की ओर कूच के अभियान का प्रमुख उत्तेजक था।" 22 अक्तूबर, 1920 के बाद जब मुजाहिरीन ताशकंद पहुँचे तो वहाँ उन्हें अपने देशवासियों के दो प्रतिद्वंद्वी गुट मिले : भारतीय क्रांतिकारी संघ तथा एम० एन० रॉय का कम्युनिस्ट गुट। "इसलिए मैं तथा मेरे अन्य शिक्षित साथी दुविधा की स्थिति में फँस गये। हम यह नहीं जानते थे इन दोनों में से किसके साथ जाएँ।" शौकत उस्मानी ने लिखा कि दो दिन तक वह झगड़े में फँसे इन दो गुटों के बारे में सूचना एकत्रित करते रहे। जो सूचना वह एकत्र कर पाए वह संघ के अस्वीकार, तथा रॉय की अखिल भारतीय अंतरिम समिति—जिसकी निष्ठा वामपंथी-क्रांतिकारी रुझान में थी—के साथ सहयोग का निश्चय करने के लिए काफ़ी थी। फिर भी मार्क्सवादी सिद्धांत तथा सोवियत नीति का छः महीने तक अध्ययन करने के बाद ही उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। ज़ाहिर है, 1921 के मध्य में मास्को में उन्होंने सदस्यता ग्रहण की।

भारत की निर्वासित अंतरिम सरकार जैसे राष्ट्रीय क्रांतिकारी संगठनों के प्रतिनिधियों के रूप में कुछ भारतीय इन्हीं दिनों तुर्किस्तान पहुँचे थे जिन्होंने कम्यु-

निस्ट दर्शन को स्वीकार कर लिया। अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के भारतीय अनुभाग—जिसमे निर्वासित सरकार के सदस्य तथा कुछ अन्य राष्ट्रीय क्रांतिकारी थे—ने इस अर्थ में काफी तीव्र प्रगति की।

7 मई, 1920 को ताशकंद के इज़वेस्तिया मे टिप्पणी प्रकाशित हुई जिसमे कहा गया कि "अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद ने भारतीय कम्युनिस्ट संगठन स्थापित किया है जिसे भारतीय कबीलो के यहाँ पहुँचने वाले प्रतिनिधियों से सुदृढ किया जा रहा है।" दरअसल, उस समय कम्युनिस्ट संगठन स्थापित करना असंभव ही था। टिप्पणी का लेखक बेसब्री व जल्दबाज़ी का शिकार था, तो भी यह तो स्पष्ट था ही कि संगठन निर्मित करने के प्रयास किए गये थे तथा भारतीयो मे कुछ लोग ऐसे थे जो यह चाहते थे कि संगठन कायम कर दिया जाए। हमे उनके नाम ज्ञात हैं: मोहम्मद अली, अब्दुल मजीद तथा मोहम्मद शफ़ीक।

मोहम्मद अली ने बाद में कहा कि जब वह अफ़गानिस्तान मे ही थे—यानी 1919 के अंत में अथवा 1920 के शुरू मे—तो वह स्वयं को कम्युनिस्ट मानने लग गये थे।[1] किन्तु इससे (अप्रैल, 1920 मे) सोवियत रूस पहुँचने पर वह भारत की अंतरिम सरकार के राष्ट्रवादी विचारों का समर्थन करने से पूरी तरह बच नही पाये। एम० शुल्मान ने 1920 मे ही इस बात को रेखांकित कर दिया था कि मोहम्मद शफ़ीक ने भी कम्युनिस्ट सिद्धांतो को इतनी ही फुर्ती से अपना लिया था। उन्होंने तब लिखा था: "युवा और अनुभवहीन शफ़ीक का संबंध मध्य वर्ग से है। दो महीने पहले तक वह कम्युनिज़्म के घोषित शत्रु थे, पर अब वह अपने को कम्युनिस्ट कहते हैं।" (क पा अ, मा-ले स।)

मोहम्मद अली तथा मोहम्मद शफ़ीक के मार्क्सवादी प्रशिक्षण के स्तर तथा भारत में क्रांति की समस्याओं के प्रति उनके नज़रिये का अत्यंत रोचक एवं निस्संदेह रूप से सही मूल्यांकन उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि यह चरित्र-चित्रण 1921 के अंत में अथवा 1922 के शुरू मे अफ़ग़ानिस्तान मे रूसी गणराज्य के पूर्णाधिकारी प्रतिनिधि फ्योदोर रास्कोल्निकोव ने किया था जोकि काबुल मे उनसे मिले थे जहाँ वे भारत लौटते हुए रुके थे। उन्होंने कहा: "हमारे दोनों युवा भारतीय मित्रो का मुख्य दोष यह है कि भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के प्रति उनका दृष्टिकोण सतही क्रांतिकारी व चरम कम्युनिस्टी है तथा बुनियादी मार्क्सवादी समझ तथा वर्गीय एवं आर्थिक संबंधों का गंभीर विश्लेषण करने की सामर्थ्य से रहित है।" रास्कोल्निकोव ने इस बात पर बल दिया कि "मार्क्सवाद के उनके समस्त ज्ञान के स्रोत लोकप्रिय पुस्तिकाएँ तथा कामिंटर्न पत्रिका के अंक हैं" तथा "कम्युनिज़्म की उनकी सतही समझ उन्हें 'वामपंथ' की ओर मुड़ने को प्रेरित

1. मुज़फ़्फ़र अहमद, 'मैं और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी', पृ० 118-119

करती है, कांग्रेस के राष्ट्रवादी आंदोलन व ख़िलाफ़त का बहिष्कार करने की उनकी इच्छा और भारत में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के ढाँचे के अनुरूप कम्युनिस्ट पार्टी स्थापित करने की उनकी आकांक्षा में इस बात के प्रमाण देखे जा सकते हैं।" (क पा अ, मा-ले सं)

जो बात ध्यान आकृष्ट करती है वह यह कि राष्ट्रवाद से कम्युनिज्म में अपने संक्रमण के बारे में एम० एन० रॉय द्वारा दिए गये मूल्यांकन तथा फ्योदोर रास्को-लिनकोव द्वारा कुछ समय पूर्व इन दो युवा भारतीय कम्युनिस्टों के वैसे ही संक्रमण के मूल्यांकन में बेहद समानता है। जाहिर है यह समानता आकस्मिक नहीं थी। दोनों ही मामलों मे, संबंधित व्यक्ति कम्युनिस्ट दिशा में अपने आरंभिक क़दम उठा रहे थे तथा उनका प्रस्थान-बिंदु भी समान था—यानी निम्न-पूँजीवादी क्रांतिकारी राष्ट्रवाद से ही दोनों ने अपनी वैचारिक यात्रा प्रारम्भ की थी। रॉय की भाँति ही, अन्य भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी भी साम्राज्यवाद-विरोध के मार्ग से गुज़रकर ही कम्युनिज्म तक पहुँचे थे। इस तरह राष्ट्रीय आकांक्षाएँ—बशर्ते उनकी दिशा छोटे तथा पिछड़े हुए देशों के दमन और उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ हो—समान शत्रु (अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद) का विरोध करने में कम्युनिस्टों का समर्थन प्राप्त कर लेती हैं। यह पूरी तरह से तर्कसंगत ही माना जाना चाहिए कि चाहे भारत में अथवा अन्य पूरबी देशों में आरंभिक कम्युनिस्टों का बड़ा हिस्सा निम्न-पूँजीवादी राष्ट्रीय क्रांतिकारियों तथा क्रांतिकारी जनवादियों के बीच से ही उभरा था। पूरब में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास से भयभीत समकालीन साम्राज्यवाद उसकी लोकप्रियता को कम करने की जी-तोड़ कोशिश कर रहा है। इस संबंध मे, बहुत से पूँजीवादी इतिहासकार यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन के लिए कम्युनिस्टो के साथ सहयोग कर पाना एकदम असंभव है क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन देशभक्तिपूर्ण होता है जबकि, उनकी दृष्टि में, कम्युनिस्ट अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के सहयोगी होने के कारण तथा पूरबी सार्वजनिक जीवन की मुख्य धारा—राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष—से कटे होने के कारण पूरी तरह देशभक्तो के विरुद्ध होते हैं। उनकी राय मे, भारत मे तथा पूरब के अन्य देशों में कामिंटर्न तथा बोल्शेविकों के भुगतान प्राप्त एजेंटों ने मार्क्सवाद को कृत्रिम ढंग से रोप दिया है। उदाहरण के लिए, जीन० डी० ओवरस्ट्रीट और मार्शल विंडमिलर ने भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों—जिन्होंने कामिंटर्न के साथ सहयोग किया था तथा मार्क्सवाद के कतिपय सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया था—को 'विदेशी शक्ति के ऐसे एजेंटों' की संज्ञा दी जिनका भारतीय हितों से कम और अंत-र्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के उद्देश्यों व लक्ष्यों से अधिक सरोकार था, तथा जो

इसी आधार पर "भारतीय राजनीति की मुख्य धारा से पूरी तरह कट गये थे।"[1] इस तरह के तर्क वस्तुस्थिति से काफी दूर हैं। भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का उदाहरण, मार्क्सवाद को अंगीकार कर लेने वाले चीन, तुर्की व ईरान के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों व क्रांतिकारी जनवादियों के उदाहरण की भाँति ही, कम्युनिज्म तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के बीच के तथाकथित विरोध को गलत सिद्ध करता है। किन्तु मार्क्सवाद के सिद्धांतों को स्वीकार करते हुए भी बहुत से क्रांतिकारी बहुधा अपने साथ गहरी जड़ों वाली धार्मिक भावना के कुछेक तत्वों तथा निम्न-पूँजीवादी क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के अवशेषों को लाए जो उन्होंने भूमिगत् राष्ट्रीय क्रांतिकारी संगठनों के सदस्यों के रूप में विकसित किए थे। इन पर विजय प्राप्त करने में कई वर्ष लगे।

जाहिर है कि यह अन्यथा हो ही नहीं सकता था क्योंकि भारतीय तथा अन्य राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का सामाजिक व आर्थिक परिवेश उन्हें वह सब सामग्री दे ही नहीं सकता था जोकि मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिक्षाओं के सहज ज्ञान व शीघ्र आत्मसात्करण के लिए अपरिहार्य थी।

मार्क्सवाद की ओर आगे बढ़ते हुए पूरबी क्रांतिकारियों के लिए अपनी पारंपरिक धार्मिकता पर विजय प्राप्त कर पाना काफी मुश्किल था। यही कारण होना चाहिए कि उन्होंने इस पर अक्सर ही विचित्र तरीके—मार्क्सवाद के धार्मिक रूपांतर अथवा अपने धर्म (ज्यादातर मामलों में, इस्लाम) की समाजवादी व्याख्या के माध्यम से—से विजय प्राप्त की। फयोदोर रास्कोल्निकोव द्वारा प्रस्तुत मोहम्मद अली तथा मोहम्मद शफीक के पूर्व वर्णित चरित्र-चित्रण में यह साफ था कि वे दोनों ही "कम्युनिज्म तथा धर्म के बीच किसी भी तरह के विरोध की अनुपस्थिति पर जोर देते थे।" शौकत उस्मानी—जो सोवियत रूस में कम्युनिस्ट बने थे, ने इसी विचार को अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त किया था। एम० एन० रॉय को अपने 20 जून, 1922 के पत्र में उन्होंने लिखा: "इस्लाम समानता की शिक्षा देता है, कम्युनिज्म भी यही करता है। यही कारण है कि मैं कम्युनिस्ट हूँ।"

(क पा अ, मर-ले सं।)

कुछ क्रांतिकारी ऐसे थे जिन्हें इस्लाम की समाजवादी व्याख्या ने ही वैज्ञानिक कम्युनिज्म के वास्तविक सिद्धांतों की गहरी समझ प्राप्त करने व बाद में उन्हें स्वीकार करने तथा अपनी धार्मिक प्रतिबद्धता त्यागने को प्रेरित किया। एक मुजाहिरीन, मोहम्मद इकबाल, का विकास अत्यन्त लाक्षणिक है। वह उन लोगों में से थे जो 1920 की गरमी में ही ताशकंद पहुँच गये थे। 25 नवंबर, 1920

---

1. जीन० डी० ओवर स्ट्रीट, मार्शल विंडमिलर, 'भारत में कम्युनिज्म', पृ० 533

को भारतीय क्रांतिकारी समिति के निर्देशों पर क्रांतिकारी कार्य करने के लिए उन्होंने भारत के लिए प्रस्थान कर दिया। काबुल पहुँचकर (वह वहाँ 1 फ़रवरी, 1921 को पहुँचे) उन्होंने 4 अप्रैल, 1921 को एम० एन०· रॉय को पत्र लिखा जिसमें उन्हें सूचित किया कि अब्दुल हक़—उनके सहयात्री—के विश्वासघात के कारण उन्हें "कम्युनिस्ट के रूप में, यानी नास्तिक के रूप में धिक्कारा गया तथा हर व्यक्ति यही सोचता था कि मैं कम्युनिस्ट हूँ, यद्यपि कम्युनिस्ट मैं कभी भी नहीं रहा। किन्तु अब मैं पक्का कम्युनिस्ट बन गया हूँ तथा आप मेरा नाम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य के रूप में लिख सकते हैं। कम्युनिस्ट कार्यक्रम के साथ अब मेरी पूर्ण सहमति है तथा उसे प्रचारित करने के लिए मैं अपनी पूरी कोशिश करूँगा।" (क पा अ, मा-ले सं।) यह सच है कि इकबाल को अभी बहुत कुछ पढ़ना व समझना था ताकि वह जल्दबाजी में लिये गए अपने निर्णय के प्रति अंतिम रूप से आश्वस्त हो पाते। किन्तु इस्लाम की समाजवादी व्याख्या से मार्क्सवाद की ओर संक्रमण प्रारम्भ हो ही गया था।

स्वाभाविक ही है कि भारत के उभरते हुए कम्युनिस्टों का वैचारिक स्तर काफी नीचा था (दरअसल, यह बात समूचे पूरब के आरंभिक कम्युनिस्टों पर लागू होती थी)। उदाहरण के लिए, प्रचार एवं कार्यवाही की बाकू परिषद के सदस्य, ईरान के आगा जादे कोमरम तक ने "सामुदायिक व्यवस्था के अंतर्गत जीवन-यापन करते व सामुदायिक सैन्य टुकड़ियों के स्वामी" कबिलायों की ओर इशारा करते हुए यह तर्क दिया कि "ईरानी जनगण में कम्युनिज्म की जड़ें हैं।" उनकी राय में, ईरानी लोग कम्युनिज्म को "धार्मिक शिक्षा के रूप में समझाते थे जो कि स्वार्थी अंग्रेजों, जमींदारों व मुनाफाखोरों के शिकंजे से पीड़ित जनगण की मुक्ति की वकालत करती थी।"[1]

तेहरान भूमिगत कम्युनिस्ट संगठन, अदालत ने 1921 के आरम्भ तक एक नियम लागू कर रखा था जिसके अंतर्गत "पार्टी सदस्यता के लिए आवेदन करने वाले प्रत्येक सदस्य को पार्टी अनुशासन का पालन करने के लिए कुरान की शपथ लेना अनिवार्य था।"

मुस्तफ़ा सुब्ही, जो स्वयं को कम्युनिस्ट तथा यूरोपीय तुर्की के मजदूरों का प्रतिनिधि कहते थे, ने सोवियत संघ की क्रांतिकारी सैन्य परिषद को फ़रवरी 1921 में विशेष रिपोर्ट भेजी जिसमें तर्क देकर यह सिद्ध किया कि तुर्की सर्वहारा 13 शताब्दियों से भी अधिक से कम्युनिज्म के विचारों से परिचित था, कि पैगंबर मोहम्मद सहित सभी मुस्लिम संत या तो किसान रहे थे या मजदूर, तथा यह भी कि "सामाजिक क्रांति के विचारों से पुष्ट मुस्लिम कार्यक्रम व उसका सविधान

---

1 कम्युनिस्ट, बाकू, 8 दिसंबर, 1920

वर्तमान बोल्शेविक कार्यक्रम से थोड़ा ही भिन्न है।" इसलिए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि "पूरब में कम्युनिस्ट क्रांति अपनी शक्ति शीघ्र ही प्रदर्शित कर देगी।"[1]

इन उदाहरणों—जैसे इनकी संख्या आसानी से बढ़ाई भी जा सकती थी—से हमें पूरब के अग्रगामी कम्युनिस्टों के वे प्रयास झलकते हैं जो उन्होंने समाजवाद के विचारों का पूरबी मनुष्य की धार्मिक चेतना के साथ तालमेल बैठाने के लिए तथा इनकी स्वीकृति को सहज व आसान बनाने, अपने दृष्टिकोण पर विजय प्राप्त करने को कम कष्टकर बनाने और मार्क्सवाद में आस्था पैदा करने की गति तेज करने के लिए किये थे।

कुरान के समतावादी सिद्धांतों की मान्यता पर आधारित, इस्लाम तथा समाजवाद के वैचारिक साम्य की अवधारणा मुस्लिम पूरब में अक्तूबर क्रांति के बहुत पहले ही व्यापक रूप से प्रसारित हो चुकी थी। पूरब के राष्ट्रीय क्रांतिकारी तथा क्रांतिकारी जनवादी तत्वों—जो यद्यपि धर्मोन्माद से तो मुक्त नहीं हो पाए थे किन्तु पश्चिमी समाजवादी सिद्धांतों के प्रभाव का स्वयं अनुभव करके, उसी अथवा अधिक सीमा तक धार्मिक प्रतिबद्धता वाले अपने देशवासियों के मध्य इन विचारों को प्रचारित-प्रसारित करने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे थे—द्वारा इस प्रकार के तर्क प्रस्तुत करना आम बात थी।

कुरान में समाजवादी सिद्धांतों के स्रोत निहित होने संबंधी मान्यता का प्रसार नवंबर 1917 के बाद तेजी से होना शुरू हुआ जो इस बात का प्रमाण था कि महान अक्तूबर क्रांति के विचारों की एशिया में पैठ होने लग गई थी। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि कई आरंभिक पूरबी कम्युनिस्ट इस नज़रिये पर कायम थे। जहां तक राष्ट्रवाद से प्रतिबद्ध क्रांतिकारियों का प्रश्न है, उनमें से भी बहुत से इस तर्क को समर्थन देने लगे।

कुरान में समतावाद के तत्वों को खोजने की कोशिश करके और उन्हें वास्तविक समाजवादी सिद्धांतों के रूप में प्रस्तुत करके, वे धार्मिक मुस्लिम जन-समूहों को इस विचार से सहमत कराना चाहते थे कि सोवियत रूस के साथ मैत्री करके ही औपनिवेशिक दमन के खिलाफ़ संघर्ष में उसका समर्थन प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही, वे प्रतिक्रियावादी प्रचार के इस तत्त्व की काट भी करना चाहते थे कि कम्युनिज्म का प्रमुख लक्षण उसकी अटल नास्तिकता तथा आस्थावानों के प्रति दुश्मनी का रवैया है।

कुरान की इस तरह की समाजवादी व्याख्या कई लोगों ने की थी जिनमें

1. सोवियत सैन्य केन्द्रीय राज्य अभिलेखागार, अनुभाग 33988, रजिस्टर 2, फ़ाइल 464, पृ० 792-793

प्रमुख थे बरकत उल्लाह तथा अब्दुर रब्ब बर्क, जिनसे हम पहले से ही परि
हैं। उदाहरण के लिए, बरकत उल्लाह की दो ख़ास प्रस्थापनाओं को देखें :

(1) यहूदी धर्म, ईसाइयत व इस्लाम के आरंभिक पैग़ंबरों के समय में
लोग इन पैग़ंबरों द्वारा बनाए गये *समाजवाद के नियमों के अ*
जीवन-यापन करते थे;

(2) समता और भ्रातृत्व के सिद्धांतों—जिन्हें प्रत्येक धर्म का समर्थन प्र
है तथा जो इस सूत्र में *"अपने भाइयों के लिए वही कामना करो जो*
स्वयं अपने लिए करते हो" व्यक्त होते हैं—*को सोवियत रूस में व्य*
हार में लागू कर दिया गया है।[1]

अब्दुर रब्ब के नेतृत्व वाले भारतीय क्रांतिकारी संघ के मूल कार्यक्रम में
दो बिंदुओं को अगल-बगल में रखा गया था : संघ "कम्युनिज्म के सिद्धांतों
रक्षा करेगा" तथा "राष्ट्रवादी एवं धार्मिक प्रचार-कार्य करेगा"। इस तरह
विचार केवल भारत में ही नहीं फैले। उदाहरण के लिए हम *अरब एकता समि*
के सदस्य अब्दुर क़ादिर द्वारा *19* दिसंबर, *1920* को लिखे गये दस्तावेज
कुछ अंशों को देख सकते हैं जिसे उन्होंने अंकारा स्थित सोवियत प्रतिनिधि श०व
एलियावा के माध्यम से रूसी गणराज्य के विदेशी मामलों के मंत्री ग्यार्जी चिचेरि
को प्रेषित किया गया था। उक्त संदेश के लेखक ने अपने तर्कों से यह सिद्ध कर
का प्रयास किया कि *बोल्शेविकवाद तथा इस्लाम के बीच वैचारिक साम्य तो*
ही, सोवियत रूस और अरबों के बीच एकता तथा मैत्री न केवल संभावना
बल्कि अनिवार्यता है। लेखक की यह मान्यता थी कि सोवियत सरकार उ
सिद्धांतों को क्रियान्वित कर रही है जिनका प्रवर्तन बहुत समय पहले कुरान द्वार
कर दिया गया था।

अब्दुल क़ादिर ने *'इस्लाम धर्म और बोल्शेविक कार्यक्रम'* नामक अनुभाग मे
लिखा : "इस्लाम स्वतंत्रता, समानता व भ्रातृत्व की ओर सीधा रास्ता है क्योंकि :

(1) इस्लाम धर्म प्रत्येक व्यक्ति को समान मानता है;

(2) वह शत्रुता, हिंसा व निरंकुशता का उन्मूलन करता है;

(3) वह समूची मानवता के अधिकारों को क़ायम करता है।"

लेखक का निष्कर्ष यह है कि *"बोल्शेविकवाद का जन्म इसी सिद्धांत से हुआ*
है। क्योंकि बोल्शेविकवाद का सारा गुस्सा उन लोगों के ख़िलाफ़ निकलता है जो
संरक्षण प्रदान करने के नाम पर जनगणों को गुलाम बनाते हैं"। अतः इस्लाम
और बोल्शेविकवाद की मैत्री व उनके बीच सहमति घनिष्ट व स्वाभाविक है।
अरबों और बोल्शेविकों की मैत्री जोर-जबर्दस्ती तथा बल प्रयोग करने वालों—

---

1. इश्तिराकियत, ताशकंद, 16 अप्रैल, 1919 पृ० 1

अंग्रेजों, फ्रांसीसियों व इतालवियों—पर शक्तिशाली एवं निर्मम आघात का काम करेगी। इस तर्क-दृष्टि को अपर्याप्त मानते हुए लेखक को यह जोड़ना जरूरी लगा कि "अरबों की आस्थाओं व रोजमर्रा की जिंदगी का बोल्शेविकवाद से इतना अधिक साम्य है कि बोल्शेविकों से मैत्री व संपर्क बनाये रखकर अरबों का संघर्ष न केवल संभव है बल्कि स्वाभाविक भी है।"

अक्तूबर क्रांति के आरंभिक वर्षों में न केवल इस्लाम बल्कि बौद्ध धर्म के बारे में भी इस तरह की धारणाएँ मुस्लिम क्षेत्रों से प्रकाशित होने वाले सोवियत समाचारपत्रों तक में देखी जा सकती थी। उदाहरण के लिए बाकू से प्रकाशित कोम्युनिस्त किसी कुबद कासिमोव ने पूरबी राष्ट्रों को सोवियत सहायता की अपरिहार्य आवश्यकता को सिद्ध करने की कोशिश की तथा इन आशंकाओं की अभिव्यक्तियों पर आपत्ति प्रकट की कि ये जनगण अपने पिछड़ेपन के कारण अपने देशों में समाजवादी व्यवस्था कायम नहीं कर पाएँगे। उसने लिखा : "कुछ लोग यह भूल जाते हैं कि पूरबी लोगों के रीति-रिवाजों, तौर-तरीकों, आदतों तथा स्थानों का कम्युनिज्म के विचारों से पूर्ण सादृश्य है। प्रासंगिक प्रकरण के रूप में हम बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को ले सकते हैं जोकि दुनिया के धर्मों में प्रमुख है तथा जो यह घोषित करता है कि बौद्धों को प्रत्येक व्यक्ति के साथ बिना भेदभाव तथा सहिष्णुता, भद्रता तथा भ्रातृत्वयुक्त प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। कासिमोव ने इसके आगे यह वक्तव्य भी दिया कि पूरब के उत्पीड़ित जनगण अपने मुक्ति-दाताओं की प्रतीक्षा कर रहे हैं तथा उठकर उनका स्वागत करने के लिए तैयार हैं ताकि "कम्युनिज्म के विचारों को क्रियान्वित कर सकें जिनमें लंबे समय से उनकी आस्था रही है।"[1]

परिणामस्वरूप, इस्लाम की तथाकथित समाजवादी व्याख्या, स्वाभाविक है कि उसके पीछे कोई वैज्ञानिक औचित्य नहीं था, वे कतिपय धर्मप्राण क्रांतिकारियों के संकल्प (स्वयं के लिए व अपने अनुयायियों—मेहनतकश लोग—के लिए मार्क्सवाद को अपनाने के तथा सोवियत रूस के साथ सहयोग करने के) को ही प्रभावित किया था। और इस अर्थ में, उक्त व्याख्या का सकारात्मक प्रभाव पड़ा।

फिर भी यह नहीं भुलाया जा सकता कि इस्लाम की इस व्याख्या का प्रति-क्रियावादी शक्तियों द्वारा भी दोहन किया गया। उन्होंने इसका उपयोग वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों की काट करने के अस्त्र के रूप में किया। अक्तूबर क्रांति के प्रभाव के अंतर्गत ये विचार समूचे पूरब में प्रचलित एवं मान्य हो गये थे। इसलिए उन्होंने जो तर्क-नीति अपनायी वह कुछ इस तरह थी : इस्लाम में समाजवाद के

1. कोम्युनिस्त, बाकू, 2 जून 1920, पृ० 1

विचार निहित थे, बोल्शेविकों ने बहुत पहले क़ुरान द्वारा प्रस्थापित सूत्रों को केवल दोहराया ही था, किंतु उन सिद्धांतों को प्रेरित करने वाले उस धार्मिक स्रोत के प्रति कृतज्ञ होने के बजाय उन्होंने धर्म मात्र को अस्वीकार कर दिया था। इस तर्क-नीति ने धर्मप्राण जनसमूहों के लिए सोवियत रूस के निकट आने को और कठिन बना दिया, मेहनतकशों व शोषकों के धार्मिक साम्य को बनाये रखा, तथा आकार ग्रहण करते सर्वहारा को वर्ग-आधारित समुदाय बनने से रोका तथा वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों की ओर से उसका ध्यान हटाया। हमारे समय में, समाजवाद तथा इस्लाम के बीच वैचारिक साम्य एवं निकटता का दोहन यह सिद्ध करने के लिए किया जाता है, जैसा कि बंद्योपाध्याय प्रकरण से स्पष्ट है, कि भारत तथा समूचे पूरब पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव एकदम नगण्य था।

मार्क्सवाद की मंज़िल तक पहुँचने में पूरबी राष्ट्रीय क्रांतिकारियों को इतना टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता तय करना पड़ा तथा अपनी पारंपरिक मनोवृत्ति से छुटकारा पाने में इतनी कठिनाइयों का सामना करना व उनसे उबरना पड़ा कि उनमें से अधिकांश स्वयं को कम्युनिस्ट घोषित कर देने के बावजूद एकदम कम्युनिस्ट नहीं बन गये। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में यह बात खास तौर से उजागर हुई जहाँ एम० एन० रॉय ने लेनिन के विरोधी के रूप में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया था।

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी विश्व-कांग्रेस में भारत एवं अन्य पूरबी देशों के आरंभिक कम्युनिस्ट

'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' की दूसरी कांग्रेस में भारत के एक बड़े समूह ने भाग लिया था। सही बात तो यह है कि उस समय विश्व में रहने वाले लगभग सभी भारतीय कम्युनिस्ट उक्त इंटरनेशनल में सम्मिलित हुए।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय है कि एम० एन० रॉय अपने कल्पित नाम—रॉबर्ट एलन रॉय—से प्रतिनिधिमंडल में शामिल हुए थे। उन्हें मैक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से मत देने का अधिकार भी प्राप्त था, जबकि वास्तविकता में वे भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। अवनि मुखर्जी तथा प्रतिवादी आचार्य को उक्त कांग्रेस में परामर्श देने का अधिकार था।[1] मोहम्मद शफ़ीक पर्यवेक्षक की हैसियत से सम्मिलित हुए।[2] आचार्य और शफ़ीक को 'अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद्'[3]

1. देखिए : कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, शब्दशः प्रतिवेदन, पेत्रोग्राद, 1921, पृ० 661-662 (रूसी भाषा में)
2. मुज़फ़्फ़र अहमद, मैं और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, पृ० 68
3. इज़्वेस्तिया, ताशकंद, 16 जुलाई, 1920, पृ० 2

की ओर से भेजा गया, यद्यपि वे दोनों ताशकंद में, भारत के अलग-अलग क्रांतिकारी संगठनों से सम्बन्धित थे। आचार्य का संबंध 'भारतीय क्रांतिकारी एसोसियेशन' से था, जबकि शफ़ीक 'सोवियतप्रांप के भारतीय अनुभाग' से अपना संबंध रखते थे।[1] एम० एन० रॉय की पत्नी इवेलिन ट्रेण्ट रॉय भी परामर्श देने का अधिकार लेकर इसमें उपस्थित थी, उन्हें यह अधिकार 'मैक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी' के प्रतिनिधि के रूप में मिला था।[2]

पूरब के दूसरे देशों—तुर्की, ईरान, कोरिया और चीन—के कम्युनिस्ट प्रतिनिधि भी इस कांग्रेस के प्रतिनिधि-मण्डलों में थे, जहाँ भारत से पहले ही कम्युनिस्ट आंदोलन आरंभ हो चुके थे। वी० आई० लेनिन ने इस बात का विशेष ध्यान रखा था कि "पूरब के औपनिवेशिक और पिछड़े हुए देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ और उनके समूह, कांग्रेस में" पाश्चात्य देशों के कम्युनिस्टों के समान ही प्रतिनिधित्व करें तथा उनके समीप ही उनका स्थान हो, जिससे कि विकसित देशों के क्रांतिकारी आंदोलन पथभ्रष्ट न होने पाएँ, क्योंकि औपनिवेशिक राष्ट्रों के मुक्तिसंघर्षों से पूर्ण एवं सम्भाव्य निकटता के अभाव में वे अपने रास्ते से भटक सकते थे।[3]

वस्तुतः, कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस, विश्व समाजवादी-आंदोलन के अनेक वर्षों में पहली बार कम्युनिस्टों के वास्तविक अंतर्राष्ट्रीय मंच का स्वरूप बनी थी, जिसमें न केवल पश्चिमी देशों का प्रतिनिधित्व था वरन् पूरबी देश भी सम्मिलित

---

1. उन दिनों रेल-परिवहन की गड़बड़ के कारण शफ़ीक़ और आचार्य 19 जुलाई से आरंभ होने वाली कांग्रेस में विलम्ब से पहुँच सके थे क्योंकि 4 जुलाई से पूर्व वे ताशकंद से नहीं चल पाये थे। संभावना तो यह भी है कि 12 जुलाई से पहले वे नहीं चल सके। यह सब 3 जुलाई की एक रिपोर्ट (ताशकन्द का 'इज़वेस्तिया', 4 जुलाई, 1920 में प्रकाशित) से पता चलता है कि 2 जुलाई को 'भारतीय क्रांतिकारी एसोसियेशन' के सदस्यों का एक बड़ा समूह ताशकंद आया था तथा 12 जुलाई की एक रिपोर्ट में उल्लेख है कि कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में भाग लेने के लिए आचार्य और शफ़ीक़ ने मास्को प्रस्थान किया था (इज़वेस्तिया, ताशकंद, 16 जुलाई, 1920)। यदि यह वास्तविकता है तो, इनका विलंब से प्रस्थान ही कारण हो सकता है कि एम० एन० रॉय ने अपने संस्मरणों में कांग्रेस में आचार्य और शफ़ीक़ की उपस्थिति के विषय में कुछ नहीं कहा।
2. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, पृ० 662
3. देखिए: वी० आई० लेनिन, 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस', संकलित रचनाएँ, प्रतिवेदन 31, पृ० 271

थे। इस प्रकार, इसमें प्रतिनिधित्व को व्यापक आधार मिला था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस की बनावट उसके सोच-विचार से पूरी तरह मेल खाने वाली थी। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कांग्रेस के कार्य-व्यवहार में तमाम पूरबी देशों से संबंधित विषयों को लेनिन के निर्देशन में विचार हेतु रखा गया था, जो इस बात का संकेत है कि उत्पीड़ित देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों की समस्याओं के प्रति कामिंटर्न का रुख कितना गंभीर था। इस कांग्रेस में पूरब की समस्याओं से संबंधित व्यापक क्षेत्रों की समीक्षा की गयी, यथा : औपनिवेशिक समाज के सामाजिक एवं आर्थिक स्तर, पूरबी देशों में संभावित क्रांतियों का स्वरूप, इन क्रांतियों में राष्ट्रीय बुर्जुआजी तथा अन्य वर्गों—विशेषकर किसानों की भूमिका, राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों के प्रति कम्युनिस्टों का रवैया, पूरबी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के विशेष कर्तव्य, जिनमें कुछ का उल्लेख किया गया था। इस कांग्रेस के निर्णय, वी० आई० लेनिन द्वारा प्रथम विश्वयुद्ध और अक्तूबर क्रांति के बाद प्रस्तुत, कम्युनिस्ट और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के विषयों से संबंधित रचनाओं पर आधारित थे।

राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों से संबंधित कांग्रेस के प्रस्ताव 5 जून, 1920 से पहले वी० आई० लेनिन द्वारा तैयार कर लिये गए थे, जिन्हें 'राष्ट्रीय औपनिवेशिक प्रश्नों पर प्रारंभिक दस्तावेज' (ड्राफ्ट थीसिस) नाम दिया गया।[1] इस दस्तावेज का प्रकाशन जून के मध्य में हुआ।[2] लेनिन के अनुरोध पर पूरबी देशों की समस्याओं से सुपरिचित कम्युनिस्टों ने इस पर जून और जुलाई में संपूर्णतः विचार-विमर्श किया।

उस समय एम० एन० रॉय मास्को में थे, जो मई 1920 में मास्को पहुँच चुके थे।[3] वी० आई० लेनिन ने अपने हस्तलेख में 'कामरेड रॉय के सुझाव एवं समीक्षा हेतु'—लिखकर इस दस्तावेज को रॉय के पास भिजवाया था।[4]

इन समस्याओं पर लेनिन से विचार-विमर्श के दौरान रॉय ने अपनी कट्टर वाम-संकीर्णतावादी विचार-पद्धति को स्थापित किया। इन विचारों में कुछ भी नया नहीं था, क्योंकि ऐसे विचार दूसरे पूरबी देशों के कुछ आरंभिक कम्युनिस्ट नेता पहले ही व्यक्त कर चुके थे। एम० एन० रॉय उन सभी से इस बात में अलग थे कि इन्होंने उन विचारों को अधिक स्पष्टता और दृढ़ता के साथ प्रस्तुत किया तथा

1. देखिए : वी० आई० लेनिन, 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर प्रारंभिक दस्तावेज (ड्राफ्ट थीसिस), संकलित रचनाएँ, प्रतिवेदन 31, पृ० 144-151
2. देखिए : कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, नं० 11, 1920, पृ० 1719-1724
3. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 304
4. वही, पृ० 340

जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है कि रॉय ने वामपंथी संकीर्णतावाद के सभी तर्कों को एकीकृत स्वरूप प्रदान कर प्रस्तुत किया।

प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि वी० आई० लेनिन ने रॉय के साथ घंटों बातचीत में यह समझाने का प्रयत्न किया कि उनके 'वाम' विचार अवैज्ञानिक एवं नुकसानदेह हैं। इस वार्तालाप में लेनिन का व्यवहार बहुत विनम्रता, सहनशीलता और पूर्णतः पूर्वाग्रह रहित था, जैसाकि स्वयं रॉय ने बाद में लिखा।[2]

लेनिन की थीसिस का सबसे बड़ा विचार-बिंदु, पूरबी देशों में बुर्जुआ-प्रजातान्त्रिक आंदोलनों को कम्युनिस्टों का समर्थन, माना जाता है। इस विचार से लेनिन इस निष्कर्ष तक पहुँचे कि एशिया के पराधीन तथा औपनिवेशिक देशों में सामंती या विशेषतः कबीलाई संबंधों की प्रधानता है। इन देशों के सामंत तथा कबीलों के मुखिया विदेशी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व को बनाये रखने में सहायक हैं जबकि उदीयमान राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद के विरोध में काम कर रहा है।

पूरब के देशों में—विशेषकर भारत में, प्रथम विश्व युद्ध और रूस की अक्तूबर क्रांति के बाद राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में चलने वाले मुक्ति आंदोलन जन-जीवन का अंग बन चुके हैं।—लेनिन ने वास्तविकता को समझते हुए यह नतीजा निकाला था। इसके साथ-साथ चलने वाले दूसरे कार्य, जैसे वर्ग-प्रेरित किसानों के आंदोलन तथा सर्वहारा वर्ग की आरंभिक समूह-शक्ति आदि भी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के ही अंग थे।

स्वाधीन राष्ट्र-राज्यों के निर्माण के लम्बे संघर्ष में, पिछड़े हुए देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को अपनी वैचारिक एवं संगठनात्मक स्वाधीनता की रक्षा करते हुए, बुर्जुआ वर्ग के साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति आंदोलनों का सहयोग एवं समर्थन करना चाहिए था तथा विदेशी साम्राज्यवादी ताकतों एवं देशी सामंतवाद के विरोध में और अधिक सख्त कदम उठाने के लिए बुर्जुआ वर्ग को इस दिशा में आगे बढ़ाने की आवश्यकता थी।

पिछड़े देशों में राष्ट्रीय आंदोलनों का मुख्य आधार एवं सबसे बड़ी शक्ति किसान-वर्ग था।[3] इसलिए इस वर्ग का विशेष महत्व था। कहने का मतलब है कि

---

1. मास्को में 9 जून से 12 जून, 1923 तक राष्ट्रीय गणतंत्रों एवं क्षेत्रों के एक्जीक्यूटिवों सहित आर सी पी की केंद्रीय समिति का चौथा सम्मेलन, शब्दशः प्रतिवेदन, मास्को, 1923, पृ० 191 (रूसी भाषा में)
2. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 380-381
3. देखिए : वी० आई० लेनिन, 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों के आयोग की प्रतिवेदन', संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 241

पूरब के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का समर्थन करने की बात पर लेनिन द्वारा ज़ोर देने का यही कारण था कि किसान-आंदोलन के समर्थन एवं सहयोग से कम्युनिस्ट उनके निकट पहुँच सकेंगे।[1] साम्राज्यवाद-विरोधी ताक़तों के संयुक्त मोर्चों की स्थापना के आह्वान तथा जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार के रूप में इसे जाना जाता है।

उन समस्याओं पर रॉय के तत्कालीन विचारों का निर्णय करने के लिए विभिन्न प्रामाणिक स्रोत उपलब्ध हैं। पहला स्रोत, अख़बार की एक विस्तृत रिपोर्ट है। बहुत सम्भावना है कि इसे मिख़ाइल पाव्लोविच ने लिखा है। यह रिपोर्ट 25 जुलाई को कांग्रेस में राष्ट्रीय और औपनिवेशिक आयोग में हुई बहस एवं विचार-विमर्श से सम्बन्धित है।[2] दूसरा स्रोत, एम० एन० रॉय का 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल जनरल' में प्रकाशित लेख है जो 20 जुलाई, 1920 को प्रेस में दिया गया।[3] तीसरा स्रोत, एम० एन० रॉय द्वारा लिखा गया 'भारत की क्रांतिकारी पार्टी का घोषणापत्र'[4] और चौथा स्रोत, बर्लिन में प्रकाशित 'भारतीय कम्युनिस्ट घोषणापत्र'[5] है। इस पर एम० एन० रॉय, अवनि मुखर्जी और शान्ति देवी (इवेलिन रॉय) के हस्ताक्षर हैं। यह उक्त सभी के मास्को जाने से पहले लिखा गया; इनके अतिरिक्त कुछ अन्य दस्तावेज़ भी हैं। यह स्वाभाविक है कि दोनों घोषणापत्र तथा लेख रॉय के द्वारा दूसरी कांग्रेस में प्रस्तुत किए गए, जो उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं। रॉय की 'पूरक थीसिस' को कांग्रेस के दूसरे प्रस्ताव के रूप में ग्रहण किया गया, जिसका बड़ा महत्त्व है। कई वर्ष बाद लिखे गए रॉय के संस्मरण भी इस संदर्भ में रोचक हैं।

1. देखिए : वी०आई० लेनिन, 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों के आयोग को प्रतिवेदन', संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 241-42 और 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर प्राथमिक दस्तावेज', प्रतिवेदन 31, पृ० 148-150
2. दूसरी कांग्रेस के पूरबी आयोग की विचारणा पर रिपोर्ट, हस्ताक्षरित 'एम० पाव्लोवा' (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन नं० 1, 27 जुलाई, 1920, पृ० 1-2) साथ में मिख़ाइल पाव्लोविच का अख़बार में प्रकाशित लेख, जिसकी वर्ण्य-वस्तु 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस की औपनिवेशिक एवं राष्ट्रीय नीति' से सम्बन्धित है। (जीज़न नेशनल्स्तेइ, 10 अगस्त, 1920, पृ० 2)
3. देखिए : एम० एन० रॉय, 'भारत में क्रांतिकारी आंदोलन', कम्युनिस्ट इंटर० नेशनल, नं० 12, 1920, पृ० 2169-2172
4. जीज़न नेशनलस्तेइ, 25 जुलाई, 1920, पृ० 2
5. देखिए : भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज़ पृ०1, पृ० 151-155

एम० एन० रॉय ने लेनिन के इस तर्क को स्वीकार नहीं किया कि कम्युनिस्टों को राष्ट्रीय बुर्जुआजी के नेतृत्व में चलने वाले मुक्ति संघर्ष का समर्थन करना चाहिए। एम० एन० रॉय ने लिखा कि "मैं उनके इस विचार से सहमत नहीं हूँ कि राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग ने ऐतिहासिक क्रांतिकारी भूमिका निभायी है इसलिए कम्युनिस्टों द्वारा उनका समर्थन किया जाना चाहिए।"[1] इसके विपरीत रॉय का तर्क था कि भारत एक पूँजीवादी देश है और "साम्राज्यवादी ब्रिटिश शक्ति ने उसकी 80 प्रतिशत जनता को सर्वहारा वर्ग में रूपान्तरित कर दिया है।"[2] 'कॉमिंटर्न' की 'दूसरी कांग्रेस' में 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक आयोग' की एक बैठक में बोलते हुए, एम० एन० रॉय ने इस सूत्र को और अधिक स्वीकार्य बनाने की दृष्टि से परिवर्तित किया। उन्होंने कहा, "अंग्रेजी पूँजीवाद ने जब से भारत में अपनी किलेबन्दी की है तब से कृषि पर निर्भर 80 प्रतिशत जनता ने अपनी भू-सम्पत्ति से हाथ धो लिया है और वह श्रमिकों में बदल चुकी है।" इसी का परिणाम है कि वे खेतिहर सर्वहारा हो गए हैं। उन्होंने देश में 50 लाख सर्वहारा होने का अनुमान लगाया,[3] जो वस्तुतः एक अतिशयोक्ति थी। ताशकंद में 'भारतीय क्रान्तिकारी समिति' का कार्यक्रम तय करते समय भी नवंबर 1920 में रॉय ने पुनः तर्क प्रस्तुत किया कि वस्तुस्थिति यह है कि 90 प्रतिशत भारतीय जनसंख्या मजदूर वर्ग के अंतर्गत आती है।[4]

पूरब के आरम्भिक कम्युनिस्ट, इनमें भी विशेषकर एम० एन० रॉय, शोषण एवं उत्पीड़न से मानवता की मुक्ति की प्रक्रिया में सर्वहारा वर्ग की भूमिका को जानते थे। वे प्रायः 'सर्वहारा' और 'सर्वहारा की तानाशाही' की अवधारणा का उपयोग करते थे। इसके बावजूद, मार्क्सवादी विज्ञान से निर्धारित इनके अर्थ को उनमें से अनेक समझ नहीं पाए। अपने देशों के सर्वहारा वर्ग की अस्तित्व-हीनता या बहुत बड़ी कमजोरी को स्वीकार करते हुए भी उनमें कुछ ऐसे थे, जो क्रांति के समर्थ कारकों का उल्लेख करते थे तथा पश्चिम की अपेक्षा पूरब में कम्युनिज्म का अधिक एवं तीव्र प्रसार देखते थे। अपने इस तर्क की पुष्टि में वे एशिया में कबीलाई एवं साम्प्रदायिक जीवन-पद्धति तथा श्रमिक जनसंख्या की दरिद्रता को दिखाते थे और बौद्ध धर्म तथा इस्लाम से कम्युनिज्म के आदर्शों की समानता दिखलाकर अवास्तविक आनन्द का अनुभव करते थे।

---

1. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 355
2. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, नं० 12, 1920, पृ० 2169
3. देखिए: कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस की बुलेटिन (प्राव्दा सप्लीमेण्ट), नं० 1, 27 जुलाई, 1920, पृ० 1-2 (रूसी भाषा में)
4. सी आर सी एस ए, एस, 5402, आर I, एफ 486, पृ० 3

पूरबी देशों के कुछ कम्युनिस्ट एवं एम० एन० रॉय इस बात को नहीं मानते थे कि एशिया के देशों में सर्वहारा वर्ग या तो बहुत कमजोर है या अस्तित्वहीन है। इसके विपरीत वे इस वर्ग की संख्या को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते थे तथा राजनीतिक रूप से इसकी सक्रियता का बखान करते थे। इसका कारण या तो 'सर्वहारा' की अवधारणा की सामाजिक एवं वर्ग-रचना की उनकी नासमझी थी या वे इन तर्कों से अपने वामपंथ को सघन ठहराने के लिए ऐसा करते थे। उनका तर्क था कि सबसे अधिक दरिद्र, उत्पीड़ित एवं अधिकारच्युत होने के कारण यह सर्वहारा वर्ग है। इन प्रतिमानों के कारण लाखों कारीगरों, दस्तकारों, किसानों को सर्वहारा वर्ग में सम्मिलित कर लिया गया था (दरिद्र श्रमिक—निम्न-पूँजीपति वर्ग की मानसिकता के कारण श्रमिक वर्ग की मार्क्सवादी धारणा से बुनियादी तौर पर भिन्न होता है।) भारत में रॉय द्वारा निर्धारित श्रमिकों के प्रतिशत में देश के तमाम श्रमिक सम्मिलित थे और उन्हें ही वे सर्वहारा वर्ग के रूप में समझते थे। जबकि इस वर्ग के भीतर किसानों का ही प्रचुर बहुमत था। आरसीपी (बी) की केन्द्रीय समिति के तत्त्वावधान में गठित चीनी कम्युनिस्टों के केंद्रीय संगठन ब्यूरो के अध्यक्ष एन० लुन्हे ने कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस को एक विचारणीय दस्तावेज भेजा, जिसमें ऐसे साक्ष्य थे जिनसे यह प्रमाणित किया गया कि चीन में तीन 'सक्रिय क्रांतिकारी ताकतें' हैं—दस्यु, प्रवासी (विदेशों में मौसमी धन्धा करने वाले चीनी श्रमिक) और खेतिहर मजदूर। उसके मत से ये सभी मिलकर चीनी सर्वहारा का निर्माण करते थे।

पूरब में 'अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद' के एक अज्ञात सदस्य ने एशिया में समाजवादी क्रांति के भविष्य के बारे में लिखा: "पूरब का सर्वहारा अधिक उत्पीड़ित एवं अपमानित है, पश्चिम के सर्वहारा की तुलना में इसके बंधन अधिक कठोर हैं, इससे यह प्रतीत होता है कि सर्वहारा की तानाशाही पश्चिम की अपेक्षा पूरब में जल्दी स्थापित होगी।" अतः अनेक 'वामपंथियों' की राय में उत्पीड़ित किसान तथा शहरी गरीब वर्ग सर्वहारा के समान ही था। ये समाजवादी क्रांति के प्रति प्रतिबद्ध थे तथा उसकी सफलता की निश्चित गारंटी इन्हीं वर्गों के शोषित-पीड़ित समूह थे।

तथ्यों के विपरीत, रॉय का विचार था कि भारतीय जनता का संघर्ष राष्ट्रीय स्वरूप वाला नहीं है बल्कि उसका चरित्र "आर्थिक एवं सामाजिक मुक्ति का है तथा वर्ग-प्रभुत्व की समाप्ति के लिए है।"

रॉय के विचार से राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का लक्ष्य 'राजनीतिक स्वाधीनता' पर जोर देना है जिसके साथ "भारत की अधिसंख्य जनता की कोई सहानुभूति

नहीं है।"[1] उनकी यह भी दृढ़ मान्यता थी कि "जनता का ब्रिटिश शासन का अंत करने के विचार से भी सहमति नहीं है क्योंकि उसके लाभ की उसे जानकारी नहीं है।"[2]

जबकि रॉय ने इस बात को अस्वीकार किया कि राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग अपने साम्राज्यवाद-विरोध में बहुत कम क्रांतिकारी है, उन्होंने 'राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार' की न्याय-संगतता का विरोध किया। उन्होंने लिखा : "भारत के लिए 'आत्म-निर्णय' की माँग करना पूँजीपति वर्ग के राष्ट्रवाद की पुनर्स्थापना करना है, जिनके कार्यक्रम का जनता की मुक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[3] रॉय ने राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण तथा आत्म-निर्णय के सिद्धांत को 'छद्मवेशी साम्राज्यवाद के खोखले उपाय' माना और कहा कि इसके अंतर्गत अपने नए स्वामी—राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग—के नियंत्रण में श्रमिक जनता के बंधन और मजबूत हो जायेंगे।

उल्लेखनीय है कि कुछ समय पहले रॉय ने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के सिद्धांत को साम्राज्यवाद विरोधी माना था तथा इसी वजह से वे कम्युनिस्ट आंदोलन में सम्मिलित हुए लेकिन अब उसी रॉय ने इसे पूरी तरह अस्वीकृत कर दिया। 'राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार' के प्रति रॉय के नकारात्मक रवैये का मतलब यह नहीं है कि भारत या किसी अन्य पराधीन पूरबी देश की राष्ट्रीय स्वाधीनता के वे विरोधी थे। उन्होंने भारत में पूँजीपति वर्ग के अन्य लक्ष्यों को उच्च प्राथमिकता देने से भी इनकार नहीं किया परन्तु समाजवादी क्रांति को ही भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के रूप में स्वीकृत किया, जिससे उसकी श्रमिक जनता को सामाजिक मुक्ति मिल सके।

एम० एन० रॉय का विचार था कि भारत में समाजवादी क्रांति की परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। देश की विशिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा करते हुए उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि भारत में सर्वहारा की समाजवादी क्रांति ही कार्य-सूची पर है, जबकि उस समय लेनिन के विचार से पूँजीपति वर्ग की प्रजातान्त्रिक क्रांति ही संभव थी। रॉय ने लिखा : "प्रभुत्वशील वर्गों के नामों का पुंज ब्रिटिश साम्राज्यवाद खत्म होना चाहिए लेकिन ब्रिटिश प्रभुत्व की समाप्ति के साथ अन्य वर्गों के प्रभुत्व का अन्त होना भी जरूरी है।"[4] भारतीय कम्युनिस्टों के लिए तात्कालिक कार्यों का उल्लेख करते हुए रॉय ने संकेत किया

1. डोज्न नेशनलस्तेइ, 25 जुलाई, 1920, पृ० 2
2. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, न० 12, 1920, पृ० 2169
3. डोज्न नेशनलस्तेइ, 25 जुलाई, 1920, पृ० 2
4. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, न० 12, 1920, पृ० 2169

कि : "हमारा कार्यक्रम वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत के अंतर्गत राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण से मुक्ति के लिए भारतीय सर्वहारा एवं भूमिहीन किसान वर्ग को संगठित करना तथा साम्यवाद एवं सर्वहारा की तानाशाही की उद्घोषणा करना है।"[1]

रॉय ने एक पत्र में निष्कर्ष रूप में यह लिखा कि "प्रिय लक्ष्य तक पहुँचने का एकमात्र रास्ता सर्वहारा वर्ग की क्रांति है।"[2] उस समय यही स्थिति ईरानी कम्युनिस्ट नेता सुल्तान जदेह की थी। कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के कुछ समय पहले ही उसने लिखा: "पूरब के सुदृढ़ श्रमिक वर्ग वाले देशों में पर्सिया भी एक है।" इसलिए "पूरबी देशों में लाल ध्वज की सामाजिक क्रांति का स्वागत करने वाला पहला देश पर्सिया ही होगा, शाह के सिंहासन के खण्डहरों पर समाजवाद की वही निर्मित करेगा।"[3] यहाँ सामाजिक क्रांति से इसका तात्पर्य समाजवादी क्रांति से है। तुर्किस्तान में एक अन्य ईरानी कम्युनिस्ट नेता अलीखानोव ने भी इसी तरह के विचार व्यक्त किए। उसने कहा (अप्रैल 1920) : "पर्सिया में ऊँचे स्तर की वर्ग-चेतना वाले सर्वहारा बड़ी संख्या में मौजूद हैं।" और वे "पर्सिया में कम्युनिस्ट क्रांति की अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करने में सक्षम हैं।"[4] कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के ठीक पहले सुल्तान जदेह ने ईरान में सामाजिक क्रांति के लिए तैयार अपनी थीसिस को वी० आई० लेनिन को सौंपा, कांग्रेस में दिए गए उनके भाषण भी इसी थीसिस पर आधारित थे। लेनिन ने सुल्तान जदेह की थीसिस (या रपट) का अध्ययन कर उसी से निष्कर्ष निकालते हुए लेखक के सिद्धांतों को अस्वीकृत कर दिया।

सुल्तान जदेह ने दूसरी कांग्रेस में घोषित किया था "भारत और पर्सिया में सामाजिक क्रांति के लिए अंग्रेजी वाणिज्यिक पूँजी द्वारा निर्मित सर्वहारा एवं अर्ध-सर्वहारा वर्ग का व्यापक एवं ठोस आधार मौजूद है।"[5]

इसके विपरीत, वी० आई० लेनिन ने बताया कि ईरान की जनसंख्या का बड़ा हिस्सा मध्यकालीन शोषण से ग्रस्त किसानों से सम्बन्धित है और इस देश के

---

1. ज़ीज़न नेशनलस्तेइ, 25 जुलाई, 1920, पृ० 2
2. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, न० 12, 1920, पृ० 2171
3. देखिए : *कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, विवरण*, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का प्रकाशन कार्यालय, मास्को, 1920, पृ० 129-131
4. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर I, एफ 502, पृ० 6
5. *कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, 29 जुलाई, 1920, न० 2, पृ० 1 (रूसी भाषा में)*

उद्योग में सर्वहारा वर्ग न होकर 'छोटे-छोटे दस्तकार-कारीगर' हैं।[1]

सुल्तान जदेह का तर्क था कि ईरान एक पूंजीवादी देश है इसलिए वहाँ राष्ट्रीय मुक्ति या पूंजीवादी प्रजातांत्रिक आंदोलन का समर्थन करने का मतलब होगा '"जनता को प्रतिक्रांति की ओर धकेलना।"[2] जबकि लेनिन के विचार मे "औपनिवेशिक पूरब के देशों मे ईरान भी एक कृषि एवं किसान व्यवस्था वाला देश था।" इसलिए पश्चिम के कम्युनिस्टो की तुलना मे यहाँ के कम्युनिस्टो के काम में पर्याप्त भिन्नता होना आवश्यक थी।[3] सुल्तान जदेह को विश्वास था कि ईरान जैसे देशों मे जो कुछ हो रहा है वह समाजवादी क्रांति को लाने वाला है, इसलिए, "पूंजीवादी प्रजातांत्रिक प्रवृत्तियों को संतुलित करने या रोकने के लिए कम्युनिस्ट आंदोलन को निर्मित करना एव समर्थन देना" जरूरी था।[4]

इसके विपरीत, पूरब के देशों की तत्कालीन परिस्थितियो मे कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण को लेनिन बहुत दुष्कर कार्य मानते थे। लेनिन ने इस कठिन समस्या का 'ठोस उत्तर खोजने' के लिए आह्वान किया कि जहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने का लक्ष्य उच्च प्राथमिकता पर है वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी की व्यवस्था कैसे की जा सकती है?"[5]

ईरान के सुल्तान जदेह की तरह तुर्की के प्रारम्भिक कम्युनिस्टों के नेता मुस्तफा सुभी ने भी तुर्की के बारे में ऐसे ही विचार प्रकट किए। जुलाई 1918 के आरम्भ में तुर्की के समाजवादियों के मास्को सम्मेलन मे बोलते हुए उन्होंने तुर्की में तमाम उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीय करने तथा पूंजीपति वर्ग के अत्याचारों से मुक्ति का आह्वान किया।[6] एक कम्युनिस्ट अखबार 'येनी-दुन्या' मे जुलाई 1920 में प्रकाशित एक लेख मे उन्होने घोषणा की : "अनातोलिया और तुर्की मे कोई भी सत्ता—गणतंत्र कही जाने वाली भी नही—अपने पाँव नही जमा सकेगी।

---

1. देखिए : वी० आई० लेनिन, "पूरब में सामाजिक क्रांति के भविष्य से सम्बद्ध ए० सुल्तान जदेह की रपट पर टिप्पणी", संकलित रचनाएँ, प्रति 42, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1969, पृ० 202
2. देखिए : कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, विवरण…, पृ० 131
3. देखिए : वी० आई० लेनिन, 'ए० सुल्तान जदेह की रपट पर टिप्पणी' संकलित रचनाएँ, प्रति 42, पृ० 202
4. देखिए : कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, पृ० 120
5. देखिए : वी० आई० लेनिन, 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक सवालो के आयोग की रपट,' संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 241-242, तथा 'ए० सुल्तान जदेह की रपट पर टिप्पणी,' प्रति 42, पृ० 202
6. सी पी ए, आई एम एल, एस 17, आर 4, एफ 109, पृ० 13

राजनीतिक कार्यकर्ताओं में वामपंथी क्रांतिकारी विचारों का व्यापक प्रचलन देखकर वी० आई० लेनिन ने कांग्रेस में उन पर विचार करने का पूरा अवसर प्रदान किया।

जैसाकि एम० एन० रॉय ने बाद मे कहा, कि लेनिन ने उन्हे राष्ट्रीय एव औपनिवेशिक सवालो पर रूपरेखा तैयार करने के लिए आमन्त्रित किया। लेनिन ने रॉय से अपने 'आरम्भिक दस्तावेज' (ड्राफ्ट) का विकल्प प्रस्तुत करने के लिए कहा था तथापि रॉय ने लेनिन के दस्तावेज के लिए 'पूरक थीसिस' पर जोर दिया।[1] रॉय ने अपनी बातों को व्यवस्थित किया तथा उन्हें 'राष्ट्रीय एव औपनिवेशिक सवालो पर पूरक थीसिस' नाम दिया, जबकि अपनी सारवस्तु मे वे विकल्प ही थे।[2]

'कांग्रेस आयोग' की एक बैठक में लेनिन के 'आरम्भिक ड्राफ्ट' और रॉय की 'पूरक थीसिस' पर उत्तेजक बहस हुई। 'रॉय ने अपनी थीसिस के मौलिक स्वरूप के पक्ष मे अपने विचार प्रकट किए। लेनिन ने अपने विरोधियों के 'वामपक्ष' की आलोचना की तथा आयोग ने उसका वहीं पर समर्थन किया। जिसका परिणाम यह निकला कि रॉय के दस्तावेज से मुख्य-मुख्य वामपक्षीय विचार-बिंदुओ को हटाना पड़ा। इस दस्तावेज मे राष्ट्रीय मुक्ति आदोलनो के महत्त्व को साफ-साफ नकारा गया था और कहा गया था कि कम्युनिस्टों को उन आदोलनो के समर्थन की जरूरत नहीं है। इसमें पूरब के सर्वहारा और किसान वर्ग के वर्ग-संघर्ष और पश्चिम मे सर्वहारा क्रांति की विजय के संदर्भ में बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया था। उपनिवेशों मे समाजवादी क्रांति के पक्ष मे तर्क करने का मतलब था अपरिपक्व परिस्थितियों में पूँजीवाद की समाप्ति। इस दस्तावेज मे यह भी प्रमाणित करने का प्रयास किया गया था कि पूरब के क्रातिकारी सघर्ष मे पूंजीवादी-प्रजातांत्रिक आंदोलन की आवश्यकता नहीं है।

लेनिन और 'कांग्रेस आयोग' ने रॉय की थीसिस मे वांछनीय सुधार और संशोधन किये। उदाहरणार्थ—उपनिवेशो मे साम्राज्यवादी प्रभुत्व की समाप्ति के बिना यूरोप के देशों मे सर्वहारा क्राति की असंभवता के विचार से अलग 'चौथी थीसिस' में पूर्णतः भिन्न विचार प्रस्तुत किया गया था। इसमे कहा गया कि विश्व क्रांति की अंतिम सफलता के लिए 'दो ताकतों का समन्वय जरूरी है'—महानगरों की प्रधानता वाले देशों मे सर्वहारा क्राति तथा उपनिवेशों मे साम्राज्यवाद विरोधी

---

1. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 380
2. देखिए : ए०बी० रजनीकोव, 'राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर लेनिन के विचार' कम्युनिस्ट, न० 7, 1967, पृ० 91-102 (रूसी भाषा मे)

आंदोलन।[1] इसलिए क्रांतिकारी सर्वहारा तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का साम्राज्यवाद-विरोधी मंच निर्मित करने का विचार रखा गया।

'पूरक थीसिस' के मूल रूप में इस बात को दृढ़ता के साथ व्यक्त किया गया था कि पूरबी देश समाजवादी क्रांति के लिए तैयार हैं। वे राष्ट्रीय पूंजीवाद के खात्मे के साथ विदेशी प्रभुत्व को उखाड़ फेंकने में सक्षम हैं। दसवीं थीसिस को लेनिन ने बिल्कुल छोड़ दिया था, जिसमें उपनिवेशों में चल रहे पूंजीवादी प्रजातांत्रिक आंदोलनों को कम्युनिस्टों द्वारा समर्थन नहीं देने की सलाह दी गई थी। इस थीसिस में कहा गया था कि "इस प्रकार के समर्थन से राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन मिलेगा तथा जनगण की वर्ग-चेतना दब जायेगी।" एक, दूसरा रास्ता सुझाया गया कि—"सर्वहारा की कम्युनिस्ट पार्टी के माध्यम से जनगण के क्रांतिकारी कार्यों का प्रोत्साहन एवं समर्थन किया जाय", जो कि "वास्तविक क्रांतिकारी ताकतों को, न केवल विदेशी साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए प्रेरित करेगा बल्कि देशी पूंजीवाद को भी परास्त कर देगा।"[2] कहने का मतलब यह है कि रॉय के दुस्साहसिक एवं संकीर्ण विचारों में; जिसमें समाजवादी क्रांति को तुरंत लागू करने का विचार प्रमुख था, ग़ैर-पूंजीवादी विकास की संभावना के बारे में नहीं सोचा गया था, क्योंकि इससे राष्ट्रीय स्वाधीनता के अलावा कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि इस समस्या पर पूरब के आरंभिक कम्युनिस्टों और सोवियत राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के बीच कई बार बहस हो चुकी थी। इसलिए 1918 में के० एम० त्रोयानोव्स्की ने 'पूरब की मुक्ति लीग' का कार्यक्रम बनाते समय इन देशों में पूंजीवादी विकास के तरीक़ों एवं साधनों को रोकने के लिए एक रूपरेखा तैयार की थी, जिससे इन्हें उपनिवेशवाद से छुटकारा मिल सके।[3] पाक दिन शुन ने जून 1920 में अपने एक लेख "क्रांतिकारी पूरब तथा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के समक्ष तात्कालिक कार्यभार" में आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में ग़ैर-पूंजीवादी विकास की समस्या के बारे में लिखा था और इसका समाधान कोरिया के संदर्भ में प्रस्तुत किया था, जैसाकि मार्क्स ने भी इस संबंध में विचार किया था।[4] बहरहाल

---

1. एम० एन० रॉय 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक सवालों पर रॉय की पूरक थीसिस', ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर-1, एफ, 486, पृ० 4 8
2. ए० वी० रजनीकोव, 'राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के बारे में लेनिन के विचार', पृ० 93, (रूसी भाषा में)
3. देखें : के० त्रोयानोव्स्की, पूरब और क्रांति, मास्को, 1918, पृ० 67-68 (रूसी भाषा में)
4. देखें : कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, न० 12, 1920, पृ० 2158-2160, 2162 (रूसी भाषा में)

ग्रोयानोव्स्की तथा पाक दिन शुन दोनों इस बात पर सहमति रखते थे कि पूरबी देशों में ग़ैर-पूँजीवादी विकास के रास्ते से समाजवादी क्रांति तक पहुँचा जा सकता है। इसमें विजयी पश्चिमी सर्वहारा पूरब के मजदूर और किसान का सहयोग करेगा।[1]

दूसरी कांग्रेस के राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक आयोग में ग़ैर-पूँजीवादी विकास के रास्ते की समस्या पर प्रश्न उठाने एवं साफ-साफ विचार व्यक्त करने वालों में लेनिन अकेले थे। उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के वास्तविक भविष्य को रेखांकित करते हुए पूरबी देशों की तत्कालीन परिस्थितियों में समाजवादी क्रांति को असम्भव बताया।

रॉय की थीसिस के सुधरे हुए रूप में दो बार (सातवीं और नवीं थीसिस) इस बात का उल्लेख था कि "पहली बार उपनिवेशों में कम्युनिस्ट क्रांति नहीं होने जा रही है।" इस धारणा पर व्यवहार के रूप में सातवीं थीसिस में कहा था कि "पूँजीवादी राष्ट्रवादी क्रांतिकारी तत्त्वों का सहकार लाभदायक है।" इससे विदेशी पूँजीवाद को उखाड़ा जा सकेगा।

'पूरक थीसिस' के अंतिम पाठ (सातवीं थीसिस) में लेनिन के इस विचार की उद्घोषणा की गई थी कि पूरबी देशों के कम्युनिस्टों के समक्ष प्राथमिक और अपरिहार्य कार्य "मजदूरों और किसानों को संगठित करना, और क्रांति तथा सोवियत गणतंत्रों की स्थापना के लिए उनका नेतृत्व करना है।"[2] इसका मतलब यह है कि सर्वहारा की तानाशाही वाले गणतंत्र के स्थान पर इन देशों में जनगण के जनतांत्रिक राज्य की स्थापना को क्रियान्वित करने का विचार रखा गया था। इसमें विकसित देशों के विजयी सर्वहारा के नेतृत्व में जनता को पूँजीवाद से बचाकर समाजवादी रास्ते ले जाया जा सकता था।

दस्तावेज़ में स्पष्ट है कि "इस प्रकार पिछड़े देशों के जनगण साम्यवाद तक पहुँच सकते हैं। वे पूँजीवादी विकास के रास्ते से नहीं वरन् विकसित पूँजीवादी देशों के वर्ग-चेतन सर्वहारा के नेतृत्व में समाजवादी रास्ते पर चल सकते हैं।"[3]

'पूरक थीसिस' में किये गये परिवर्तन विचारणीय हैं। रॉय ने अपने संस्मरणों में सत्य को तोड़ते-मरोड़ते हुए लिखा कि लेनिन ने उनके ड्राफ़्ट (थीसिस) को कुछ मौखिक परिवर्तनों के साथ स्वीकार कर लिया था तथा उस समय की कांग्रेस ने

1. एम० ए० पेरसित्स, 'रूस में पूरब के अंतर्राष्ट्रीयतावादी और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के कुछ प्रश्न', कामिंटर्न और पूरब, पृ० 131-133
2. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर I, एफ 489, पृ० 4-8
3. वही

इसका अनुमोदन कर दिया था।[1] जबकि वास्तविकता से हम परिचित हो चुके हैं कि लेनिन और आयोग ने उनके वामपंथी विचारों को खुले तौर पर अस्वीकृत कर दिया था। तब लेनिन ने कांग्रेस से कहा था कि वे सामान्य निर्देशों के अन्तर्गत दोनों प्रस्तावों को व्यवहार में लाया जाए और इस प्रकार "हम बड़े-बड़े विचार्य विषयों पर पूर्ण सहमत हैं।"[2]

पूरबी आयोग ने 25 जुलाई को लंबी बहस के बाद लेनिन के 'आरंभिक ड्राफ्ट' को अनुल्लेखनीय परिवर्तनों तथा रॉय की 'पूरक थीसिस' को कुछ सैद्धांतिक सुधारों के साथ स्वीकृत कर लिया। 28 जुलाई को दूसरी कांग्रेस के समग्र अधिवेशन में आयोग की संस्तुतियों के अनुसार यह तय किया गया कि राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर उक्त दो कथित प्रस्तावों को बहस के लिए स्वीकार कर लिया जाए।

कुछ का विश्वास था कि मूल प्रस्ताव एवं 'पूरक थीसिस' के बीच में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। नीदरलैंड की कम्युनिस्ट पार्टी के डेविड विजंकूप ने इस संदर्भ में कहा कि "बहस की प्रक्रिया में दोनों थीसिस एक-दूसरे के अनुकूल बन गयी थीं।" दूसरी कांग्रेस के पूरबी आयोग के सचिव मेरिंग ने भी खुले तौर पर कहा कि "कॉमरेड रॉय और कॉमरेड लेनिन की थीसिसों में कोई अंतर नहीं है। वे अपनी सारवस्तु में समान हैं।"[3]

लेकिन, इससे कुछ सवाल पैदा होते हैं। यदि दोनों दस्तावेज सारवस्तु में एक जैसे थे, तो दोनों को अलग-अलग क्यों विचारणीय समझा गया? क्या एक ही प्रर्याप्त नहीं था! या 'आरंभिक ड्राफ्ट' एवं 'पूरक थीसिस' को एक प्रस्ताव में बाँध-कर प्रस्तुत करना सम्भव नहीं था?

संभवतः, इस बारे में यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि लेनिन द्वारा लिखित कांग्रेस का पहला प्रस्ताव और 'पूरक थीसिस' की राजनैतिक रूपरेखा में भिन्नता थी। लेकिन लेनिन के 26 जुलाई के ऊपर उल्लिखित वक्तव्य 'बड़े विचार्य विषयों पर और 'पूर्ण सहमति' से उक्त अनुमान का खंडन होता प्रतीत होता है। लेकिन आयोग द्वारा 'बड़े विचार्य विषयों' पर सहमति का मतलब यह नहीं था कि लेनिन के सारे मतभेद समाप्त हो गये थे। यह भी कल्पना की जा सकती है कि इस संबंध में लेनिन की मान्यता यही थी कि दोनों के विचारों में इस

---

1. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 381
2. वी० आई० लेनिन, 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक सवालों पर आयोग की रपट, 26 जुलाई', संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 240
3. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, कार्यवाही···कम्युनिस्ट इंटर-नेशनल का प्रकाशन कार्यालय, मास्को, 1920, पृ० 145

प्रकार का अंतर है कि इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि उन्होंने साफ-साफ कहा कि 'पूरक थीसिस' का मुख्य आधार ब्रिटेन द्वारा उत्पीड़ित भारत की स्थिति है या एशिया के दूसरे बड़े देशों की परिस्थितियाँ हैं।"[1]

मेरिंग के वक्तव्य का दूसरा भाग भी इस सन्दर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसमें यह तर्क दिया गया था कि दोनों दस्तावेजों में कोई अंतर नहीं है। मेरिंग ने कहा था कि "पिछड़े देशों और उपनिवेशों में क्रांतिकारी राष्ट्रवादी एवं समाजवादी आंदोलनों के मध्य रिश्ते के वास्तविक फार्मूला का पता लगाना मुश्किल है। व्यवहार में यह कठिनाई नहीं है। व्यवहार में हम क्रांतिकारी राष्ट्रवादी तत्वों के साथ काम करना जरूरी मानते हैं।"[2]

इसलिए, सवाल पैदा होता है कि पूरब में कम्युनिस्टों द्वारा बड़े विषयों पर क्रांतिकारी कार्य करने से संबंधित कठिनाई या अस्पष्टता कहाँ थी? लेनिन के प्रस्ताव में किसी प्रकार की कठिनाई या अस्पष्टता नहीं है। इसमें राष्ट्रीय क्रांतिकारी ताकतों के साथ कम्युनिस्टों के सहयोग की परिस्थितियों को चार रूपों में वर्णित किया गया था कि "तमाम कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा उपनिवेशों और असमान स्तर वाले राष्ट्रों में चल रहे क्रांतिकारी आंदोलनों को सीधी सहायता दी जाए", दूसरे रूप में "क्रांतिकारी मुक्ति आंदोलनों को सारी कम्युनिस्ट पार्टियाँ अपना सक्रिय समर्थन दें।" तीसरे रूप में "कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का यह कर्तव्य है कि वह क्रांतिकारी आंदोलनों को समर्थन दें।" चौथे रूप में "कामिंटर्न उपनिवेशों और पिछड़े देशों के पूँजीवादी प्रजातन्त्र के साथ अस्थायी संबंध तथा संघों की स्थापना करे।"[3] शायद, 'पूरक थीसिस' में अब भी स्पष्टता की कमी है?

इस दस्तावेज की सावधानीपूर्वक की गयी परीक्षा करने से पता चलेगा कि यह परिकल्पना निराधार नहीं है। यद्यपि इस 'पूरक थीसिस' के वामपंथी क्रांतिकारी और स्वेच्छाचारी विचारों को हटा दिया गया था तथापि उसमें अब भी ऐसे विचार-बिंदु थे जो रॉय के 'वामपंथी' विचारों को व्यक्त करते थे। हालाँकि उनमें मूल पाठ जैसी स्पष्टता तथा निश्चितता नहीं रह गयी थी। इस परिस्थिति के कारण रॉय ने 26 जुलाई को कांग्रेस में यह घोषणा की थी कि उन्होंने अपनी थीसिस में आयोग के 'कुछ सुधार' स्वीकार किये थे।

दरअसल, रॉय की 'थीसिस' की इस विलक्षणता की ओर बहुत समय पहले ध्यान आकृष्ट किया गया था। कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में एक डेलीगेट दे० एस० वार्य ने

---

1. वी० आई० लेनिन, 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक सवालों पर आयोग की रपट 26 जुलाई', संकलित रचनाएँ, खंड 31, पृ० 241
2. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, पृ० 145
3. वही, पृ० 574

1964 में 'पूरक थीसिस' को 'आमूल परिवर्तनवादी' मानते हुए कहा था कि इन "वहस और प्रस्ताव का मुख्य लक्ष्य साम्राज्यवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधियों को यह बात समझाना था कि उन्हें उपनिवेशों में साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलनों का समर्थन करना चाहिए।"[1] यद्यपि उनका नेतृत्व राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग कर रहा है।[2] भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय परिषद के केंद्रीय सचिवालय के एक सदस्य एम० जी० सरदेसाई ने 1967 में 'पूरक थीसिस' के स्वेच्छाचारी एवं अवैज्ञानिक स्वरूप की ओर संकेत किया था। इन्होंने लिखा था कि लेनिन ने "उपनिवेशों के मुक्ति आंदोलनों की वास्तविकता को अद्भुत एवं बहुत सही रूप में उद्घाटित किया जब कि रॉय की समस्त विद्वता के बावजूद वे कल्पनालोक में विचरण करते रहे, जो उनके अपने दिमाग की उपज थी।"[3]

जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि रॉय ने अपनी सिद्धांत-रचना से पूर्व यह कल्पित कर लिया था कि भारत, चीन, इण्डोनेशिया और मिस्र (भी) पिछड़े हुए होने के बावजूद पूँजीवादी देश हैं। उन्होंने कांग्रेस से पूर्व लिखे लेखों में इस बात को न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया था तथा 26 जुलाई को कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन में इसे दुहराना जरूरी समझा था, जबकि लेनिन एवं आयोग द्वारा उसे संशोधित रूप दिया जा चुका था। रॉय ने कहा था कि युद्ध के दौरान और ठीक बाद में "भारत में बड़े परिवर्तन हुए हैं, पहले तो अंग्रेजी पूँजीवाद ने भारतीय उद्योग के विकास को अवरुद्ध किया था लेकिन बाद में उसने अपनी नीति में परिवर्तन कर लिया। ब्रिटिश भारत में उद्योग का जितना विकास हुआ, उतने विकास की यूरोप में भी कल्पना नहीं की जा सकती थी। इसी का परिणाम है कि ब्रिटिश भारत में औद्योगिक सर्वहारा में 15 प्रतिशत वृद्धि हुई तथा ब्रिटिश भारतीय उद्योग में पूँजी विनियोग 200 प्रतिशत तक जा पहुँचा। इससे ब्रिटिश भारत में

---

1. ये० एस० वार्ग, पूँजीवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था की समस्याओं पर *निबंध*, पोलीत्विदत, मास्को, 1964, पृ० 91 (रूसी भाषा में)
2. उदाहरणार्थ, इटली के एक डेलीगेट सेराती की मान्यता थी कि *राष्ट्रीय आंदोलनों में पूँजीपति वर्ग की हिस्सेदारी के कारण उनका चरित्र क्रांतिकारी नहीं रह जाता। अतः उसके समर्थन से 'सर्वहारा की वर्ग-चेतना पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा, उसका हौसला पस्त होगा।'*
देखें : कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, कार्यवाही, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का प्रकाशन कार्यालय, मास्को, 1920, पृ० 154
3. एस० जी० सरदेसाई, रूस में क्रांति और भारत, मास्को, 1967, पृ० 81 (रूसी संस्करण)

पूँजीवादी व्यवस्था के विकास का पता चलता है। मिस्र, डच इण्डीज और चीन के संबंध में भी यही बात लागू होती है।"[1]

दरअसल, भारत में पूँजीवादी व्यवस्था के प्रबलता-संबंधी रॉय के विचार से वास्तविकता का पता नहीं चलता, उससे यही मालूम होता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने युद्धोत्तर वर्षों में भारत के औद्योगिक विकास में अपना योगदान किया। इस तर्क से रॉय के उपनिवेशों की समाप्ति के सिद्धांत का भी खंडन हो जाता है, जैसाकि इसे बाद में जाना गया। इसके विपरीत, भारत की वास्तविक स्थिति दूसरी थी, वह औपनिवेशिक एवं सामंती व्यवस्था वाला एक कृषि-प्रधान देश था, जिसमें देहात की प्रधानता थी। भारत की 80 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या देहातों में रहती थी। भारतीय गाँवों में सामंती व्यवस्था की गहरी जड़ें थीं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने सारे पूँजीवादी तत्त्वों के विकास के बावजूद भारतीय सामंतवाद को हर हालत में प्रश्रय दे रहा था।

जहाँ तक भारत के औद्योगिक विकास का सवाल है; यद्यपि दूसरे औपनिवेशिक देशों की तुलना में इसके विकास का स्तर ऊँचा था, प्रथम विश्वयुद्ध के सालों में यह पूरे उभार पर था तथापि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कारखानों पर आधारित उत्पादन का अनुपात 10 से 15 प्रतिशत तक नीचा था। साधनों की विविधता के कारण अंग्रेजी साम्राज्यवाद भारत के स्वतंत्र औद्योगिक विकास को अवरुद्ध कर रहा था तथा भारी उद्योगों की प्रगति में अड़चन डाल रहा था। औद्योगिक उत्पादन के कुछ बड़े क्षेत्र ब्रिटिश पूँजी के हाथों में थे तथा राष्ट्रीय उद्योग इसी पर पूरी तरह निर्भर था। राष्ट्रीय पूँजीपति आर्थिक दृष्टि से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आश्रित था तथा उसकी राजनीतिक सत्ता भी इसमें बाधक थी, इसलिए उनसे राष्ट्रीय पूँजीपति के तीव्र मतभेद थे। यही वजह है कि देश में राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का नेतृत्व किया।

कांग्रेस-आयोग तथा लेनिन द्वारा किये गए काम का परिणाम यह निकला कि रॉय के दस्तावेज में भारत या उससे मिलते-जुलते देशों में पूँजीवादी व्यवस्था की प्रभुता का संदर्भ सीधे-सीधे नहीं रहा।[2] तथापि, थीसिस का अधिकांश इसी तर्क से

1. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस'''कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का प्रकाशन कार्यालय, मास्को, 1920, पृ० 118
2. पहले इस तरह का संदर्भ था, अन्यथा 1921 में कांग्रेस की अविकल रपट प्रकाशित होने पर 'पूरक थीसिस' के पाठ की व्याख्या करना कठिन होता, जिसकी पहली थीसिस इस प्रकार है : "तीसरी इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस के सामने पूँजीवादी साम्राज्यवाद प्रभुता वाले देशों—जैसे चीन और भारत—में मुक्ति आंदोलनों और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के मध्य संबंध को निश्चित

प्रेरित था, यद्यपि इनमें एक की घोषणा यह थी कि पिछड़े देश (भारत को छोड़कर क्योंकि रॉय भारत को पूँजीवादी देश मानते थे तथा एशिया के अपेक्षा यूरोप के अधिक निकट मानते थे) पूँजीवादी अवस्था को पीछे छोड़कर साम्यवाद की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

सातवीं थीसिस में कहा था कि पूरब के पराधीन देशों में, और तदनुसार भारत में "एक दूसरे से अलग दो तरह के पृथक आंदोलन स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक का संबंध पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राजनैतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लक्ष्य से किये जाने वाले पूँजीपति-वर्ग के प्रजातांत्रिक राष्ट्रवादी आंदोलन से है तो दूसरे का संबंध उपेक्षित एवं ग़रीब किसानों और मजदूरों के सामूहिक आंदोलन से है जो सभी तरह के शोषण से मुक्ति चाहते थे। इनमें पहले ने दूसरे को अपने नियन्त्रण में रखने का प्रयास किया तथा एक निश्चित सीमा तक इसमें सफलता हासिल की।"[1] सरदेसाई ने इस तर्क की आलोचना करते हुए लिखा : "1920 के भारत में क्या इस तरह के दो 'पृथक' आंदोलन थे? वे रॉय के सपनों में हो सकते हैं लेकिन सपना वास्तविकता नहीं है।"[2] जी० अधिकारी ने रॉय की आलोचना करते हुए कहा कि उन्होंने संयुक्त आंदोलन को दो विपरीत दिशाओं में विभाजित किया तथा "राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में आर्थिक संघर्ष करने वाले और स्वतःस्फूर्त विकास की अवस्था को प्राप्त करने वाले मजदूरों-किसानों को असमंजस की स्थिति में रखा।"[3] जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भारत में सभी को साथ लेकर चलने वाला एक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन अपना स्थान बना रहा था, जिसमें कभी-कभी होने वाले मजदूरों-किसानों के संघर्ष भी सम्मिलित थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि न तो मजदूर ही अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे, न किसान। इस संदर्भ में किसानों की स्थिति तो और भी कमजोर थी। इसका सीधा-सा

करने का सवाल बहुत महत्वपूर्ण है।" (देखें : कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस) पूरबी देशों में पूँजीवादी व्यवस्था की प्रभुता का तर्क रॉय के निर्णय को प्रतिबिम्बित करता है। इसमें चीन और भारत का ही उदाहरण है। कामिटर्न की तीसरी कांग्रेस को प्रस्तुत अपनी थीसिस में एक साल बाद ही इसका फिर उल्लेख किया गया है। (देखें : मरोदी कामिन्स्की वगैरह, इंप्रेकर, नं० 3, 1921, पृ० 337-342)

1. ओ आर सी एम ए, एम 5402, आर I, एफ 489, पृ० 4-8
2. एस० जी० सरदेसाई, पूर्व वर्णित, पृ० 52
3. जी० अधिकारी, 'रॉय की उपनिवेशों पर पूरक थीसिस के बारे में लेनिन', मार्क्सवादी अध्ययन, एक निबंध-संग्रह (जनवरी 1970), पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1970, पृ० 3

कारण उन दिनों भारत मे कम्युनिस्ट पार्टी का न होना था, जो उन्हे इस दिशा मे सक्रिय कर सकती थी। उस समय के मजदूर-किसान उस व्यवस्था मे अपनी आर्थिक स्थिति मे सुधार चाहते थे, वे इसी लक्ष्य के लिए सघर्ष कर रहे थे। उनका सघर्ष राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को अपने लिए अनुकूल मानता था जो विदेशी उपनिवेशवादियो या उनके दलालों के विरोध मे था। राष्ट्रीय पूंजीपति के उपक्रमो मे मजदूरो की हड़ताल का स्वर साम्राज्यवाद-विरोधी था। जिन्होंने देशी पूंजीपति को राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन में सक्रिय भूमिका निबाहने के लिए विवश कर दिया।

लेनिन ने रॉय की सातवी थीसिस मे कुछ जरूरी परिवर्तन किये थे। उन्होंने उनकी थीसिस के मूल 'वामपथी' स्वरूप को सशोधित किया। उन्होंने रॉय के इस तर्क को काट दिया था कि पूंजीपति वर्ग के जनतात्रिक राष्ट्रीय आदोलन को आम जनता का समर्थन प्राप्त नही है तथा पूंजीपति वर्ग के राजनैतिक नेताओं पर जनता का विश्वास नही है।[1] 'पूरक थीसिस' की सश्लिष्ट प्रति मे लेनिन ने जिन बिंदुओं को त्याज्य माना था, उनके बारे मे दूसरी काग्रेस के आयोग के सचिव हेनरिक मेरिंग ने अपनी हस्तलिखित टिप्पणियाँ अकित की है, जिनमे भारत मे पूंजीवादी व्यवस्था का अस्तित्व तथा पूर्ण सामाजिक मुक्ति के लिए भारतीय मजदूरो के सघर्ष का उल्लेख है। उन टिप्पणियो मे वामपथी स्थापनाओं को रेखांकित नही किया गया है फिर भी लेनिन की दृष्टि मे त्याज्य समझे जाने वाले 'वामवाद' को ही तीव्र किया गया है।

इस बात मे किसी को विश्वास नहीं होगा कि मेरिंग द्वारा लिखी गई टिप्पणियाँ 'लेनिन के विशेष निर्देश तथा उनकी देखरेख मे लिखी गयी थी।'[2] क्योकि 'पूरक थीसिस' की पूर्ण स्वीकृति 'वी० आई० लेनिन की भागीदारी तथा निर्देश से हुई थी।" यदि लेनिन ने 'पूरक थीसिस' को सम्पादित करते समय कुछ नये शब्द जोड़ने होते तो वह सब काम बिना किसी की सहायता के भी कर सकते थे। यह ज्यादा ठीक लगता है कि लेनिन ने उसमे एक बार पूरा सुधार कर उसे लिखने के लिए आयोग के सचिव को दे दिया होगा। सचिव ने 'पूरक थीसिस' के लेखक को सभव रियायतें दी होंगी तथा उन्ही शब्दों-वाक्यांशों (टिप्पणियो) को स्वीकार कर लिया होगा, जो रॉय द्वारा सुझाई गयी हों। कुछ भी हो, जो शब्द उसमे सम्मिलित किये गये, वे रॉय के विचारो के अनुरूप थे, जिनमे भारतीय

1. देखें : ए० बी० रजनीकोव, 'पूरब में राष्ट्रीय मुक्ति और कम्युनिस्ट आदोलन की समस्याओं के बारे में वी० आई० लेनिन', नरोदी अजी ई अफीकी, न० 6, 1974, पृ० 51-52

2. वही

मजदूरों और किसानों के सामाजिक आंदोलन को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया तथा यह कहा गया था कि तत्कालीन भारतीय समाज पूँजीवादी व्यवस्था से गुजर रहा था।

इन 'वामपंथी' भारतीय कम्युनिस्टों के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति सर्व नकारवादी दृष्टिकोण के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये राष्ट्रवाद की ओर से स्वयं को पूर्णतः निरापद मान रहे थे। जबकि वास्तविकता यह है कि ये भी घूम-घामकर राष्ट्रवाद की सीमाओं से आगे नहीं थे। अतिक्रांतिकारी वेशभूषा में राष्ट्रवाद भी इनके दृष्टिकोण का एक अनिवार्य तत्व था। रोस्तिस्लाव उल्यानोव्स्की ने इस अन्तर्विरोध को पकड़ा है। इन्होंने 1967 में सुस्पष्ट तर्क-पद्धति के साथ संकेत किया कि "ये 'वामपंथी' जो कभी-कभी स्वयं को कम्युनिस्ट कहा करते थे और प्रजातांत्रिक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को नकारते थे, इनके सिद्धांत संकीर्ण राष्ट्रवाद से मेल खाते थे।"[1]

कांग्रेस-आयोग में रॉय ने कहा था कि "यूरोप में क्रांतिकारी आंदोलनों का भाग्य पूरब में क्रांति की प्रगति पर निर्भर करता है। पूरबी देशों में क्रांति की विजय के बिना पश्चिम में कम्युनिस्ट आंदोलन आगे नहीं बढ़ सकते।" अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में उनका तर्क था कि "विश्व-पूँजीवाद अपने मुख्य संसाधन एवं प्राप्तियाँ उपनिवेशों से—मुख्यतया एशिया से—ले रहा है, यही वजह है कि पूरब में क्रांतिकारी आंदोलन को बढ़ावा देना आवश्यक है और विश्व साम्यवाद का भाग्य पूरब में साम्यवाद की विजय पर निर्भर करता है।"[2] उस समय के आरंभिक कम्युनिस्टों का यह दृष्टिकोण न केवल भारत के आरंभिक कम्युनिस्टों का था बल्कि एशिया के अन्य देशों में भी फैला हुआ था।[3]

26 जुलाई की कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन में भाषण देते हुए रॉय ने यह भी प्रमाणित करने का प्रयास किया कि यूरोपीय साम्राज्यवाद के पतन के लिए उपनिवेशों से इसका खात्मा जरूरी है। उन्होंने यह भी कहा कि इसके लिए पूरबी देशों में समाजवादी क्रांति की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। रॉय की दृढ़

---

1. आर॰ ए॰ उल्यानोव्स्की, समाजवाद और उदीयमान राष्ट्र, नौका पब्लिशर्स, मास्को, 1972, पृ॰ 22 (रूसी भाषा में)
2. कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, न॰ 1, पृ॰ 1-2
3. सच यह है कि सुल्तान जदेह की स्थिति भिन्न थी। उसका मानना था : सामाजिक क्रांति पूरब और उदार यूरोप से नहीं आयेगी, लेकिन कामिंटर्न को पूरब की श्रमिक जनता की सहायता के लिए आगे आना चाहिए, जिससे उनके लिए सामाजिक क्रांति की प्रक्रिया सरल बन सके। (देखें : दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, न॰ 2, पृ॰ 1)

मान्यता थी कि "उस स्थिति में आम जनता द्वारा आरंभ की गयी क्रांति को कम्युनिस्ट क्रांति की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि तब क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की मुख्य भूमिका होगी। लेकिन किसी भी स्तर पर यही क्रांतिकारी राष्ट्रवाद यूरोपीय साम्राज्यवाद के पतन में नेतृत्व करने जा रहा है, जोकि यूरोप के सर्वहारा के लिए असाधारण महत्त्व की बात होगी।"[1]

संक्षेप में, राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर बने आयोग की बैठकों में और कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशनों में रॉय ने यही सिद्ध करने का प्रयास किया कि यूरोप का सर्वहारा, जो कई दशकों से समाजवाद के लिए संघर्षरत है, तब तक विजयी नहीं हो सकता जब तक कि पूरब के देश राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त न कर लें। पश्चिम के सर्वहारा का क्रांतिकारी संघर्ष केवल तभी सफल हो सकता है जब उपनिवेशों का पतन हो जाये और उपनिवेशिक व्यवस्था का पूर्णतः उन्मूलन हो जाये। इस प्रकार, पूरब के नियतिवाद से परिसीमित ये एकपक्षीय सिद्धान्त जीवन की वास्तविकताओं से बहुत अलग-थलग थे। वस्तुतः रॉय की अवधारणा में पूरब और पश्चिम की साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों की एकता को घनीभूत करना तथा उन्हें सोवियत रूस की शक्ति बनाना नहीं था बल्कि यथार्थ में इन ताकतों की एकता को भंग कर उन्हें कमज़ोर करते हुए पराजय की ओर धकेलना था।

लेनिन ने रॉय को और कांग्रेस आयोग में दूसरे वामपंथी कम्युनिस्टों को धैर्य पूर्वक एवं अनेक युक्तियों से समझाया कि उनका आधारबिंदु ग़लत है। उन्होंने बताया कि "कॉमरेड रॉय बहुत दूर चले गये हैं", और उनके विचार "आधारहीन हैं।"[2] जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि रॉय के भ्रामक विचार छोड़ दिये गये थे। इनके स्थान पर कहा गया था कि विश्व पूंजीवाद को दो तरह की क्रांतियों से तुरंत खत्म किया जा सकता है—उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों से तथा महानगरीय देशों में सर्वहारा क्रांति से।

तथापि, रॉय के मूल विचारों के प्रस्थान बिंदुओं को रहने दिया गया था यथा, दूसरी थीसिस का अंतिम भाग इस प्रकार है: "यूरोप की पूंजीवादी शक्तियां उपनिवेशों में अपने बड़े बाज़ारों के नियंत्रण तथा शोषण के विस्तृत क्षेत्र के बल पर जीवित हैं इनके अभाव में उन्हें अस्तित्वहीन होते देर नहीं लगेगी।" उन्होंने और आगे कहा कि "यदि इंग्लैंड के पूंजीवादी ढांचे को औपनिवेशिक सत्ता का मज़बूत आधार प्राप्त नहीं होता तो यह बहुत समय पहले अपने भार से ही नष्ट हो जाता।" तीसरी थीसिस की आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं: "उपनिवेशों में

1. कॉमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस, कार्यवाही··· पृ० 118
2. कॉमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, न० 1, पृ० 2

मजदूरों और किसानों के सामाजिक आंदोलन को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया तथा यह कहा गया था कि तत्कालीन भारतीय समाज पूँजीवादी व्यवस्था से गुजर रहा था।

इन 'वामपंथी' भारतीय कम्युनिस्टों के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति सर्व नकारवादी दृष्टिकोण के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये राष्ट्रवाद की ओर से स्वयं को पूर्णतः निरापद मान रहे थे। जबकि वास्तविकता यह है कि ये भी घूम-धामकर राष्ट्रवाद की सीमाओं से आगे नहीं थे। अतिक्रांतिकारी वेशभूषा में राष्ट्रवाद भी इनके दृष्टिकोण का एक अनिवार्य तत्व था। रोस्तिस्लाव उल्यानोव्स्की ने इस अन्तर्विरोध को पकड़ा है। इन्होंने 1967 में सुस्पष्ट तर्क-पद्धति के साथ संकेत किया कि "ये 'वामपंथी' जो कभी-कभी स्वयं को कम्युनिस्ट कहा करते थे और प्रजातान्त्रिक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को नकारते थे, इनके सिद्धांत संकीर्ण राष्ट्रवाद से मेल खाते थे।"[1]

कांग्रेस-आयोग में रॉय ने कहा था कि "यूरोप में क्रांतिकारी आंदोलनों का भाग्य पूरब में क्रांति की प्रगति पर निर्भर करता है। पूरबी देशों में क्रांति की विजय के बिना पश्चिम में कम्युनिस्ट आंदोलन आगे नहीं बढ़ सकते।" अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में उनका तर्क था कि "विश्व-पूँजीवाद अपने मुख्य संसाधन एवं प्राप्तियाँ उपनिवेशों से—मुख्यतया एशिया से—ले रहा है, यही वजह है कि पूरब में क्रांतिकारी आंदोलन को बढ़ावा देना आवश्यक है और विश्व साम्यवाद का भाग्य पूरब में साम्यवाद की विजय पर निर्भर करता है।"[2] उस समय के आरंभिक कम्युनिस्टों का यह दृष्टिकोण न केवल भारत के आरंभिक कम्युनिस्टों का था बल्कि एशिया के अन्य देशों में भी फैला हुआ था।[3]

26 जुलाई को कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन में भाषण देते हुए रॉय ने यह भी प्रमाणित करने का प्रयास किया कि यूरोपीय साम्राज्यवाद के पतन के लिए उपनिवेशों से इसका खात्मा जरूरी है। उन्होंने यह भी कहा कि इसके लिए पूरबी देशों में समाजवादी क्रांति की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। रॉय की इस

---

1. आर० ए० उल्यानोव्स्की, समाजवाद और उदीयमान राष्ट्र, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1972, पृ० 22 (रूसी भाषा में)
2. कामिन्टर्न की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, न० 1, पृ० 1-2
3. सच यह है कि सुल्तान जादे की स्थिति भिन्न थी। उसका मानना था: सामाजिक क्रांति पूरब और उदार यूरोप से नहीं आयेगी, लेकिन कामिन्टर्न को पूरब की श्रमिक जनता की सहायता के लिए आगे आना चाहिए, जिससे उनके लिए सामाजिक क्रांति की प्रक्रिया सरल बन सके। (देखें: दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, न० 2, पृ० 1)

मान्यता थी कि "उस स्थिति में आम जनता द्वारा आरंभ की गयी क्रांति को कम्युनिस्ट क्रांति की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि तब क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की मुख्य भूमिका होगी। लेकिन किसी भी स्तर पर यही क्रांतिकारी राष्ट्रवाद यूरोपीय साम्राज्यवाद के पतन में नेतृत्व करने जा रहा है, जोकि यूरोप के सर्वहारा के लिए असाधारण महत्त्व की बात होगी।"[1]

संक्षेप में, राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर बने आयोग की बैठकों में और कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशनों में रॉय ने यही सिद्ध करने का प्रयास किया कि यूरोप का सर्वहारा, जो कई दशकों से समाजवाद के लिए संघर्षरत है, तब तक विजयी नहीं हो सकता जब तक कि पूरब के देश राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त न कर लें। पश्चिम के सर्वहारा का क्रांतिकारी संघर्ष केवल तभी सफल हो सकता है जब उपनिवेशों का पतन हो जाये और उपनिवेशिक व्यवस्था का पूर्णत: उन्मूलन हो जाये। इस प्रकार, पूरब के नियतिवाद से परिसीमित ये एकपक्षीय सिद्धांत जीवन की वास्तविकताओं से बहुत अलग-थलग थे। वास्तुत: रॉय की अवधारणा में पूरब और पश्चिम की साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों की एकता को घनीभूत करना तथा उन्हें सोवियत रूस की शक्ति बनाना नहीं था बल्कि यथार्थ में इन ताकतों की एकता को भंग कर उन्हें कमज़ोर करते हुए पराजय की ओर धकेलना था।

लेनिन ने रॉय को और कांग्रेस आयोग में दूसरे वामपंथी कम्युनिस्टों को धैर्य पूर्वक एवं अनेक युक्तियों से समझाया कि उनका आधारबिंदु गलत है। उन्होंने बताया कि "कॉमरेड रॉय बहुत दूर चले गये हैं", और उनके विचार "आधारहीन हैं।"[2] जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि रॉय के भ्रामक विचार छोड़ दिये गये थे। इनके स्थान पर कहा गया था कि विश्व पूँजीवाद को दो तरह की क्रांतियों से तुरंत खत्म किया जा सकता है—उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों से तथा महानगरीय देशों में सर्वहारा क्रांति से।

तथापि, रॉय के मूल विचारों के प्रस्थान बिंदुओं को रहने दिया गया था, यथा, दूसरी थीसिस का अंतिम भाग इस प्रकार है: "यूरोप की पूँजीवादी शक्तियाँ उपनिवेशों में अपने बड़े बाजारों के नियंत्रण तथा शोषण के विस्तृत क्षेत्र के बल पर जीवित है इनके अभाव में उन्हें अस्तित्वहीन होते देर नहीं लगेगी।" उन्होंने और आगे कहा कि "यदि इंग्लैंड के पूँजीवादी ढाँचे को औपनिवेशिक सत्ता का मजबूत आधार प्राप्त नहीं होता तो यह बहुत समय पहले अपने भार से ही नष्ट हो जाता।" तीसरी थीसिस की आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं: "उपनिवेशों

1. कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस, कार्यवाही··· पृ॰ 118
2. कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, न॰ 1, पृ॰ 2

भूमि-जागीर ही आधुनिक पूँजीवाद का मुख्य आधार है।"[1]

इस प्रकार, दूसरी थीसिस के आरंभ में रॉय की स्थापना थी कि 'यूरोप के पूँजीवाद की शक्ति का सबसे बड़ा और मुख्य स्रोत' उपनिवेश थे। इस मुद्दे को इसी थीसिस के अन्त में तथा तीसरी थीसिस के आरंभ में और अधिक स्पष्ट करते हुए रॉय ने कहा था कि *उपनिवेश तथा पराधीन देश यूरोपीय पूँजीवाद की शक्ति एवं सत्ता के मुख्य स्रोत थे। इस आधार को जैसे ही हटा दिया जायेगा वैसे ही साम्राज्यवाद अपने भार से दबकर नष्ट हो जायेगा।*

रॉय की 'पूरक थीसिस' का मौलिक विचार बहुत स्पष्ट था कि पूरबी देशों में पूँजीवादी-प्रजातांत्रिक आंदोलनों का समर्थन कम्युनिस्टों को नहीं करना चाहिए, लेकिन इसके पीछे उनकी कोई सुनिश्चित तर्क-पद्धति नहीं थी। नौवीं थीसिस से पता चलता है : "उपनिवेशों में पहले स्तर पर कम्युनिस्ट क्रांति नहीं होने जा रही है। लेकिन, यदि आरंभ से उसका नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथों में रहेगा तो जनता गुमराह होने से बची रहेगी, लेकिन यह सब तभी होगा जब कि वह क्रांतिकारी अनुभव को अपनी सफलता के विभिन्न चरणों से विकसित करते रहेंगे।"[2] इस तर्क से क्या मतलब निकलता है? क्योंकि वास्तविकता यह है कि जहाँ तक भारत का संबंध है वहाँ के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का नेतृत्व वर्षों से राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के हाथ में था। जहाँ तक कम्युनिस्टों का सवाल है, अधिकांश पूरबी देशों में कम्युनिस्ट थे ही नहीं, यदि थे तो भारत की तरह बहुत कम। इसलिए प्रश्न यही होता है कि पूरब के आरंभिक कम्युनिस्ट नेतृत्वकारी भूमिका को कैसे निबाहते?

अपनी इस स्थापना की अनुपालना में, वे राष्ट्रीय क्रांतिकारी ताकतों का समर्थन न करके, उन्हें बाहर कर क्रांतिकारी संघर्ष का नेतृत्व अपने हाथ में लेने की इच्छा रखते थे। कहने का मतलब है कि साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों में एकता करने के बजाय उन्होंने आपस में लड़ना-झगड़ना आरंभ कर दिया था। उन परिस्थितियों में कम्युनिस्टों का संघर्ष करना किसी भी तरह उनके अनुकूल नहीं था। वस्तुतः, रॉय के कांग्रेस से पूर्व लिखे लेखों में उनके यही विचार थे कि एक बार कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण होने के बाद वह "पूँजीपति वर्ग की राष्ट्रवादी नीतियों के विरोध में लड़ना आरंभ कर देगी तथा जनता की सामाजिक एवं आर्थिक मुक्ति के लिए उनका नेतृत्व करेगी।"[3]

नौवीं थीसिस की सारवस्तु की समीक्षा करते हुए एस० जी० सरदेसाई ने

---

1. एम० एन० रॉय: 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर पूरक थीसिस' (ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर I, एफ 489, पृ० 4-8)
2. कॉमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस, पृ० 499।
3. [illegible]

आदेश में कहा था : "पृथ्वी पर यह कैसे संभव हो सकता था कि एक पराधीन देश का स्वतन्त्रता का आंदोलन आरंभ से ही कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चले ? जिस काम के लिए अपरिमित श्रम एवं धैर्य तथा सही नीति एवं व्यूहरचना की आवश्यकता होती है, इतने बड़े लक्ष्य को रॉय केवल भृकुटि-विलास से प्राप्त करना चाहते थे।"[1]

राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग से सहकार सबंधी छठी थीसिस की स्थापनाओं से भी कुछ संदेह पैदा होते हैं। इसमें कहा गया था कि "पूरबी देशों में विदेशी प्रभुत्व के कारण सामाजिक ताकतों के मुक्त विकास में बाधा पड़ी है जिसके फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग का क्रांतिकारी विकास पिछड़ा है। अतः उपनिवेशों में विदेशी शासन की समाप्ति में हमारे सहयोग का मतलब राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की राष्ट्रवादी महत्वाकांक्षाओं का अनुमोदन करना नहीं है अपितु बंधन युक्त सर्वहारा वर्ग के रास्ते को केवल खोलना भर है।"[2] 'पूरक थीसिस' के मूल पाठ में केवल शब्द नहीं था। लेनिन और मेरिंग द्वारा सुधार कर देने के पश्चात् प्रस्ताव के अंतिम पाठ में इसे शामिल किया गया।[3] दरअसल, इस शब्द के समावेश के बाद भी लेनिन द्वारा लिखित कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव के अर्थ के निकट 'पूरक थीसिस' का उक्त विचार नहीं पहुँच सका। जब कि मुख्य प्रस्ताव वाली ग्यारहवीं थीसिस के अनुच्छेद 'ई' में इस कथन को दो बार रेखांकित किया गया था कि "उपनिवेशों और पिछड़े हुए देशों में चल रहे क्रांतिकारी (लेनिन ने इस स्थान पर 'पूँजीवादी-प्रजातांत्रिक' शब्द का प्रयोग किया) आंदोलनों को समर्थन देना कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का कर्तव्य है।"[4] 'पूरक थीसिस' में इससे भिन्न विचार रखा गया था—"उपनिवेशों में विदेशी शासन की समाप्ति के लिए राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के आंदोलन की सहायता करने का मतलब राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की राष्ट्रवादी आकांक्षाओं का अनुमोदन करना नहीं है'…" लेकिन राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की राष्ट्रवादी आकांक्षाओं का सबंध देश को राजनैतिक स्वाधीनता दिलाने से था इसलिए यह भी स्वाभाविक था कि वे देश में अपनी राजनैतिक सत्ता चाहते थे। अब प्रश्न होता है कि राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के राष्ट्रीय संघर्ष की सहायता तथा इसके साथ अस्थायी सबंधों की स्थापना के बिना उपनिवेशों में कोई कैसे साम्राज्यवादी शासन का अन्त कर सकता

1. एस०जी० सरदेसाई, पूर्ववर्णित, पृ० 53
2. कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस, पृ० 498
3. देखें : ए० बी० रजनीकोव 'पूरब में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की समस्या पर वी० आई० लेनिन के विचार', नरोदी अजी ई अफ्रीकी, न० 6 197[illegible] पृ० 51-52
4. कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस, पृ० 494

था ? (जबकि कम्युनिस्ट पार्टी न हो और सर्वहारा वर्ग बहुत कमजोर हो)

इस थीसिस के सही विचारों की ठीक से अनुपालना नहीं की गयी। वस्तुत: औपनिवेशिक समाज के दूसरे वर्गों की तुलना मे सर्वहारा वर्ग को, विदेशी शासन की समाप्ति में अधिक रुचि थी। यही वजह है कि, जैसाकि लेनिन ने इसे प्रस्तुत किया, कम्युनिस्टों को उपनिवेशों और पिछड़े देशों मे पूँजीवादी प्रजातंत्र के साथ अस्थायी समझौते की आवश्यकता थी।"[1] कहने का तात्पर्य है कि उस समय राष्ट्रीय क्रांतिकारी तत्त्वों को सहायता एवं समर्थन देना जरूरी था, लेकिन उनमें मिलने की आवश्यकता नहीं थी। "सभी परिस्थितियों में सर्वहारा-आंदोलन की स्वाधीनता को बनाये रखना जरूरी था, भले ही वह बहुत अविकसित अवस्था में था। और उन्हें पूँजीपति वर्ग के आदर्शों से पूरी तरह भिन्न होते हुए भी कम्युनिस्ट आदर्शों की शिक्षा देना था।"[2]

'पूरक थीसिस' ने कम्युनिस्टों के इसी हठ को बनाये रखा कि उन्हें पूरब में क्रांतिकारी आंदोलन के नेतृत्व को प्राप्त करने में विजयी होना है। (आरंभ से ही) और उसकी प्राप्ति के लिए कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के काम को तेज करना है। ये सब काम उसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की ताकतों से संपर्क एवं सहकार स्थापित करने से पूर्व कर लेना है।

इस संदर्भ में आठवीं थीसिस भी उल्लेखनीय है। रॉय चाहते थे कि कामिंटर्न पूरबी देशों के कम्युनिस्ट आंदोलन की सहायता तक स्वयं को सीमित रखे क्योंकि उनके विचार से आम जनता और विशेषकर मजदूर वर्ग 'राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के प्रति उदासीन था।'[3] उन्होंने अपनी थीसिस में एक और तर्क सम्मिलित करते हुए लिखा, "अधिकांश देशों में समाजवादी या कम्युनिस्ट पार्टियाँ पहले से संगठित हैं।"[4] उनके समक्ष समाजवादी क्रांति के लिए परिश्रम करने का मुख्य काम

---

1. वी॰ आई॰ लेनिन, 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक सवालों पर आरंभिक ड्राफ्ट थीसिस', संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ॰ 150
2. वही
3. जीस्न नेशनलस्तेद, 25 जुलाई, 1920, पृ॰ 2
4. देखें : ए॰ बी॰ रजनीकोव, 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर संकीर्णतावादी गलतबयानी के विरुद्ध वी॰आई॰ लेनिन का संघर्ष', कम्युनिस्त, न॰ 5, 1968, पृ॰ 46। पूरब के अधिकांश आरंभिक कम्युनिस्ट रॉय के निष्कर्ष से सहमति रखते थे कि एशिया में कम्युनिस्ट आंदोलन का ही समर्थन किया जाना चाहिए क्योंकि केवल यही आंदोलन जनता के नेतृत्व में सक्षम है, जिसमें समाजवादी क्रांति विजयी हो सकती है। यह विचार गुपनात अहेद [illegible]

है।[1] जबकि कांग्रेस-आयोग के विचारों की अनुपालना में समाजवादी क्रांति के लिए संघर्ष करने के संदर्भ का परित्याग कर दिया गया था।

थीसिस मे इस बात को दो बार कहा गया था कि "उपनिवेशों में क्रांति के पहले चरण मे कम्युनिस्ट क्रांति नहीं होगी।" अथवा इसमें "निम्न पूँजीपति वर्ग के सुधार संबंधी कार्यक्रम सम्मिलित होंगे। जहाँ तक, एशिया के अधिकांश देशों में संगठित कम्युनिस्ट पार्टियाँ होने का तर्क था, इस संबंध मे यही प्रतीत होता है कि यह तर्क 'क्रांतिकारी दलों' के लिए था, न कि कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए।"[2]

यह प्रतीत हो सकता है कि इनका संदर्भ राष्ट्रीय क्रांतिकारी संगठन ही हैं। लेकिन ऐसी बात नहीं है। इस थीसिस को अंत तक पूरा पढ़ जाने पर पता चलता है कि ये पार्टियाँ 'मजदूर वर्ग का अग्रगामी दस्ता हैं', इनका प्रयास 'मजदूर जनता से निकट संपर्क बनाये रखने का है', ये आम जनता की आकांक्षा को व्यक्त करती हैं तथा अंतिम रूप से कहा है कि ये 'सर्वहारा वर्ग की पार्टियाँ हैं।'[3]

कहने का मतलब है कि 'पूरक थीसिस' में अन्यत्र वर्णित पुरानी प्रस्थापना का यह नया स्वरूप है। मुक्ति आंदोलन की नेतृत्वकारी ताकतों से कम्युनिस्टों के सहकार संबंधी विचार से हम परिचित हो चुके हैं। यहाँ पर यह विचारणीय है। सातवीं थीसिस में कहा गया था कि "उपनिवेशों में विदेशी पूँजीवाद का ख़ात्मा की ओर प्रगति का पहला चरण है इसलिए पूँजीपति वर्ग के राष्ट्रवादी क्रांतिकारी तत्त्वों का सहकार उपयोगी है।"[4] पहले, लेनिन के प्रस्ताव से भिन्न, केवल सहकार की उपयोगिता पर ध्यान दिया गया था; कम्युनिस्टों के कर्तव्य, बाध्यता या दायित्व के बारे में कुछ नहीं कहा गया था। दूसरे, 'पूरक थीसिस' द्वारा जो शब्दावली सुझाई गयी थी, वह स्पष्ट रूप से अवास्तविक एवं धोखा देने वाली थी, जिसमें कहा गया था कि मुक्ति-क्रांति का नेतृत्व पहले से ही कम्युनिस्ट पार्टियाँ कर रही हैं, यदि वे चाहें तो राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग का 'उपयोग' कर सकती हैं, जो उनसे सहकार के लिए स्वेच्छा से तैयार है।

यहाँ पर नौवीं थीसिस की दूसरी मान्यताओं पर विचार करना प्रासंगिक होगा। यह कहा गया था कि उपनिवेशों में क्रांति के आरंभिक चरणों में जब तक

मान्यता थी कि 'पूरब में उत्पीड़ित और गुलाम जनता ने कहीं भी संगठित क्रांतिकारी पार्टी के निर्माण में सफलता प्राप्त नहीं की है।' (देखें: जीस्न नेशनलस्तेइ, 1 अगस्त, 1920, पृ॰ 2)

1. देखें: कॉमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, नं 1, पृ॰ 1
2. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 489, पृ॰ 4-8
3. वही
4. वही

कम्युनिस्ट क्रांति नहीं होगी तब तक "अधिकांश पूरबी देशों में विशुद्ध कम्युनिस्ट सिद्धांतों के अनुसार उनकी कृषि-व्यवस्था की समस्याओं के समाधान का प्रयास बहुत ग़लत होगा।"[1] क्या इसका मतलब यह है कि कुछ पूरबी देशों में इस प्रकार के कदम उठाने की स्वीकृति प्राप्त थी? और इसका संबंध भारत से तो नहीं है जहाँ रॉय के मत से, समाजवादी क्रांति के लिए पक्का एवं मज़बूत आधार था, इसके परिणामस्वरूप जहाँ साम्राज्यवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे की समस्या का समाधान पूरब के बहुत से पराधीन एवं औपनिवेशिक देशों से पृथक तरीक़े से कर लिया गया था?

आठवीं थीसिस से एक और उदाहरण लें। इसमें कहा था कि "विभिन्न साम्राज्यवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को उपनिवेशों की इन सर्वहारा वर्ग की पार्टियों के साथ मिल-जुलकर काम करना चाहिए और उन्हीं के माध्यम से क्रांतिकारी आंदोलन को अपना नैतिक एवं साज-सामान संबंधी समर्थन एवं सहयोग देना चाहिए।"[2] यह सब वही था जो कामिंटर्न के संदर्भ से कहा गया था। उपनिवेशों में क्रांतिकारी आंदोलन से कामिंटर्न के संबंध इन्हीं स्थानीय सर्वहारा पार्टियों के 'माध्यम से' व्यवहार में लाने की बात कही गयी थी।[3]

लेनिन द्वारा लिखित प्रथम प्रस्ताव में इस विषय पर दूसरे तरीक़े से विचार किया गया था। प्रथम प्रस्ताव में कहा गया था कि विकसित राष्ट्रों की कम्युनिस्ट पार्टियों को मुक्ति आंदोलनों को सीधे और तुरत रचनात्मक सहायता देना चाहिए तथा समर्थन का रूप क्या हो? इस प्रश्न पर स्थानीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ विचार-विमर्श कर लेना चाहिए। इस वक्तव्य मे इस बात के प्रति बहुत साफ़-साफ़ प्रतिबंध है : 'यदि पूरबी देश मे इस प्रकार को कोई पार्टी है' में उनका संकोच बहुत स्पष्ट है।[4] इस प्रकार के उनके संकोच एवं प्रतिबंध से यह जाहिर है कि पूरब के आरंभिक कम्युनिस्टों में बड़े पैमाने पर व्याप्त वाम-सकीर्णतावाद उनके ध्यान में था और वे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के प्रति उनके नकारात्मक दृष्टिकोण पर अंकुश लगाना चाहते थे। यह संकोच और प्रतिबंध इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।[5]

---

1. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 489, पृ० 4-8
2. वही
3. वही
4. वही
5. भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकार गौतम चट्टोपाध्याय ने इस प्रतिबंधात्मक शब्द को देखा, जो 'आरंभिक ड्राफ्ट' को कांग्रेस द्वारा प्रस्ताव के रूप में स्वीकृत करने से पहले नहीं था। इस प्रकार यह दिखाने का प्रयास किया जाता है कि रॉय के ज़ोर देने पर लेनिन की थीसिस को संशोधित किया गया,

जैसे—ईरान के आरंभिक कम्युनिस्ट वाम-संकीर्णतावाद से बुरी तरह ग्रस्त
जिन्हें अभी भी अपने जनगण का समर्थन प्राप्त नहीं था, फिर भी वे 'गिलान क्रांति
के 'आरंभ से ही' नेता बनना चाहते थे और निम्न-पूंजीपति वर्ग के क्रांतिकारी
प्रजातांत्रिक नेताओं को बाहर करने के इच्छुक थे। स्वभावत, उन्होंने राष्ट्री
मुक्ति आंदोलन की सहायता के प्रश्न पर रॉय की विचार-पद्धति का अनुसर
किया। ईरान की कम्युनिस्ट पार्टी की प्राथमिकताओं का खाका सुलतान ज
और एम० पाव्लोविच ने अगस्त 1920 में तैयार किया। इसमें उन्होंने सबे
किया कि ईरान में क्रांति के लक्ष्य—"अंग्रेजों के निष्कासन···शाह की सरक
का पतन तथा भूमिपतियों की सत्ता का उन्मूलन, तभी प्राप्त किये जा सकते
जबकि सारी सहायता (हथियार, धन और मनुष्य) ईरानी कम्युनिस्ट पार्टी
माध्यम से दी जाय।" लेखकों ने समझाया कि इस आवश्यकता की पूर्ति होने
मतलब है "ईरान में क्रांति की बागडोर कम्युनिस्टों को सभालने का अवसर प्रद
करना।"[1]

यह सत्य है कि छठी, सातवीं, आठवीं और नौवीं थीसिस के विचार-बिंदुओं
बड़ी अनिश्चितता तथा जटिल समस्या उत्पन्न कर दी थी, जिसके बारे में मेरि
को कहना पड़ा था। उसके कथन में पूरबी देशों की राष्ट्रीय क्रांतिकारी ताक़तों
साथ कम्युनिस्टों के सहकार की समस्या का प्रश्न मुख्य था।

दूसरी कांग्रेस के चालू सत्र में पाव्लोविच ने रॉय की 'पूरक थीसिस'
रोचक सार-संक्षेप प्रस्तुत किया। उसने लिखा कि "कॉमरेड रॉय की टिप्पणि
के आवश्यक बिंदु इस प्रकार थे···इंटरनेशनल को उपनिवेशों में मुक्ति-आंदोल
की सहायता उन उदार पार्टियों को समर्थन देकर नहीं करनी चाहिए, जो पूं
वादी व्यवस्था के अन्तर्गत केवल राजनैतिक स्वाधीनता चाहती हैं बल्कि उपनिवे
में कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण तथा एकीकृत करने में सहायता करनी चाहि
उपनिवेशों में क्रांति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग की पार्टियों के हाथों में हो

(गौतम चट्टोपाध्याय, कम्युनिज़म और बंगाल का स्वतंत्रता आंदोलन, प्रति
पृ० 33) यह त्रुटिपूर्ण विचार है। पहली बात तो यह है कि विचाराध
शब्द के पक्ष या विरोध में आसानी से कहा जा सकता है। दूसरी बात यह
कि कॉमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के आरंभ होने से पहले लेनिन ने इ
ही आरंभिक विचार-विमर्श की अनुपालना में तथा कांग्रेस में राष्ट्रीय
औपनिवेशिक प्रश्नों के लिए बने आयोग की बहस के बाद इसे सशोधि
किया था।

1. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 117, पृ० 1

चाहिए।"[1] पाव्लोविच, कांग्रेस में एक डेलीगेट थे, जो राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए बने आयोग की बैठकों में उपस्थित रहे थे। उन्होंने रॉय की थीसिस के बारे में बहुत सही रूप में जानकारी दी है। सच है कि उन्हें उसमें कोई 'वामवाद' दिखाई नहीं दिया।

तथापि, लेनिन और कामिटर्न आयोग की आलोचना के परिणामस्वरूप रॉय की 'पूरक थीसिस' के अभिप्राय में विचारणीय सुधार हुआ। पहली बात तो यही हुई कि उनके विशिष्ट वामवादी विचारों को हटा दिया गया। दूसरी बात यह हुई कि राष्ट्रीय संबंधों तथा औपनिवेशिक सवालों से संबंधित लेनिन की समझ के अनुसार अनेक महत्वपूर्ण और सही बिन्दुओं को इसमें समाविष्ट कर दिया गया। लेकिन जैसाकि हम देख चुके हैं कि इसके बावजूद भी थीसिस की शब्दावली और स्वर रॉय और अन्य 'वाम' कम्युनिस्टों के दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करता है। संयोग से, यह विलक्षण दृष्टिकोण न केवल एशिया के देशों के प्रतिनिधियों का था वरन् आर सी पी (रूस की कम्युनिस्ट पार्टी) के उन कुछ सदस्यों का भी था, जो पूरब[2] में राष्ट्रीय मुक्ति और कम्युनिस्ट आंदोलन की समस्याओं से अपना संबंध रखते थे, इसमें दूसरी पार्टियों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे।

उपर्युक्त स्वेच्छावादी एवं वामवादी तत्वों की ओर लेनिन का ध्यान गया था। इसके अतिरिक्त, तमाम उपलब्ध साधन इस बात का संकेत देते हैं कि उन्होंने इसका नोटिस लिया था तथा इन तत्त्वों को यह समझाने का प्रयास किया था कि वे अवैज्ञानिक एवं असंगत हैं। तथापि, व्यावहारिकता की दृष्टि से लेनिन ने यह संभव नहीं समझा—पूरब के आरम्भिक कम्युनिस्टों की एकता को ध्यान में रखकर तथा उनके तात्कालिक राष्ट्रवादी परिवेश को देखकर—कि उनके विचारों को पूरी

1. एम० पाव्लोविच, 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में औपनिवेशिक एवं राष्ट्रीय नीतियाँ', जीज्न नेशनलस्तेइ, 10 अगस्त, 1920, पृ० 2
2. देखें : आर० ए० उल्यानोव्स्की, समाजवाद और उदीयमान राष्ट्र, पृ० 75, 76, 79 (रूसी भाषा में) : एम० ए० पेरसित्स 'रूस में पूरब के अन्तर्राष्ट्रीयतावादी और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के कुछ प्रश्न (1918—जुलाई, 1920)' कामिटर्न और पूरब, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1979, पृ० 84-109। इसी लेखक की 'पूरब के आरम्भिक कम्युनिस्टों की वाम-संकीर्णतावादी ग़लतियों के बारे में वी० आई० लेनिन (1918—जुलाई, 1920), नरोदी अजी ई अफ्रीकी, नं० 2, 1970; ए० बी० रजनीकोव, 'कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस के राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर लेनिन के प्रस्ताव-लेखन पर एक दृष्टि', नरोदी अजी ई अफ्रीकी, नं० 2, 1971

तरह छोड़ दिया जाय। लेनिन जानते थे कि उनके इन विचारों को वैचारिक सैद्धांतिक तथा क्रांतिकारी गतिविधियों की प्रक्रिया से गुजरते समय बदला ज सकता है। लेनिन ने समझौते का रास्ता अपनाया और पूरब के इन कम्युनिस्टों समक्ष उनकी उपेक्षा तथा गलतियों को समझाने में अपूर्व धैर्य का परिचय दिया।

एक अन्य जरूरी तथ्य का उल्लेख प्रासंगिक होगा। कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के समय कुछ पहले कम्युनिस्ट संगठन तो थे ही, साथ ही रूस में पूरब के राष्ट्रीयताओं वाले लोगों में और एशिया के देशों में भी उनका निर्माण हो रह था। इस दृष्टि से, जब दूसरी कांग्रेस में राष्ट्रीय संबंधों और औपनिवेशिक प्रश्न को विचार हेतु लिया जा रहा था, तब उनके विचार के लिए यह नयी और पूरब के दो आंदोलनों के संबंध तय करने वाली बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या थी ये दो आंदोलन थे—कम्युनिस्ट और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन। कम्युनिस्टों के सामने पहले ऐसी समस्या नहीं आयी थी। लेनिन ने नवम्बर 1919 में होने वाली पूरब की जनता के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी कांग्रेस का हवाला दिया। उन्होंने तब कहा था कि "पूरब का कम्युनिस्ट आंदोलन एक ऐसी लड़ाई में व्यस्त है जिसे विश्व के पहले कम्युनिस्टों ने नहीं लड़ा है।"[1]

26 जुलाई को दूसरी कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन में राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर अपनी रपट में लेनिन ने दो बार इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि "प्राक्-पूंजीवादी परिस्थितियों में कम्युनिस्ट व्यूह-रचना और नीति को कैसे क्रियान्वित किया जाय"—जैसे प्रश्न का उत्तर देने में कम्युनिस्टों के पास अनुभव की कमी है। उन्होंने कहा: "इस संदर्भ में हमारा संयुक्त अनुभव बहुत व्यापक नहीं है।"[2] लेनिन ऐसे क्रांतिकारी व्यवहार की आशा रखते थे जो कम्युनिस्टों और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के संबंधों को व्यक्त करने की दृष्टि से इस समय आवश्यक था, लेकिन था नहीं, जिससे बहुत महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रस्ताव तैयार किए जा सकते थे। लेनिन ने यह भी घोषित किया था कि "लेकिन धीरे-धीरे ऐसे आँकड़े इकट्ठे होंगे।"[3] रॉय ने अपने संस्मरणों में कांग्रेस आयोग में लेनिन द्वारा की गई टिप्पणियों पर अपने तरीके से लेनिन की स्थिति पर चर्चा की: "लेनिन ने कहा था, हम नयी आधार-भूमि की खोज कर रहे हैं, और इसलिए व्यावहारि

---

1. वी० आई० लेनिन, 'पूरब की जनता के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस को सम्बोधन, 22 नवम्बर, 1919', संकलित रचनाएं, प्रति 30, पृ० 161
2. वी० आई० लेनिन, 'कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस' संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 242-243
3. वही

अनुभव संबंधी अंतिम निर्णय की बात स्थगित करते हैं।"[1]

जैसाकि रॉय ने दावा किया है कि लेनिन ने उन्हें विकल्प थीसिस तैय
हेतु आमंत्रित किया था। और जैसा कि हम देख चुके हैं कि उन्होंने विश्ल
किए थे। इसके साथ, यह भी बहुत स्पष्ट है कि लेनिन ने समय और व्या
अनुभव पर विश्वास के कारण उन्हें छोड़ देने पर विशेष बल नहीं दि
राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर दूसरी कांग्रेस में लेनिन द्वारा लिखित
में कामिंटर्न की लाइन को सुनिश्चित तरीके से व्यक्त कर दिया था।

इस बात का संकेत उस समय मिलता है जब लेनिन भारत के एक
क्रांतिकारी भूपेन्द्रनाथ दत्त को 1921 की गर्मियों में पूरब की समस्या
कामिंटर्न की स्थिति का हवाला दे रहे थे। उस समय उन्होंने औपनिवेशिक
पर रॉय की 'पूरक थीसिस' को छोड़ते हुए अपनी थीसिस का संदर्भोल्लेख
था।[2]

यह भी अच्छा संकेत है कि स्तालिन ने 1927 में भारत और चीन के
निस्टों को रॉय की थीसिस को अपनी निर्देश-पुस्तिका बनाने की सलाह दी
क्योंकि उन्होंने लेनिन के दस्तावेज़ से भिन्न 'वामपंथी' का अनुमोदन किया
उनकी दृढ़ मान्यता थी कि इस संदर्भ में लेनिन की थीसिस का सीमित मह
क्योंकि उनका विश्लेषण पूरब के पिछड़े देशों—अफ़ग़ानिस्तान और ईरा
पर आधारित है, जब कि रॉय के विश्लेषण का आधार पूंजीवाद के विक
स्तरों वाले देश चीन और भारत से संबंध रखता है।[4]

इस प्रकार 'पूरक थीसिस' राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर लेनिन
वाम क्रांतिकारी लाइन के बीच समझौते की उपज दिखाई देती है। लेनिन स
तरह के समझौतों को अस्वीकार नहीं करते थे। बल्कि उनका विश्वास था

---

1. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 380-381
2. देखें : वी० आई० लेनिन, '26 अगस्त, 1921 को लिखा भूपेंद्रनाथ दत्त
पत्र,' संकलित रचनाएँ, प्रति 45, पृ० 270
3. देखें : ए० वी० पांतसोव, 'चीन के व्यवहार में राष्ट्रीय एवं औपनिवेशि
प्रश्नों पर लेनिन के विचार,' '60वीं वर्षगांठ के लिए सी पी सी के इतिहा
की शिक्षा और अनुभव। 7-8 अप्रैल 1981 को विज्ञान संबंधी सम्मेलन
प्रस्तुत पत्र की रूपरेखा,' इंस्टीट्यूट दलनिक वस्तका ए एन एस एस एस
आर, मास्को 1981, पृ० 184-185 (रूसी भाषा में)
4. देखें : जे० स्तालिन, 'चीन की क्रांति पर टी० मारचूनिन को उत्तर,' तथा
'13 मई, 1927 को सन यात सेन विश्वविद्यालय के छात्रों से बातचीत',

"कम्युनिस्टों में···निश्चित परिस्थितियों में समझौते आवश्यक हैं।"[1] और यह वास्तविकता है कि कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस के समय परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थी कि पूरबी देशों के अधिकांश डेलीगेट 'वाम' के प्रति आकर्षित थे। इसको देखते हुए लेनिन ने पूरब के उन अग्रगामी कम्युनिस्टों के लिए व्याख्यात्मक एवं शिक्षात्मक कार्य को प्राथमिकता दी। ये ईमानदार क्रांतिकारी और युवा अनेक कारणों से अभी मार्क्सवादी विज्ञान को अच्छी तरह नहीं समझ पाए थे। लेनिन का इनके बारे में अनुमान था कि यद्यपि वे स्वयं को कम्युनिस्ट घोषित कर चुके हैं लेकिन वे अभी कम्युनिस्ट हो नहीं पाये हैं, लेकिन वे ऐसा होना चाहते थे।

इस तथ्य के बारे में सभी सोच सकते हैं कि पूरब में कम्युनिस्ट आंदोलन ऐसी परिस्थितियों की उपज था कि जहाँ वस्तुगत कारणों से 'वाम क्रांतिकारी' विचारों की जड़ें बहुत गहरे चली गयी थी। अतः इस तरह की परिस्थिति में उन विचारों और निर्णयों को अस्वीकृत कर देना जल्दबाजी होती। कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के ज्ञान की आरम्भिक अवस्था व्यूह-रचना की दृष्टि से पूरब में मुक्ति संघर्ष के साथ सर्वहारा आंदोलन की एकता को नुकसान पहुँचाने वाली थी। लेनिन ने कहा था कि 'वाम' की गलतियाँ 'पीड़ादायक' थी।"[2]

पूरबी देशों के 'वाम' कम्युनिस्टों की भ्रामक अवधारणा को सामान्यतः अस्वीकृत नहीं किया जा सकता था। मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांतों के अध्ययन से ही स्वयं 'वाम' कम्युनिस्ट उन पर विजयी हो सकते थे। जैसाकि लेनिन ने कम्युनिस्ट होने का प्रयास करने वाले युवाओं के बीच कहा था कि "साम्यवाद को तोते की तरह रटकर नहीं सीखा जा सकेगा लेकिन विचार करने से यह समझ में आ जायेगा।"[3]

उल्लेखनीय है कि कॉमिटर्न की दूसरी कांग्रेस के परिणामों की समीक्षा करते समय लेनिन ने संकेत किया था कि कांग्रेस ने पश्चिमी देशों में की जाने वाली गलतियों को ठीक कर लिया है। पश्चिमी देशों के "कम्युनिस्ट 'वाम' की ओर

---

1. उदाहरण के लिए, कामिटर्न की तीसरी कांग्रेस में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की रणनीति के बारे में थीसिस का वर्णन करते हुए लेनिन ने कहा था . 'वस्तुतः इसमें कोई गोपनीयता नहीं है कि हमारी थीसिस एक समझौता है।' (देखें: वी० आई० लेनिन, 'कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की रणनीति की सुरक्षा के बारे में भाषण, 1 जुलाई' संकलित रचनाएँ, प्रति 32, पृ० 468)
2. लेनिन के विविध-संग्रह, प्रति XXXVII, मास्को, 1970, पृ० 224 (रूसी भाषा में)
3. वी० आई० लेनिन, 'युवा लीग के कार्यभार', संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 289

चले गए थे।"[1] यहाँ पर उन्होंने पूरब के 'वाम' कम्युनिस्टों की गलतियों का उल्लेख नहीं किया, यद्यपि उनकी गलतियों की खोज एवं व्याख्या करने में उनका काफी समय खर्च हुआ था।

लेनिन इस बात को जानते थे कि पूरब के आरम्भिक कम्युनिस्ट मार्क्सवाद को अधिक नहीं समझ सकते थे इसलिए वे उनके वाम क्रांतिकारी दृष्टिकोण के बावजूद उन्हें रियायतें देते थे, जिससे कि वे अपने विचारों की भ्रांति को स्वयं देख-समझ सकें तथा चीजों को जल्दी-से-जल्दी सही रूप में देखने में सहायक हो सकें।

पूरब के उदीयमान कम्युनिस्टों के संबंध में जोकि अभी तक राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों से उबर नहीं पाए थे, लेनिन की स्थिति को रोस्तिस्लाव उल्यानोव्स्की ने अंकित किया है।

वह लिखते हैं कि जब लेनिन कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन में अपने 'आरम्भिक ड्राफ्ट' को प्रस्ताव के रूप में अनुमोदित कराने हेतु तैयार कर रहे थे तब उन्होंने अधिक पिछड़े देशों पर आधारित सही और महत्वपूर्ण बिंदुओं को उसके पाठ में से छोड़ दिया था क्योंकि इनमें राष्ट्रीय अहं तथा संकीर्णता के पूर्वाग्रह थे।[2] उल्यानोव्स्की लिखते हैं : "लेनिन की पाडुलिपियों के अध्ययन से पता चलता है कि 'आरम्भिक ड्राफ्ट थीसिस' के पूर्णतः सही बिंदुओं को स्वयं लेनिन ने ही छोड़ दिया था कि तुर्किस्तान, बश्कीरिया तथा किर्गीज के कम्युनिस्टों का एक समूह इन्हें समझ नहीं पाया था, जिन्होंने कांग्रेस के अवसर पर लेनिन को लिखा था।"[3] लेनिन ने लिखा था, "कम्युनिस्टों की सही रणनीति का तकाजा है कि वह उन तत्वों को रियायतें दे जोकि सर्वहारा की ओर रूपान्तरित हो रहे हैं...।"[4]

राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों के मामले में कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव से 'पूरक थीसिस' की भिन्नता और लेनिन की वास्तविक स्थिति यही थी। कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर हुई बहस को अनेक पूँजीवादी लेखकों ने अपना विषय बनाया है और सभी ने रॉय को ही लेनिन के

1. वी० आई० लेनिन, 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस', संकलित रचनाएँ, ग्रंथ 31, पृ० 271
2. सी एफ : वी० आई० लेनिन का 'आरंभिक ड्राफ्ट' (ग्रंथ 31, पृ० 150) और 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर दूसरी कांग्रेस का प्रस्ताव' (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, पृ० 495)
3. आर० ए० उल्यानोव्स्की, साम्राज्यवाद और उदीयमान राष्ट्र, पृ० 78
4. वी० आई० लेनिन : 'वामपंथी साम्यवाद—एक बचकाना मर्ज,' संकलित

'वाम' प्रतिपक्षी के रूप में देखा है। मुख्य बात देखने की यह है जो इन लेखकों के ध्यान में नहीं आई है कि रॉय द्वारा व्यक्त वाम क्रांतिकारी विचार उस समय पूरब के समस्त नवांकुरित कम्युनिस्टों में व्यापक रूप से फैले हुए थे। उन्होंने जो थीसिस प्रस्तुत की उसका सामाजिक मूल्य है क्योंकि इसमें एशिया के देशों के आरम्भिक कम्युनिस्टों के राजनैतिक विचारों और उनकी अपरिपक्व विचारधारा —मार्क्सवाद की दृष्टि से—का पता चलता है। इस पहलू पर काम करते हुए वे बहस-मुबाहिसों से उसे नवीनतम स्वरूप प्रदान करने में लगे थे। पूंजीवादी इतिहासविदों ने रॉय के इस महत्त्वपूर्ण पहलू को अनदेखा करते हुए उनके व्यक्तित्व की अत्यधिक प्रशंसा करने में ही अपना ध्यान केंद्रित किया तथा कामिंटर्न की पूरबी देशों की मूल नीति बनाने में उनकी निर्णयात्मक भूमिका का दावा किया। उदाहरणार्थ, एक भारतीय विद्वान डॉ० नाइक ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि "कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के नेताओं में रॉय अकेले थे, जोकि उपनिवेशों के विकास के विभिन्न चरणों के विश्लेषण का विकास कर रहे थे तथा उनके लिए उचित रणकौशल की आवश्यकता को ग्रहण कर रहे थे।"[1] जॉन पेट्रिक हेयकॉक्स की मान्यता थी कि "रॉय ने राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर कामिंटर्न के नीति-निर्धारण में बहुत ऊँची और महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। और रॉय की आलोचना का ही परिणाम था कि राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर लेनिन की थीसिस को संशोधित किया गया था।"[2] ओवरस्ट्रीट और विण्डमिलर का तर्क था कि रॉय ने "महान लेनिन पर जोर देकर रियायतें ले लेने के लिए उचित प्रतिष्ठा अर्जित की थी।"[3] परन्तु ये शब्दशः दुहराये जाने वाले एक जैसे मूल्यांकन आत्मतुष्ट निर्णयों को व्यक्त करते हैं क्योंकि स्वयं रॉय ने भी इतना ही आत्मतुष्ट होकर लिखा था, "मेरे साथ लेनिन की लम्बी बहस के बाद जब उन्होंने अपनी थीसिस के प्रति संदेह व्यक्त किया तो रोमांचक स्थिति पैदा हो गई।"[4] वास्तविकता यह है कि ऐसा कभी कुछ नहीं हुआ। संदेह की बात से बहुत दूर लेनिन ने अपनी थीसिस के 'आरंभिक ड्राफ्ट' को पूरी तरह ठीक पाया। लेनिन के दस्तावेज में सिद्धान्त रूप में न तो कोई त्रुटि थी और न ही उसके समक्ष कभी कोई

1. जे० ए० नाइक, स्टालिन से ब्रेझनेव तक भारत के प्रति सोवियत नीति, विकास प्रकाशन, देहली, 1970, पृ० 11
2. जे० पी० हेयकॉक्स, 'औपनिवेशिक नीति पर रॉय-लेनिन की बहस : एक नयी व्याख्या', जनरल ऑफ एशियन स्टडीज, 1963, प्रति 23, न० 1, पृ० 94-95
3. जी० डी० ओवरस्ट्रीट, एम० विंडमिलर, भारत में साम्यवाद, पृ० 33
4. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 381

प्रश्नचिह्न लगा। सामान्य बहस और विचार-विमर्श में इस बात के लिए कोई यथार्थ एवं सूक्ष्म फार्मूला तैयार करना था कि 'पिछड़े देशों में पूंजीपति वर्ग के प्रजातांत्रिक आंदोलन का समर्थन' कैसे और किस रूप में किया जाय। रॉय ने इस महत्त्वपूर्ण विषय को छोड़ देने के लिए दबाव डाला लेकिन बहुत थोड़े सुधार के साथ पुनः पूर्व पक्ष को सुदृढ़ किया गया। लेनिन की थीसिस में—जिसे दूसरी कांग्रेस का प्रस्ताव मान लिया गया था—उल्लेख था कि राष्ट्रीय क्रांतिकारी ताक़तों का समर्थन जरूरी है क्योंकि पूंजीपति वर्ग के ये प्रजातांत्रिक आंदोलन वास्तव में ही क्रांतिकारी हैं। इस प्रकार उनके 'नए' फार्मूले में सिद्धांततः कुछ भी नया नहीं था। 1916 में ही लेनिन ने चाहा था कि समाजवादियों को पूरब के *मुक्ति आंदोलनों को 'दृढ़तापूर्वक समर्थन देना चाहिए' परन्तु यह समर्थन पूरब के* राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को सामान्य रूप में न देकर 'राष्ट्रीय मुक्ति के लिए पूंजीवादी *प्रजातांत्रिक आंदोलनों में जो अधिक क्रांतिकारी हों' उन्हें ही दिया जाना* चाहिए।[1] इसके अलावा लेनिन की ग्यारहवीं थीसिस के पाँचवे अनुच्छेद में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के क्रांतिवाद को परिभाषित किया गया था तथा कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के प्रस्ताव के रूप में ग्रहण कर लेने पर भी उसे अपरिवर्तित रहने दिया गया है। लेनिन के 'आरंभिक ड्राफ्ट' में जो कमोवेश परिवर्तन किए गए थे, वस्तुतः उनका उद्देश्य रॉय के वाम-संकीर्णतावादी सिद्धांतों को लचीला बनाना था जोकि एक सीमा तक उनकी 'पूरक थीसिस' में विद्यमान थे। रॉय नहीं चाहते थे कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को सहायता मिले। यदि इतना न हो सके तो कम-से-कम इसे सीमित एवं प्रतिबंधित किया जाय। इसलिए 'पूरक थीसिस' के आठवें अनुच्छेद में, जैसाकि पहले दिखाया जा चुका है, कहा गया था कि कामिंटर्न और पश्चिमी देशों के कम्युनिस्टों द्वारा दी जाने वाली सहायता स्थानीय कम्युनिस्ट पार्टियों के माध्यम से दी जाय। राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर दूसरी कांग्रेस के प्रथम प्रस्ताव के रूप में मान्य लेनिन की थीसिस में पूंजीवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा राष्ट्रीय *मुक्ति आंदोलन* को सीधी सहायता देने का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था (बिना किसी *बिचौलिए के) (नवीं थीसिस) तथा एक नया प्रस्ताव इस संबंध में था कि स्थानीय* कम्युनिस्ट पार्टियों में सहायता के रूप पर विचार-विमर्श करके सहायता प्रदान की जाएगी। *(ग्यारहवीं थीसिस)* इसी का परिणाम था कि रॉय की थीसिस में भले ही पूरी तरह संशोधन न हुआ हो परन्तु बुनियादी परिवर्तन उसी में हुआ। फिर

---

1. वी० आई० लेनिन, 'समाजवादी क्रांति और राष्ट्रों का आत्मनिर्णय का अधिकार', संकलित रचनाएँ, प्रति 22, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1964, पृ० 151-152

भी लेनिन के 'आरम्भिक ड्राफ्ट' में कुछ परिवर्तन किए गए थे। उनमें से दो को स्पष्टीकरण की दृष्टि से विचारणीय माना जा सकता है, दरअसल, जिनमें लेनिन के निर्देशों पर ही बल दिया गया है। लेनिन और कामिटर्न की जिन रियायतों का उल्लेख पूँजीवादी लेखकों ने चटखारे ले-लेकर किया है, वास्तविकता यह है कि ये रियायतें दी गई थीं परन्तु इनका उद्देश्य न केवल रॉय थे बल्कि पूरब के वे सभी उदीयमान कम्युनिस्ट थे, जो मार्क्सवाद के रास्ते पर चलना चाहते थे।

कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस ने पूरबी देशों में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास में उल्लेखनीय योगदान किया। उसने इनकी रणनीति एवं व्यूह-रचना तैयार की तथा समस्त साम्राज्य-विरोधी ताक़तों की एकता के लिए सही रास्ते की ओर संकेत किया।

लेनिन और कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस ने पूरबी देशों के कम्युनिस्टों को साम्राज्यवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चा बनाने की दिशा में प्रेरित किया (यद्यपि यह शर्त स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी) तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का समर्थन और राष्ट्रीय क्रांतिकारी दलों के साथ सहकार के लिए आग्रह किया।

सभी ग़ैर-मार्क्सवादी इतिहासकार इस विचार पर एकमत हैं कि पूरब की पूँजीपति वर्ग की प्रजातांत्रिक राष्ट्रीय क्रांतिकारी ताक़तों से सहकार की नीति कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस में पहली बार प्रतिपादित की गई थी तथा बाद में अमल में लाई गई। इस नीति को अपनाने का कारण यह था कि पश्चिमी यूरोप में समाजवादी क्रांति की शीघ्र विजय के प्रति उनकी आशा क्षीण हो चुकी थी। उदाहरण के लिए, जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय स्नातक अध्ययन संस्थान के प्रोफेसर हरीश कपूर की मान्यता है कि जब कामिटर्न और बोल्शेविकों को पता चल गया कि पश्चिमी सर्वहारा का तात्कालिक क्रांति में 'विजयी होना असंभव' है तब 1920 के मध्य में पहली बार वे एशिया की ओर मुख़ातिब हुए। इसलिए बोल्शेविकों को यह कहना ज़रूरी हो गया कि वे "एशिया की जनता और रूस के मज़दूरों और किसानों के समझौते की ओर ध्यान आकर्षित करें तथा एकता की भावना को पुनर्जीवित करें।"[1] यही विचार दिमित्रि रो बोर्सनर का था। उसका विश्वास है कि "पश्चिमी उपनिवेशवादी सत्ताओं के विरोध में पूँजीपति वर्ग के राष्ट्रवादी आंदो-

1. एच० कपूर, सोवियत संघ और उदीयमान राष्ट्र, भारत के प्रति सोवियत नीति का अध्ययन, माइकेल जोसेफ लिमि० लंदन, 1912, पृ० 12

सनों को सहायता की नयी व्यूह-रचना"[1] की शुरुआत कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस से हुई थी, लेकिन व्यवहार में सितम्बर 1920 में आयोजित पूरबी जनता प्रथम कांग्रेस (बाकू) से लागू की गई थी।[2] इसका विश्वास है कि "बाकू कांग्रेस तथा वारसा से लाल सेना के पीछे हटने के बाद ही कामिटर्न पूरब की राष्ट्रीय क्रांतिकारी भावना की ओर उन्मुख हुई और तभी उसने पूंजीपति वर्ग के राष्ट्रवादियों के साथ मिलकर काम करने का प्रस्ताव किया।" बोर्सनर ने इस विचार का निर्माण बहुत निश्चितता के साथ किया है : "कामिटर्न की नई नीति, पश्चिम में *सर्वहारा क्रांति की असफलता का परिणाम है* । पूरब की तमाम सरकारों तथा राजनीतिक आंदोलनों का समर्थन, उनको पश्चिम के प्रभाव से पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने के संघर्ष की प्रवृत्ति को व्यक्त करता है।"[3]

उक्त सारी धारणाओं में एक भी स्वीकार्य नहीं मानी जा सकती है। सबसे पहले बोल्शेविकों की 'एकता की भावना' तथा पश्चिम में सर्वहारा क्रांति में विलंब के कारण एशिया के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के समर्थन के लिए उन्मुख होने की बात पूर्णतः निराधार है।

22 नवम्बर, 1919 को एशिया की जनता के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी कांग्रेस में तत्कालीन परिस्थितियों के संबंध में रपट प्रस्तुत करते हुए लेनिन ने कहा था कि "पश्चिम यूरोप में सामाजिक क्रांति दिन दूनी-रात चौगुनी गति से विकसित हो रही है।" इसी सम्बोधन में लेनिन ने कम्युनिस्टों से आग्रहपूर्वक कहा था कि "*वे स्वयं को पूंजीपति वर्ग के राष्ट्रवाद से सम्बद्ध करें जोकि वहाँ विकसित* हो रहा है। और वहाँ भी इसका उदय होना चाहिए जहाँ इसकी ऐतिहासिक संगति है।" उन्होंने आर सी पी (बी) के कार्यक्रम के सही होने की बात पर जोर देते हुए कहा कि आने वाले विश्व में समाजवादी क्रांति के लिए सभी विकसित राष्ट्रों में अपने पूंजीपति वर्ग के विरोध में सर्वहारा वर्ग संघर्षरत रहेगा *और इस सर्वहारा वर्ग के साथ 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद के विरोध में'* औपनिवेशिक एवं पराधीन देशों के 'राष्ट्रीय युद्ध' होंगे।[4]

---

1. दिमित्रियो बोर्सनर, बोल्शेविक और राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्न (1917-1928), लिबरेरी-इ ड्राज, जिनेवा; लिबरेरी मिनार्ड, पेरिस, *1957*, पृ० 97
2. वही, पृ० 92
3. वही, पृ० 98-99
4. वी० आई० लेनिन, '22 नवम्बर 1919 को पूरब की जनता के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस का सम्बोधन,' *संकलित रचनाएँ, प्रति 30, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1977, पृ०* 155, 159, 162

1920 में अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद के विरोध में संघर्ष की रण-नीति पर चल रहा था। लेनिन ने 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के बुनियादी कार्य पर थीसिस' में इस नयी स्थिति की समीक्षा करते हुए कहा था कि कम्युनिस्ट पार्टियों का ताजा काम क्रांति को वेगवान बनाना न होकर सर्वहारा की तैयारी को सुदृढ करना है।[1] तथापि, उस समय भी लेनिन ने कुछ पूँजीवादी देशो मे मजदूर वर्ग की विजय की सभावना से इकार नहीं किया, जोकि लेनिन की इसी थीसिस मे वर्णित है।

इसी बीच, रूस की आन्तरिक स्थिति एकीकृत हो गई। गृहयुद्ध के फलदायी निष्कर्ष आने लगे थे. इस कारण 1920 मे लेनिन ने घोषणा की थी कि "यह पूरी आश्वस्ति तथा दृढता के साथ कहा जा सकता है कि अब हम अपने प्रिय, वाछनीय तथा लम्बे समय से आकांक्षित करने वाले काम को व्यवस्थित कर सकेंगे—वह काम है आर्थिक विकास।"[2] तो भी राज्यसत्ता की सोवियत व्यवस्था की एकता और पश्चिमी सर्वहारा की विजयी होने की आशा के बावजूद लेनिन ने जून 1920 में पूरबी देशो मे राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन के साथ बोलशेविकों के दृष्टिकोण को सक्षेप में दुहराया, जिसे वे 1916 मे विस्तार से व्यक्त कर चुके थे। राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नो पर प्रस्तुत अपनी थीसिस की रूपरेखा मे लेनिन ने एक बार पुन: इस बात का उल्लेख किया कि उपनिवेशो के अधिकारों को मान्यता देना तथा ऐसी सत्ताओ के संबध-विच्छेद कर लेना ही पर्याप्त नही है। उन्होने उस समय की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा था कि "उपनिवेशो मे निरन्तर विकसित होते क्रांतिकारी सघर्षों को प्रभावी मदद देना ही"[3] इस समय की सबसे बड़ी जरूरत है।

इस प्रकार बोलशेविको और कामिटर्न की पूरबी-नीति मार्क्सवाद-लेनिन-वाद के सिद्धातो से सचालित हुई थी, न कि पश्चिमी यूरोप के सर्वहारा के राजनैतिक सघर्ष के विचार से समय बिताने की दृष्टि से। तथापि यह स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग की उपलब्धियो एवं निराशाओं से एशिया की जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन प्रभावित होते थे।

बोलशेविकों और कामिटर्न की 'नयी नीति' के तर्क को और अधिक प्रभावी

---

1. वी०आई० लेनिन, 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस के बुनियादी कार्य पर थीसिस,' सकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 189
2. वी० आई० लेनिन, 'सोवियतों की आठवी अखिल रूसी कांग्रेस की रपट,' संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 489
3. वी० आई० लेनिन, 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर ड्राफ्ट थीसिस,' सकलित रचनाएँ, प्रति 41, पृ० 438 (रूसी भाषा मे).

बनाने की दृष्टि से बोर्सनर ने संकेत किया कि 1921 तक पूरबी देशों के साथ आर एस एफ एस आर ने मैत्री और कूटनीतिक संबंधों के निर्माण की दृष्टि से प्रथम संधियों पर हस्ताक्षर कर दिए थे। यह कहकर उक्त लेखक अपने पाठक को यह जताना चाहता है कि यह सब सोवियत सरकार का दोष था कि ऐसा करके उसने 1920 के अंत तक 'नव राष्ट्रवादी आंदोलनों' के समर्थन से इंकार कर दिया था।[1] लेकिन इस तर्क-पद्धति का कोई आधार नहीं है। वास्तविकता यह है कि 1917 की अक्तूबर क्रांति के आरम्भ से, सोवियत सरकार ने पूरबी देशों की जनता तथा सरकारों के साथ मैत्री और कूटनीतिक संबंध बनाने की दृष्टि से कड़ी मेहनत की थी। वस्तुतः, यह लड़ाई आसान नहीं थी, इस लड़ाई का मतलब था कि न केवल पूरबी देशों प्रतिक्रियावादी ताकतों के प्रतिरोध का मुकाबला करना वरन् साम्राज्यवादी सत्ताओं से कड़ा विरोध मोल लेना। इसके अलावा, रूस की सीमाओं से लगे हुए समस्त पूरबी देशों की भूमि को साम्राज्यवादी ताकतें सोवियत-विरोधी सशस्त्र हस्तक्षेप के लिए इस्तेमाल कर रही थीं, जबकि तुर्की और चीन इससे सीधे जुड़े हुए थे। अतः यह स्पष्ट है कि इस तरह की परिस्थितियों में सोवियत रूस ने पूरबी देशों के साथ अल्पावधि के लिए उन संधियों पर हस्ताक्षर किए थे, जो बाल्शेविकों की उत्पीड़ित एशिया की राष्ट्रीय ताकतों को समर्थन देने की अटल नीति के अन्तर्गत था तथा आंदोलनकारी ताकतों द्वारा मुक्ति संघर्ष को उभारने के संदर्भ में था।

राष्ट्रीय आंदोलनों के समर्थन-संबंधी बोल्शेविकों और कामिंटर्न की 'नयी' लाइन के आरोप को और अधिक तर्कसंगत बनाने की दृष्टि से बोर्सनर ने पूरबी देशों के प्रश्न पर कामिंटर्न की पहली, दूसरी और तीसरी कांग्रेस के निर्णयों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उसने निष्कर्ष निकाला है कि पहली कांग्रेस पश्चिम के प्रभाव में यूरोप के सर्वहारा को विजयी बनाने के विषय पर केंद्रित थी, अपना पहला लक्ष्य इसी बात को बनाया। उसके बाद पूरबी देशों की मुक्ति तथा उन्हें पूँजीवाद से छलांग लगाकर समाजवाद के रास्ते पर चलाना उनकी प्राथमिकता के अन्तर्गत था। बोर्सनर के तर्क को प्रथम दृष्टि में देखने पर किसी को भी यह विश्वास हो सकता है कि कामिंटर्न ने पूरब की राष्ट्रीय पूँजीवादी-प्रजातांत्रिक ताकतों के साथ सहकार की संभावनाओं से साफ-साफ इंकार कर दिया था। उसके मत में "इसके स्थान पर पहली कांग्रेस में पूरी तरह और दूसरी कांग्रेस में अंशतः पश्चिम की ओर झुकाव प्रदर्शित करता है और जिसमें यह दावा किया गया था कि पश्चिम का सर्वहारा पूरब का क्रांतिकरण करेगा। लेकिन अब (कामिंटर्न की तीसरी कांग्रेस से पूर्व) ई ई सी आई ने इसको उल्टा कर दिया है : पूरब

---

1. डी० बोर्सनर, पूर्ववर्णित, पृ० 100

के राष्ट्रवादी पश्चिम का क्रांतिकरण करेंगे।"[1] बोर्सनर ने कहा कि एक पत्र ई सी सी आई ने 'समस्त सदस्यों और संभावित पार्टी सदस्यो को भेजा था' जिसमे उसकी 'नई लाइन' का उल्लेख था कि "नई लाइन थी कि पश्चिम मे तब तक क्रांति असंभव होगी जब तक कि यह पूरब मे नहीं फैल जाती है।"[2] सवाल होता है कि क्या वास्तव मे ऐसा ही था? राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नो से संबंधित पहली, दूसरी और तीसरी कांग्रेस के दस्तावेज उन वर्षों में कामिंटर्न की पूरबी नीति की बुनियादी प्राथमिकताओं को साफ-साफ बतलाते हैं। कामिंटर्न की पहली कांग्रेस मे, यद्यपि कुछ मान्य कारणों से इसमे पश्चिमी यूरोप के सर्वहारा के शीघ्र विजयी होने की संभावनाओं को स्वीकारा गया था, यह बात 4 मार्च, 1919 को इसके राजनैतिक मंच से स्थापित की गई थी कि यह "साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्षरत उपनिवेशों की शोषित-पीड़ित जनता का समर्थन करेगा।"[3] पहली कांग्रेस के निर्णयों के स्वरूप का विश्लेषण करते समय बोर्सनर तथा पूंजीपति वर्ग के अन्य लेखकों ने इस बिंदु को आँखो से पूरी तरह ओझल कर दिया है, जिसे कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के सुपरिचित एवं प्रसिद्ध दस्तावेज मे खोल-खोलकर तथा सैद्धान्तिक आधार पर सिद्ध कर दिया है। तीसरी कांग्रेस मे इसे—राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक समस्या—दूसरी कांग्रेस के नजरिये से ही देखा गया है।

विश्व सर्वहारा क्रांति मे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के स्थान एवं भूमिका की जाँच करने पर बोर्सनर ग़लत सिद्ध हो जाते हैं। वस्तुत. पहली कांग्रेस ने इसे प्रतिपादित नहीं किया। पूरब मे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष अभी ऐसे चरण मे नहीं पहुँच पाए थे कि इस विषय को प्रतिपादित एवं निश्चित किया जा सके। कांग्रेस के घोषणा-पत्र मे केवल इस बात पर बल दिया गया था कि पूरब की औपनिवेशिक उत्पीड़न से मुक्ति मे पश्चिमी यूरोप के सर्वहारा की आसन्न विजय की निर्णायक भूमिका होगी।[4] लेकिन नवम्बर 1919 मे पूरब की जनता के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस के समय, जब कि एशिया मे मुक्ति आंदोलन परे उभार पर थे तथा आगे बढ़ने की निरन्तरता लिये हुए थे और कुछ कम्युनिस्ट तत्त्व पहले से ही इनमे सम्मिलित थे तब लेनिन ने इस समस्या का एक समाधान सुझाया था। उन्होंने उस समय कहा था : "यह स्वतः प्रमाणित है कि विश्व के विकसित देशों के सर्वहारा द्वारा ही अन्तिम विजय हासिल हो सकेगी और हम

1. दिमित्रियो बोर्सनर, पूर्ववर्णित, पृ० 107
2. वही, पृ० 107
3. वी० आई० लेनिन और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल', पृ० 134 (रूसी भाषा मे)
4. वही, पृ० 143

रूसी उस कार्य को आरम्भ कर रहे हैं जिसे ब्रिटिश, फ्रेंच तथा जर्मन सर्वहारा मजबूत करेंगे। लेकिन हम जानते हैं कि वे उत्पीड़ित औपनिवेशिक राष्ट्रों—सबसे पहले पूरबी राष्ट्रों—की मजदूर जनता की सहायता के बिना विजयी नहीं हो सकेंगे।"[1] लेनिन ने सोचा था कि साम्राज्यवाद पर 'अन्तिम विजय' तभी संभव है जब कि पश्चिम का साम्राज्यवाद-विरोधी क्रांतिकारी सर्वहारा तथा पूरब की उत्पीड़ित जनता एक साथ मिल-जुलकर काम करे क्योंकि "अकेला अग्रदल ही कम्युनिज्म की उपलब्धि तक नहीं पहुँच सकता है।"[2] कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस ने लेनिन की थीसिस को प्रस्ताव बनाते समय इस तथ्य को जोड़ा था। रॉय द्वारा तैयार की गई 'पूरक थीसिस' लेनिन द्वारा सुधार करने पर एक महत्त्वपूर्ण विधि की तरह हो गई थी, जिसमें कहा गया था : "यदि विश्व-क्रांति की अंतिम सफलता को गारंटी करना है तो इन दो ताकतों का समन्वय अनिवार्यतः होना चाहिए," ये ताकतें हैं—अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा तथा उत्पीड़ित देशों के मुक्ति आंदोलन।[3]

इस प्रस्ताव से पूर्ण सहमति के साथ ई सी सी आई का 'समस्त सदस्यों और संभावित पार्टी सदस्यों' को लिखा पत्र इस ओर भी संकेत करता है कि "एशिया में क्रांति के बिना विश्व की सर्वहारा क्रांति विजयी नहीं हो सकती है।"[4] दूसरे शब्दों मे, खंडित संभावनाओं को पूर्ण नहीं कहा जा सकता, पूरब में साम्राज्य पर विजय के बिना साम्राज्यवाद पर 'अंतिम' विजय नहीं हो सकती। सर्वत्र एक ही बात है।

कामिटर्न की तीसरी कांग्रेस ने इसी विचार की उद्‌घोषणा की। विश्व-स्थिति के संबंध में इसकी थीसिस में तथा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के कार्यों के विषय में इसमें कहा गया था : "भारत में लोकप्रिय क्रांतिकारी आंदोलन तथा अन्य उपनिवेशों के आंदोलन विश्व-क्रांति के अपरिहार्य अंग बन चुके हैं, जिससे पुराने एवं नए विश्व के पूँजीवादी देशों में सर्वहारा का अभ्युदय सभव हो सके।"[5] इस प्रकार उसमें किसी ऐसी 'नई लाइन' का उल्लेख नहीं है जो एशिया में क्रांति की प्राथमिकताओं पर बल देती हो और न ही पूरब के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के समर्थन

1. वी० आई० लेनिन, 'पूरब की जनता के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस का सम्बोधन, 22 नवंबर, 1919', संकलित रचनाएँ, प्रति 30, पृ० 161-162
2. वही
3. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, पृ० 497
4. वी० आई० लेनिन और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, पृ० 265
5. वही, पृ० 306

की नीति से इंकार किया गया है।

इसलिए पूंजीवादी-प्रजातांत्रिक और साम्राज्यवाद-विरोधी स्वरूप वाले राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन के समर्थन तथा उनके साथ समझौते की नीति को बोल्शेविकों ने अक्तूबर क्रांति से पहले, क्रांति के समय तथा बाद तक प्रोत्साहित किया। बोल्शेविकों या कामिटर्न ने उक्त नीति के क्रियान्वयन मे किसी तरह का प्रमाद या ढिलाई नही बरती। अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनो को समर्थन की नीति दूसरी कांग्रेस के समय 'उद्भूत' नहीं हुई, और इसीलिए इसे 'नयी व्यूह-रचना' नहीं कहा जा सकता। बोल्शेविकों की रणनीति के समूचे विधान मे यही सबसे पुरानी और अपरिवर्तनीय निरापद नीति थी।

यह नीति अपरिवर्तनकारी रही, इसके बावजूद पूंजीवादी विद्वानों को यह अनुकूल नहीं लगती क्योंकि पूरब में मुक्ति आदोलन के संदर्भ में सोवियत और कामिटर्न की नीतियाँ उनके स्वार्थ पर प्रहार करती हैं। इन लेखकों ने यह घोषित कर दिया था कि 1920 के बीच और यहाँ तक कि अंत तक, कामिटर्न और बोल्शेविको ने इस प्रकार के आदोलनों का समर्थन नही किया था। अतः इन पूंजीवादी लेखकों के सामने यह प्रश्न स्वाभाविक था कि फिर 1917 से 1920 तक बोल्शेविकों और कामिटर्न की इन आदोलनो या पूरब के संदर्भ मे कौन-सी नीति रही थी। इस प्रश्न के उत्तर के सदर्भ मे उक्त लेखकों मे स्पष्ट मतभेद है। हरीश कपूर, जफ़र इमाम और भारत के सोवियत इतिहासविद् डॉ० नाइक का विश्वास है कि 1920 से पहले बोल्शेविकों ने पूरब में व्यावहारिक रूप से कोई रुचि प्रदर्शित नही की थी क्योंकि तब तक उनके यहाँ पश्चिम ही पश्चिम था। पूरब के प्रति उनकी नीति अकर्मण्यता की थी। एलेक्जेण्डर बेनिगसन और चताल क्विल-क्विजे ने इस प्रकरण के बारे मे लिखा है: "युद्धकालीन साम्यवाद की अवधि मे बोल्शेविक पार्टी के नेताओं को पश्चिम में क्रांति की विजय होने का अगाध विश्वास था। इसीलिए पूरब मे क्रांति के भविष्य को नही देखा गया।"[1] हरीश कपूर की राय में 1920 के ठीक मध्य से बोल्शेविकों ने "एशिया के प्रति केवल सैद्धांतिक रुचि लेना आरभ किया तथा एशिया की जनता के नाम उनके भीतरी एवं बाहरी उत्पीड़कों के प्रति विद्रोह कर देने की अपीलें प्रसारित कीं।"[2] डॉ० नाइक ने तो यहाँ तक खोज कर ली कि मई 1918 और नवंबर 1918 के बीच (परमात्मा ही जानता है कि इन्होने यही समय क्यो चुना) लेनिन ने अंतर्राष्ट्रीय

1. ए० बेनिगसन और सी० क्विलक्विजे, Les mouvements nationaux chez les, musulmans de Russie, Le "Sultangalie visme" au Tatarstan, Mouton & Co., Paris, 1960, पृ० 126
2. एच० कपूर, पूर्ववणित, पृ० 11

मामलों पर आठ बार रपट एवं भाषण दिए लेकिन भारत का कभी उल्लेख नहीं किया और न ही राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों से संबंधित कुछ कहा। इस लेखक की राय में दूसरे देशों के मजदूर-वर्ग के संगठनों को कामिंटर्न में भाग लेने के लिए भेजे जाने वालों में भी निमंत्रणों में भी भारत का कोई उल्लेख नहीं है और न ही मार्च 1919 में *आयोजित कामिंटर्न की पहली कांग्रेस में राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक* प्रश्न को उठाया गया है।"[1]

उक्त लेखकों से अलग बोर्सनर का विश्वास है कि पश्चिम में क्रांति के उभार की अवधि में कामिंटर्न और रूसी कम्युनिस्ट पूरब के प्रति निश्चेष्ट या उदासीन नहीं थे। वे दूसरे रूप में सक्रिय थे। उसकी राय में, वे उस समय एशिया में बहुत उत्साहवर्धक नीति पर चल रहे थे। दरअसल, वे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के बजाय 'अति वाम-विद्रोहियों' की सहायता कर रहे थे, जिससे जल्दी-से-जल्दी '*समाजवादी क्रांति*' को रूपायित किया जा सके। वह लिखता है: "पूरबी देशों में अति-वाम-विद्रोहियों का समर्थन करने की पुरानी कम्युनिस्ट नीति 1920 के मध्य में धीरे-धीरे पूँजीवादी राष्ट्रीय आंदोलनों की सहायता करने की 'नयी रणनीति' का स्वरूप ग्रहण कर रही थी…"[2]

इस बात से कोई असहमत नहीं हो सकता कि कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के पहले भी पूरब में बोल्शेविक पूरी तरह सक्रिय थे। लेकिन उन्होंने बोर्सनर द्वारा वर्णित रास्ते को अख्तियार नहीं किया। उन दिनों में उन्होंने उत्पीड़ित जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की, सहायता की जाँची-परखी नीति को जारी रखा था। दरअसल, अति-क्रांतिकारी प्रयत्न भी उस समय जारी थे, लेनिन और कामिंटर्न की प्रेरणा से नहीं। इनके लिए पूरबी देशों के वे अग्रगामी कम्युनिस्ट जिम्मेदार थे, जो 'वामपंथ' के बचकाने मर्ज से ग्रस्त थे। उपर्युक्त तमाम लेखकों ने, जिनमें बोर्सनर भी सम्मिलित हैं, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की पूर्णतः *उपेक्षा की है तथा लेनिन* द्वारा पूरब में वाम-संकीर्णतावादी रणनीति का दृढ़ता से विरोध किए जाने वाले तथ्य की भी इन लेखकों ने अनदेखी की है। इसको ध्यान में रखे बिना कामिंटर्न और एशिया के कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास को समझ पाना असंभव है।

बोर्सनर ने अपनी तर्क-पद्धति को न्यायसंगत बनाने के लिए 1920-1921 में उत्तरी ईरान में तथाकथित 'गिलान क्रांति' को अपना आधार बनाया है। उसके विचार में इस क्रांति से संबंधित घटनाएँ बोल्शेविक नीति का ही अंग थीं जिनमें '*अति-वाम-विद्रोहियों*'[3] का समर्थन किया गया था। लेकिन 'गिलान क्रांति' इस

---

1. जे० ए० नाइक, पूर्वोद्धृत, पृ० 97
2. जिर्मिवियो बोर्सनर, पूर्वोद्धृत, पृ० 97
3. *वही, पृ० 68-69*

प्रकार का समरूप विद्रोह नहीं थी। यह किसानों, शहरों के गरीबों, व्यापारियों तथा उदार भूमिपतियों का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन था। इस क्रांति को पराजय का मुंह देखना पड़ा था क्योंकि ईरान की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति में वाम तत्त्वों का अधिकार हो गया था और वे गिलन आंदोलन को अवास्तविकता के साथ समाजवादी परिवर्तन की ओर धकेल रहे थे, जबकि परिस्थितियाँ उनके अनुकूल नहीं थीं और 'वाम' मूर्खताओं के विरोध में लेनिन की स्पष्ट चेतावनी थी।[1]

इसके साथ ही इस तर्क का भी कोई आधार नहीं है कि कॉमिटर्न की दूसरी कांग्रेस के ठीक पूर्व तक पूरबी देशों में बोल्शेविक निष्क्रिय एवं उदासीन थे। वस्तुतः, उन दिनों में भी बोल्शेविकों की पूरबी-नीति न केवल राजनैतिक, कूट-नीतिक तथा पूरबी राष्ट्रों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के सक्रिय समर्थन से जुड़ी हुई थी बल्कि उस समय रूस में रहने वाले चीनी, कोरियाई, तुर्की, ईरानी, भारतीय और दूसरे विदेशी मजदूरों में कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रचार करना भी उसका एक अंग थी। जैसाकि पहले दिखाया जा चुका है कि रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति तथा अन्य पार्टी संगठनों ने विशेष राजनैतिक एजेन्सियों की व्यवस्था की थी, जिसमें पूरबी राष्ट्रीयता वाले लोगों में कम्युनिस्ट प्रचार एवं आंदोलन को बढ़ावा दिया जा सके। सोवियत कम्युनिस्टों ने पूरबी देशों के राज-नैतिक दृष्टि से विकसित तत्त्वों की उनके अपने राष्ट्रीय कम्युनिस्ट समूहों के निर्माण में सहायता की। इस तरह के काम को किसी भी रूप में 'उदासीनता' नहीं कहा जा सकता तथा न ही यह माना जा सकता है कि उन्होंने पूरब की अनदेखी की थी परन्तु इसमें 'अति-वाम-विद्रोहियों' की सहायता की कोई नीति शामिल नहीं थी।

पूरब में कम्युनिस्ट आंदोलन के उदय एवं विकास ने एशिया महाद्वीप में उत्पीड़ित जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के अभूतपूर्व उभार के समय अपना स्थान बनाया। साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन जन-आंदोलन का स्वरूप ग्रहण कर रहा था और उपनिवेशवाद के विरुद्ध किसानों के उभार और मजदूरों की लड़ाकू हड़तालों के माध्यम से इन्हें संघर्ष की मुख्यधारा में ला रहा था। यह दो आंदोलनों के संपर्क का प्रस्थान बिंदु था—कम्युनिस्ट और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन—जोकि पूरबी देशों में इनके संबंधों और अंतःक्रिया की समस्या के साथ प्रस्तुत हुआ। इससे पूर्व ऐसा नहीं हुआ था और यह कोई आसान समस्या नहीं थी। भारत और एशिया

1. विस्तृत विवरण के लिए देखें : एम० एल० आरयेव और वी० एन० प्लस्तुन, '1920-1921 में ईरान की कम्युनिस्ट पार्टी की रणनीति और कार्यक्रम की पृष्ठभूमि', नरोदी अजी ई अफ्रीकी, नं० 3, 1976

के कुछ दूसरे देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन लम्बे समय से उभार पर थे तथा पूर्वी समाज के सभी वर्गों की उपनिवेश-विरोधी आकांक्षाओं से पूरी तरह सम्बद्ध थे। इसने उस समय एक बड़ी एवं संगठित ताकत निर्मित की। दूसरी ओर, कम्युनिस्ट आंदोलन अपनी आरम्भिक अवस्था में था तथा बड़ी मुश्किलों से गुजर रहा था। इसे श्रमिक आंदोलन का मजबूत एवं पर्याप्त आधार अभी प्राप्त नहीं हो सका था। इसे अपने नेतृत्व के वाम-संकीर्णतावादी दर्शन ने भी कमजोर किया तथा औपनिवेशिक सत्ता ने इसे बड़ी निर्ममता से कुचल दिया था। दोनों आंदोलनों के बीच संबंध तथा अंत:क्रिया की समस्या पूरब के आरम्भिक कम्युनिस्टों के वामपंथ के बचकाने मर्ज से और अधिक त्रासद हो गयी थी।

एशिया में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास तथा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के साथ इसके सम्बन्ध तथा कार्य करने की समस्या को पहली बार लेनिन ने 'पूरब की जनता के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस' को सम्बोधित करते हुए प्रतिपादित किया (22 नवम्बर, 1919)। लेनिन ने इस समस्या के समाधान की अस्थायी रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए पूरबी कम्युनिस्टों की पराधीन राष्ट्रों के राष्ट्रवादियों के साथ सहकार का विचार दिया तथा वाम-संकीर्णतावादी भटकावों को दूर करने के लिए सावधान किया। पिछड़े हुए पूरबी देशों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कम्युनिस्ट विचारधारा तथा संगठन की संभावनाओं को व्यक्त किया तथा एशिया के समस्त क्रांतिकारी मुक्ति आंदोलनों का अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा तथा सोवियत गणतंत्र के साथ साम्राज्यवाद-विरोधी समझौते की स्थापना के लिए कड़ी मेहनत करने पर बल दिया।

1919 के अंत तक यह स्पष्ट हो चुका था कि 'पुराने' राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्न अब नवीन स्वरूप में उपस्थित होने लग गए हैं क्योंकि एशिया के देशों में कम्युनिस्ट आंदोलन का अभ्युदय होने लगा है। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि इसे अगली कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के सामने रखा जाय, जोकि कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस थी।

पहली कांग्रेस (मार्च 1919) में इस विषय पर बहस न होने का कारण यही था कि यह समस्या अभी इतनी उभरकर सामने नहीं आयी थी। इस समय तक पूरब में कम्युनिस्ट तत्वों की पहचान संभव नहीं थी इसलिए कम्युनिस्ट और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के सम्बन्ध की समस्या पैदा होने का प्रश्न ही नहीं था। वस्तुत: पहली कांग्रेस केवल प्रचारवादी स्वरूप की थी, जैसाकि लेनिन ने बताया था कि यह विश्व-सर्वहारा में बुनियादी विचारों को फैला रही थी तथा केवल संघर्ष का आह्वान कर रही थी।[1]

---

1. वी॰ आई॰ लेनिन, 'अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति तथा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का बुनियादी कार्यभार, जुलाई 19,' संकलित रचनाएं, खंड 31, पृ॰ 234

राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों के प्रति भी उसने यही रुख अख्तियार किया। दूसरी कांग्रेस का बुनियादी मिशन पश्चिम और पूरब दोनों में विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन की रणनीति एवं व्यूह-रचना के लिए सैद्धांतिक निर्देशावली तैयार करना था।

संयोग से, हमारे विरोधियों के तर्कों में केवल एक बात सही है। वह बात है कि कामिंटर्न की कार्य-सरणि में पूरबी प्रश्न पर दूसरी कांग्रेस में ही व्यापक रूप से बहस की गयी। लेकिन इस बहस का कारण यूरोप के सर्वहारा की शीघ्र विजय के प्रति निराश हो जाना नहीं था अथवा पश्चिम की 'एकता' से हटकर बोल्शेविकों का सुलगते हुए पूरब की ओर पलट जाना भी नहीं था। इसके पीछे दूसरे कारण थे। यह इस कारण जरूरी था कि पूरब के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के समर्थन की बोल्शेविकों की 'पुरानी' नीति थी, जिसे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने स्वीकार कर लिया था तथा वह समस्त कम्युनिस्ट पार्टियों की नीति बन चुकी थी। दूसरा कारण यह था कि एशिया के देशों में कम्युनिस्ट और पूँजीपति वर्ग के प्रजातांत्रिक आंदोलनों के संबंध के नए प्रश्न पर उचित ढंग से विचार करना जरूरी हो गया था तथा औपनिवेशिक पूरब की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में इस प्रश्न को तय करना था, जिससे कि वाम-संकीर्णतावादी सिद्धांतों का विरोध किया जा सके। अन्तिम कारण यह था कि विश्व-क्रांति की पूरी समस्या की दृष्टि से भी इस प्रश्न पर बहस होना आवश्यक था, जिसकी व्यूह-रचना एवं रणनीति कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस द्वारा तैयार की गयी थी।

जब कम्युनिस्टों से राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का समर्थन तथा राष्ट्रीय पूँजीवादी पार्टियों से सहकार करने का आग्रह किया जा रहा था तब लेनिन एवं कामिंटर्न ने उनसे यह भी कहा था कि प्रजातांत्रिक आंदोलन के साथ वे अपनी विचारधारात्मक एवं संगठनात्मक स्वायत्तता को सुरक्षित रखें। उनसे यह भी आग्रह किया गया था उन्हें विशेष कार्यभारों पर ध्यान देना है और उन्हें लम्बे समय तक जनता के साथ रहकर उसे क्रांतिकारी आंदोलन की ओर प्रशस्त करना है। ये कार्य तभी सम्पन्न हो सकते थे जबकि संगठन का उत्साहवर्धक कार्य जारी रहे और जनता के बीच हर समय क्रांतिकारी प्रचार चलता रहे। लेनिन ने यह भी कहा था कि "क्रांति की विपरीत परिस्थिति में भी यह जारी रहना चाहिए।"[1]

रॉय के नेता रहते हुए भारतीय कम्युनिस्टों का वाम-संकीर्णतावादी विचारों

1. वी० आई० लेनिन, 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में प्रवेश की शर्त पर भाषण,' संकलित रचनाएँ, प्रति 31, पृ० 251

से पीछा छुड़ा पाना आसान काम नहीं था क्योंकि वे निम्न पूँजीपति वर्ग के राष्ट्रवाद की मानसिकता से ग्रस्त थे, राष्ट्रीय क्रांतिकारी संगठनों में उनकी भूमिका षड्यंत्रकारी थी तथा कुछ अन्य कारण थे। इस वजह से वे 'वाम' विचारों से मुक्त नहीं हो पा रहे थे, इसके साथ ही तुर्किस्तान में प्रवासी भारतीयों में रॉय के समूह ने कार्य आरम्भ कर दिया था।

'दूसरी कांग्रेस' की समाप्ति के पहले भारतीय कम्युनिस्टों ने 'भारतीय क्रांति के लिए एक सामान्य योजना एवं कार्यक्रम' तैयार कर लिया था।[1] तुर्किस्तान में भारतीय कम्युनिस्टों द्वारा किए गए कार्य की रपट तथा कुछ अन्य सामग्री को देखने पर 'सामान्य योजना' के तीन बड़े कार्यभार नज़र आते हैं : पहला, क्रांतिकारियों की अखिल भारतीय कांग्रेस का सम्मेलन तथा एक ऐसे 'अखिल भारतीय क्रांतिकारी केंद्र' की स्थापना, जो कांग्रेस को सम्पन्न कराने में सक्षम हो, दूसरा कार्यभार था भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का तुरन्त निर्माण और तीसरा कार्यभार था—क्रांतिकारी ताकतों को सैनिक एवं राजनैतिक प्रशिक्षण की तुरन्त कार्यवाही।

सितम्बर के मध्य तक भारतीय कम्युनिस्ट के मास्को में ठहरने तक इस योजना के अंतर्गत किए गए कार्य सामने आने लगे थे। ये लोग सोवियत राजधानी से चलकर, 1 अक्तूबर, 1920 को ताशकंद पहुँचे। वहाँ जाकर इन्होंने अपने कार्यों को जारी रखा।[2]

1. अखिल भारतीय आरम्भिक केंद्रीय क्रांतिकारी समिति द्वारा अक्तूबर 1920 से जनवरी 1921 के तीन महीनों में किए काम की रपट, पृ० 1
2. इज़्वेस्तिया, ताशकंद, 3 अक्तूबर, 1920। उस समय मास्को से ताशकंद पहुँचने में लगभग 15 दिन का समय लगता था। इसको देखते हुए हम अनुमान लगा सकते हैं कि रॉय का गुट सोवियत राजधानी से 15 सितम्बर को चल दिया होगा।

सोवियत गणतंत्र में प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों के बीच वैचारिक एवं राजनीतिक संघर्ष, भारतीयों के प्रथम कम्युनिस्ट गुट का गठन

रॉय और उसके गुट ने अपनी 'सामान्य योजना' में 'अखिल भारतीय क्रांतिकारी कांग्रेस' के आयोजन तथा एक राष्ट्रीय क्रांतिकारी केंद्र की स्थापना के उल्लेख से यह दिखला दिया कि वे कामिंटर्न की 'दूसरी कांग्रेस' के साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों के 'संयुक्त मोर्चे के गठन'-संबंधी निर्णय के प्रति कितने प्रतिबद्ध हैं। भारतीय समाज की विविधता को देखकर वे भारतीय कम्युनिस्टों की एकता तथा 'अपने देश की मुक्ति' की जो आकांक्षा एवं घोषणा कर रहे थे, उसके पीछे भी उनका यही उद्देश्य था। ताशकंद में प्रवासी भारतीयों की एक आमसभा में अक्तूबर 1920 में उन्होंने 'साम्यवाद' पर भाषण देते हुए कहा था : "ब्रिटिश शासन का अंत और भारतीय क्रांति, विविधता से भरे तत्वों के बीच संपन्न होनी है। हम (कम्युनिस्ट) भी ब्रिटिश शासन का खात्मा चाहते हैं। इस उद्देश्य तक पहुँचने के लिए हमें समस्त क्रांतिकारी तत्वों की सहबद्धता में काम करना चाहिए, ब्रिटिश-शासन की समाप्ति के मुद्दे पर हम सभी एकमत हैं। आइए! हम सब एकजुटता के साथ हाथ-से-हाथ मिलाते हुए आगे बढ़ें।"

तथापि, वास्तविकता यह है कि कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के निर्णयों के बाद भी रॉय ने अपने 'वाम-संकीर्णतावादी' विचारों को नहीं छोड़ा। वे राष्ट्रीय पूंजी-पति-वर्ग तथा क्रांतिकारी चरित्र वाले अनेक संगठनों और दलों के प्रति नकारात्मक रुख बनाए रहे। इसका कारण था—उनकी आरंभिक एवं अनुभव की कमी वाली सिद्धांतवादिता तथा सीधे-सीधे 'समाजवादी क्रांति' करने की लालसा। अपने इस विचार को तर्कसंगत ठहराने तथा इसका विकास करने के लिए रॉय ने जी-तोड़ मेहनत की। वे 'समाजवादी क्रांति' को केवल कम्युनिस्टों के बल पर पूरा करना चाहते थे, इसका प्रमाण उनकी वे गतिविधियाँ तथा व्यवहार है, जो उन्होंने ताशकंद में प्रवासी भारतीयों के बीच किया था। जबकि उनके वे विचार तथा कार्य कामिंटर्न

की 'दूसरी कांग्रेस' के निर्णयों से ठीक उलटे थे।

कामिंटर्न की 'दूसरी कांग्रेस' के भारतीय शिष्टमंडल द्वारा ब्रिटिश कम्युनि को 9 अगस्त, 1920 को लिखे एक पत्र में इस बात का उल्लेख किया गया था "हम कम्युनिस्टों का दृढ़ विश्वास है कि न केवल पूंजीवादी-जनवादी क्रांति व 'समाजवादी क्रांति' जैसे किसी अन्य देश में संभव है, वैसे ही भारत में भी स है।"

इसके बाद सितंबर में रॉय ने मास्को में रहते हुए 'भारत में सामाजिक क्रां नामक एक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने चारों तरफ की संभावनाओं को दिखा हुए यही सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारत सर्वहारा क्रांति के कगार प खड़ा है।

उनकी दृढ़ मान्यता थी कि भारत एक पूंजीवादी देश है क्योंकि "अंग्रेज़ साम्राज्यवाद ने यहाँ के सामंतवाद का अंत कर दिया है जिसके फलस्वरूप भार की श्रमिक जनता पूंजीपति-वर्ग के अधीन रहकर काम कर रही है।" रॉय त अपने निष्कर्षों में यहाँ तक पहुँच गए थे कि राष्ट्रीय पूंजीपति-वर्ग का शासन एव प्रभाव न केवल भारतीय नगरों एवं महानगरों तक है अपितु वह गाँवों-देहातों तक फैला हुआ है। और "पूंजीपतियों की लूट-खसोट से उत्पन्न जन-असंतोष साफ-साफ दिखाई देता है।" इस बात से बहुत प्रभावित थे। बंबई, मद्रास और कलकत्ता में सर्वहारा-वर्ग के हड़ताली संघर्षों तथा किसान-विद्रोहों के कुछ उदाहरणों से रॉय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि "भारत के पिछड़ा होने के बावजूद, पूंजीवा विकास के साथ सर्वहारा क्रांति अंतःसलिला की तरह अंतर्व्याप्त है।"

भारतीय सर्वहारा की वर्ग-चेतना तथा श्रमिक जनता की आत्मनिर्भरता के संबंध में रॉय ने जो घोषणाएँ की थीं, वे अतिशयोक्तिपूर्ण थी और उनमें साम्राज्य-वाद-विरोधी ताकतों की वास्तविकता का एकपक्षीय विवेचन ही अधिक किया गया है। रॉय ने इस वास्तविकता को भारत के क्रांतिकारी मुक्ति आंदोलन के केंद्रीकृत करने के उद्देश्य से उद्घाटित किया जिससे वे इसका नेतृत्व कर सकें और मुक्ति-आंदोलन को समाजवादी क्रांति की दिशा में मोड़ सकें। 'सामान्य योजना' के अंतर्गत उन्होंने जो उपाय बतलाये थे, वे उक्त उद्देश्य को ध्यान में रखकर सुनिश्चित किए गए थे।

भारतीय क्रांतिकारियों की अस्थायी समिति की स्थापना

'सामान्य योजना' की क्रियान्विति में पहला काम भारत के क्रांतिकारी दलों, घटकों तथा तत्त्वों के प्रतिनिधियों से बनी अखिल भारतीय क्रांतिकारी कांग्रेस का एक सम्मेलन आयोजित करना था। इसके अतिरिक्त, एक केंद्रीकृत कार्यक्रम, कार्य-योजना तथा एक 'अखिल भारतीय क्रांतिकारी दल' का गठन करना भी इसके

मुख्य कार्यों में थे और इसी के बीच से एक 'अखिल भारतीय केंद्रीय क्रांतिकारी समिति' का चुनाव कर भारतीय क्रांति की सफलता को सुनिश्चित करना भी था। रॉय और उनके गुट की सम्मति में भारतीय जन के मुक्ति-संघर्ष में इस प्रकार के कांग्रेस का बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व था।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि ये उपाय भारत में साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतें को एकजुट करने की आवश्यकता के संदर्भ में हो रहे थे तथा राष्ट्रीय एवं उपनिवेशीय प्रश्नों पर कॉमिंटर्न की द्वितीय कांग्रेस के बुनियादी निर्णयों की क्रियान्विति की दिशा में उन्मुख थे लेकिन औपनिवेशिक भारत की भीतरी वास्तविकता को जानने-समझने वाला ऐसा सोच भी नहीं सकता था क्योंकि असलियत यह थी कि भारत में मुक्ति-आंदोलन राष्ट्रीय पूँजीपति-वर्ग की 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी' के नेतृत्व में वर्षों से विकसित हो रहा था, जिसके सुविख्यात नेता महात्मा गांधी थे, जो किसी भी रूप में रॉय के कम्युनिस्ट गुट को मुक्ति-आंदोलन का नेतृत्व हस्तांतरित नहीं कर सकते थे। तो भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी को समाप्त कर, क्रांतिकारी कांग्रेस के आह्वान से, आसानी से पूँजीपति-वर्ग का नेतृत्व छीनकर क्रांति रथ के पहिए को समाजवादी परिदृश्य की ओर मोड़ सकने का रॉय का थोथा विश्वास था।

दरअसल, सही बात यह है कि रॉय के गुट ने अपने मंतव्यों की कोई गोपनीयता नहीं रखी। भारतीय कम्युनिस्टों द्वारा ब्रिटिश कम्युनिस्टों को लिखे 9 अगस्त के पत्र में, जिसका कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, भारत में क्रांतिकारी आंदोलन के विकास के लिए सहकार के प्रश्न पर जहाँ सुविचारित एवं तर्कसंगत योजनाओं का उल्लेख था वहीं कुछ अवास्तविक प्रस्ताव भी थे। इनको आधार बनाकर ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी ने कम्युनिस्ट संगठकों तथा भारतीय आंदोलनकारियों का एक प्रतिनिधिमंडल भारत भेजने की संस्तुति की; "जिससे वे भारत की जनता को राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों और निष्क्रिय प्रतिरोधियों के नेतृत्व से मुक्त कर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता के वर्ग-चेतना के मार्ग पर संगठित कर सकें।" वास्तव में, रॉय की योजना अवास्तविक और आदिम तो थी ही, वह पूर्व के औपनिवेशिक देशों में क्रांतिकारी मुक्ति-आंदोलन के संदर्भ में कम्युनिस्ट समर्थन तथा साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों के एकीकरण के प्रश्न पर कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की द्वितीय कांग्रेस के निर्णयों के खिलाफ़ भी थी।

रॉय की योजना का मतलब राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग को साम्राज्यवाद की झोली में डाल देना, मुक्ति-आंदोलन को विभाजित कर कमज़ोर करना तथा कम्युनिस्टों के आरंभिक आंदोलन को साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय क्रांतिकारी ताक़तों, बहुसंख्यक जनता के अन्य तबकों एवं स्वयं श्रमिक-वर्ग से अलग-थलग करना था। कहने का तात्पर्य है कि इसने वस्तुगत रूप से संघर्ष के मोर्चे को संकरा बनाया तथा

भारतीय जनता को पराजय के लिए अभिशप्त किया।

रॉय और उसके गुट ने उक्त योजना के अनुसरण में, जो पहला व्यावहारिक क़दम उठाया, उससे तुर्किस्तान में प्रवासी भारतीयों के बीच अपरिहार्य संघर्ष और दरार पैदा हुई।

रॉय के शुरुआत करने पर कामिंटर्न की 'द्वितीय कांग्रेस' के भारतीय शिष्टमंडल ने मास्को या ताशकंद की अपनी रेल-यात्रा में केवल कम्युनिस्टों को एक अखिल भारतीय केंद्रीय क्रांतिकारी अस्थायी समिति का गठन कर लिया। जैसा कि क्रांतिकारी समिति के कार्यों संबंधी एक प्रतिवेदन में घोषित किया गया कि "यह स्वयंसेवी समिति, कांग्रेस के सम्मेलन तथा केंद्रीय क्रांतिकारी समिति के प्रतिनिधियों के निर्वाचन तक परिस्थितियों की जटिलता पर ध्यान रखते हुए मुकाबले में रहेगी।"[1] एम० एन० रॉय को इस क्रांतिकारी समिति का चेयरमैन चुना गया था।

इसके बाद सोवियत गणतंत्र के बुखारा की जन-सरकार को लिखे 30 दिसंबर, 1920 के एक पत्र में रॉय ने स्पष्ट किया कि *"यह समिति आर एस एफ एस आर की सीमा, बुखारा, अफ़गानिस्तान तथा निकटवर्ती देशों के प्रवासी भारतीयों के बीच राजनैतिक कार्यों को संगठित कर रही है और उसे भारत में क्रांतिकारी कार्यों का भी संचालन करना चाहिए।"*

जब रॉय और उसके गुट ने इस *तथाकथित अखिल भारतीय क्रांतिकारी* समिति का गठन तथा उसके दुविधाजनक कार्य सम्पन्न किए तब उसने न केवल दूसरे देशों (जैसे—जर्मनी, यू एस, फ्रांस) में रह रहे भारतीय क्रांतिकारियों की उपेक्षा की बल्कि सोवियत तुर्किस्तान में रहने और काम करने वालों की भी कोई परवाह नहीं की। अब्दुर रब बर्क़ के नेतृत्व में 'भारतीय क्रांतिकारी परिषद्' (संघ) 1 जुलाई, 1920 से ताशकंद में कार्यरत थी। संयोग से, या आधे मन से, जो भी हो, जब एम० एन० रॉय और ए० मुखर्जी ने 'बर्लिन समूह' के साथ अपना संपर्क और सहकार कायम करने का प्रयास किया, तब भी क्रांतिकारी समिति की स्थापना

---

1. दुर्भाग्यवश, अखिल भारतीय अस्थायी केंद्रीय क्रांतिकारी समिति के गठन का निर्णय कब और कैसे हुआ? हम नहीं जानते। केवल एक ही बात स्पष्ट है कि यह गठन अगस्त 1920 के उत्तरार्द्ध या सितंबर में हुआ। यह सब कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में भारतीय प्रतिनिधिमंडल के ताशकंद पहुँचने से पूर्व हो चुका था, जो उक्त समिति के प्रगति-विवरण की एक पाद-टिप्पणी से पुष्ट होता है। (सी आर सी एस ए, एफ 5402, आर आई एफ 488, पृ० 1) दूसरे शब्दों में, रॉय-समूह ने क्रांतिकारी समिति का गठन ताशकंद पहुँचने से पहले ही कर लिया था।

मे परिषद को दूर रखा। जनवरी 1921 में क्रांतिकारी समिति के प्रतिवेदन में, जिसका कि पूर्वोल्लेख हो चुका है, रॉय की अलगाववादी दृष्टि की साफ झलक है जिसमे अस्थायी समिति के चुनाव को लेकर सहमति और स्वेच्छा की शर्त लगाई गई थी।

वास्तविकता यह है कि अखिल भारतीय क्रांतिकारी समिति की स्थापना के पीछे, विभिन्न राजनीतिक ताकतों को समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संयुक्त करने वाले एक केंद्रीय संगठन के रूप में काम करना नही था बल्कि एक ऐसे बिचौलिए का काम करना भर था, जो स्वयं को सर्वाधिक क्रांतिकारी समझते हुए अपनी इच्छा के सामने दूसरी ताकतों को घुटने टेकने के लिए मजबूर कर सके।

एम० एन० रॉय की संकीर्ण असहिष्णुता उस अवसर पर विशेष उजागर हुई, जब अखिल भारतीय क्रांतिकारी कांग्रेस के आयोजन के संदर्भ में प्रवासी भारतीयों की एक साधारण सभा में 'व्यवस्था-समिति' के चुनाव हुए। एम० एन० रॉय और उसके समूह के दबाव की वजह से केवल कम्युनिस्टों के रूप में पहचाने जाने वाले स्वयं एम० एन० रॉय, ए० मुखर्जी तथा एम० शफीक़ से व्यवस्था-समिति बनी। 'परिषद्' के नेताओं ने 'समिति' की इस एकपक्षीय-व्यवस्था का दो बैठकों में ज़ोरदार विरोध किया तथा इस समिति में शामिल करने के लिए अपनी परिषद् के प्रतिनिधियों की आवश्यकता पर बल दिया। संयुक्त केंद्र की दृष्टि से 'परिषद्' अपनी जगह बिलकुल सही थी, इसके बावजूद 'परिषद्' के विरोध को दो बार नामंज़ूर कर दिया गया।[1] स्वयं रॉय भी अपने संकीर्णतावादी प्रयासों को नहीं छिपा पाए। उन्होंने बुखारा पीपुल्स सोवियत रिपब्लिक की 'क्रांतिकारी समिति' को लिखे एक पत्र में घोषित किया कि "प्रवासी भारतीय समुदाय के बीच व्यक्ति-समूहों के अस्तित्व को हतोत्साहित किया जाना चाहिए।" स्वभावतः, यह

1. यह जानना कम रुचिकर न होगा कि 'क्रांतिकारी समिति' ने 'व्यवस्था-समिति' के चुनाव को अपने प्रतिवेदन में किस रूप में प्रस्तुत किया "खुले अधिवेशन में कांग्रेस को आहूत करने के विचार को मान्यता दी गई तथा 'व्यवस्था-समिति' को यह अधिकार दिया गया कि जब तक कि प्रवासी जनगण द्वारा कांग्रेस का आयोजन नहीं होता, तब तक वह कार्य करती रहे। इस समिति को इस प्रकार दो बार अनुमोदित करने के पीछे यही मुद्दा था कि 'भारतीय क्रांतिकारी परिषद्' के नेता इसके सदस्यों को हटाकर उनके स्थान पर दूसरे सदस्यों को पदस्थापित करते।" (ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 488, पृ० 2)

व्यक्ति-समूह नहीं था बल्कि विभिन्न संगठनों के अस्तित्व को रॉय द्वारा गणना से बाहर करना था।

परिणाम यह हुआ कि भारतीय क्रांतिकारी परिषद् की सारी स्वाधीनता समाप्त कर उसे एक 'अधीनस्थ' समूह के रूप में चलने को मजबूर किया। जैसा कि रॉय ने अपने पत्र में उल्लेख किया कि—"एक केंद्रीय इकाई—अखिल भारतीय केंद्रीय क्रांतिकारी समिति"—जिसका गठन 'परिषद्' की निर्दोषता तथा सहभागिता के अभाव में हुआ था।

'परिषद्' के दो नेताओं—भारतीय कम्युनिस्ट के पी० आचार्य और सोवियत-प्रांत के एम० शुलमान—ने फरवरी 1921 में यह ठीक ही कहा था कि "यह समिति केवल कॉमरेड रॉय का जेबी संगठन है—न कि सारे प्रवासी भारतीयों का।" (सी पी ए आई एम एल)।

इस तरह से रॉय और उसके गुट ने ताशकंद में आगमन से पूर्व ही 'क्रांतिकारी समिति' की स्थापना की, जिसने 'क्रांतिकारी परिषद्' से संघर्ष की आधारशिला रखी।

सच तो यह है कि रॉय-गुट के लगभग एक माह ताशकंद में ठहरने के बाद 27 अक्टूबर को भारतीय क्रांतिकारी परिषद् के अध्यक्ष अब्दुर रब बर्क़ का अखिल भारतीय अस्थायी केंद्रीय क्रांतिकारी समिति के अतिरिक्त सदस्य के रूप में 'क्रांतिकारी समिति' ने सर्वसम्मति से सहवरण कर लिया।[1] लेकिन 'परिषद्' की अपनी संगठनात्मक एवं राजनीतिक स्वाधीनता की आकांक्षा को रॉय द्वारा अस्वीकृत कर दिए जाने की वजह से कोई फलदायक परिणाम नहीं निकल सका।

नवंबर के अन्त या दिसंबर के आरंभ में क्रांतिकारी समिति ने एक बेमतलब का बहाना खोजकर अब्दुर रब बर्क़ को समिति से निष्कासित कर दिया और 18 दिसंबर को तुर्किस्तान में सोवियत-अधिकारियों को इस बात के प्रति विरोध प्रदर्शित किया कि वे भारतीय क्रांतिकारी परिषद् का सीधे-सीधे सहयोग कर रहे हैं।

इसी दस्तावेज में क्रांतिकारी समिति ने कामिंटर्न से यह भी कहा कि 'परिषद्' या अन्य भारतीय क्रांतिकारी ताकतों से किसी तरह का सम्बन्ध ताशकंद की केंद्रीय क्रांतिकारी समिति के माध्यम से रखना चाहिए।

कामिंटर्न ने इनके बीच का द्वन्द्व समाप्त करने तथा परिषद् से सहकार के लिए भारतीय कम्युनिस्टों पर दबाव भी डाला। ई सी सी आई के निर्देश पर 22 दिसंबर, 1920 को जी० आई० सफ़ारोव ने क्रांतिकारी समिति की एक 'समझौता-बैठक'

---

1. देखिये : ताशकंद में 27 अक्टूबर, 1920 को हुई 'अस्थायी क्रांतिकारी समिति' की बैठक का विवरण।

आयोजित कराई और अब्दुर रब बर्क को समिति में पुनः पूर्वस्थिति मे लिये जाने का प्रस्ताव किया लेकिन प्रस्ताव को स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। विरोधस्वरूप 22 दिसंबर, 1920 को ही पी० आचार्य ने क्रांतिकारी समिति से यह कहते हुए त्यागपत्र दे दिया कि "मेरे लिए कॉमरेड रॉय के साथ इस समिति मे लम्बे समय तक काम करना असंभव है।" 'समिति' ने त्यागपत्र को अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की लेकिन जनवरी 1921 के आरंभ मे आचार्य को निष्कासित कर दिया।

'समिति' और 'परिषद्' के इस तीव्र होते द्वन्द्व से ताशकंद के प्रवासी भारतीयो के बीच क्रांतिकारी कार्यों मे एक बड़ी दरार पैदा हुई।

कम्युनिस्टो और राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के बीच सम्बन्ध की जो समस्या प्रवासी भारतीय समुदाय के बीच उठ खड़ी हुई थी, इसका एक ही समाधान था कि कामिंटर्न की दूसरी काग्रेस द्वारा बताये गए रास्ते—भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्ति दिलाने के व्यापक एवं सर्वमान्य उद्देश्य के आधार पर साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों की एकता तथा सच्चा मित्रतापूर्ण सहकार—पर चला जाय। इस रास्ते पर चलकर कम्युनिस्ट समूह अपनी वैचारिक तथा संगठनात्मक स्वाधीनता को सुदृढ़ करते हुए प्रवासियों के बीच मुक्ति-संघर्ष की क्रांति-ज्वाला को जलाये रखने का अवसर सुनिश्चित कर सकेगा तथा भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के प्रति पूरी निष्ठा तथा प्रतिबद्धता से अपनी राजनीतिक गतिविधियों के लिए मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेगा और इसी समझ से वह देश मे क्रांति के भविष्य को निर्धारित कर पायेगा।

लेकिन रॉय के नेतृत्व वाले 'वाम' कम्युनिस्ट जल्दी मे थे। विकास के स्वाभाविक घटना-चक्र—जैसाकि कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस की निर्णयात्मकता थी—को रॉय-समूह अपने अनुकूल नहीं पाता था इसलिए उन्होंने इसकी गति को तीव्र करने का प्रयास किया। वे कष्टकारी तैयारी, संगठन, प्रचार-कर्म तथा जनता के दिल को जोतने वाले समयसाध्य और मुश्किल काम की अपेक्षा समाजवादी क्रांति को तुरत-फुरत पूरा कर देने पर अपनी पूरी ताक़त लगा रहे थे।

'क्रांतिकारी समिति' और 'भारतीय परिषद्' के बीच द्वन्द्व का मूल कारण एम० एन० रॉय का 'वाम' संकीर्णतावाद तथा उसकी एवं उसके अनुयायियों की लेनिन के 'प्रिलिमिनरी ड्राफ्ट' (प्रारंभिक प्रारूप) के सार की ग़लत समझ तथा कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे के निर्णय और उन दस्तावेजो के अनुसरण में संगठनात्मक एवं राजनैतिक प्रकार्यों सम्बन्धी सैद्धांतिक समझ एवं तदनुसार व्यवहार था। यही कारण था कि क्रांतिकारी समिति की कार्य-संरचना के भीतर 'वाम' कम्युनिस्टो और राष्ट्रीय क्रांतिकारियों मे संगठनात्मक विरोध के साथ मूलभूत, वैचारिक स्थितियो मे असंगति उत्पन्न हो गई थी। रॉय और उसका समूह भारत मे क्रांति के स्वरूप के मूल्यांकन तथा क्रांति-

पथ के निर्माण में विफल हुआ। उन्होंने 'परिषद्' के साथ सामान्य आधार की स्थापना के प्रति नकारात्मक रवैया अपनाया। उनकी आत्मगतता तथा स्वेच्छा ने भारत की वस्तुगत परिस्थितियों को समझने में बाधा खड़ी की।

नवंबर 1920 में भारतीय कम्युनिस्टों ने अस्थायी क्रांतिकारी समिति के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया तथा 1 दिसंबर को इसे प्रकाशित किया।[1]

यह आशा करना स्वाभाविक था कि इस दस्तावेज में राष्ट्रीय क्रांतिकारी ताक़तों के साथ एकता के बिन्दुओं पर विचार हो क्योंकि क्रांतिकारी समिति के मूल उद्देश्यों में एक था—'एकता को सुदृढ़ आधार पर निर्मित करना'। लेकिन थोड़ा सा दुराव बनाये रखते हुए रॉय के सीधे समाजवादी क्रांति के ध्येय को इस कार्यक्रम में प्रचारित किया गया। इस 'कार्यक्रम' का निराधार तर्क एवं मुख्य स्वर यही था कि भारत में देशभक्त राष्ट्रीय आंदोलन के विचारों का समर्थन करने के लिए कोई आधार नहीं है तथा भारत की श्रमिक जनता समाजवादी स्वरूप की क्रांति से परे कुछ भी सुनने-समझने को तैयार नहीं है।

जब भारत में देशभक्त राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन चल रहा था, तब दस्तावेज में कहा जा रहा था कि "मातृभूमि की पवित्रता के भावनात्मक प्रचार से उपेक्षित और उत्पीड़ित जनता में देशभक्ति की आग नहीं जगाई जा सकती। पिछले 50 वर्षों में राष्ट्रीय आंदोलन शिक्षित मध्यवर्ग के भीतर सिकुड़ा-सिमटा रहा। अतः अखिल भारतीय अस्थायी क्रांतिकारी समिति का प्रस्ताव है कि आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता की माँग के समर्थन में पहले शहरी सर्वहारा को और तत्पश्चात् ग़रीब किसान जनता को संगठित किया जाय।" जनता की ताक़त 'विदेशी साम्राज्यवादी शासन का ख़ात्मा' करेगी। ड्राफ्ट में यह भी कहा गया कि यह तभी सम्भव होगा जब वह समुचित तरीके से संगठित तथा 'वास्तविक राजनीतिक निर्देशन' से संयुक्त होगी। दस्तावेज के संदर्भ से साफ़ था कि 'वास्तविक राजनीतिक निर्देशन' का मतलब है—समाजवादी क्रांति की ओर उन्मुख होना।

भारत में जब समाजवादी क्रांति और समाजवादी प्रचार को उच्च प्राथमिकता देकर उसका ढिंढोरा पीटा जा रहा था तब भी ड्राफ्ट कार्यक्रम में विदेशी प्रभुत्व की समाप्ति के लिए भारत की तमाम क्रांतिकारी ताक़तों की एकता का

1. इन्क़िलाब, लाहौर, 1 दिसम्बर, 1920, पृ० 1। पत्र में उल्लेख किया गया था कि इसमें 'ड्राफ्ट प्रोग्राम के मुद्रित अंश' ही प्रकाशित किये हैं। परन्तु पुरालेख विभाग में रखी इसी दस्तावेज की अन्य प्रति का अवलोकन करने ... पता चलता है कि यह इसका समग्र पाठ था। इसमें भिन्नता है तो उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद रहा होगा (सी आर सी एस ए, एफ 5402, 1, एफ 416, पृ० 3)

आह्वान किया जा रहा था। दस्तावेज में कहा गया कि क्रांतिकारी समिति "विदेशी साम्राज्यवादी प्रभुत्व का अन्त करने के सामान्य उद्देश्य के लिए विभिन्न क्रांतिकारी तत्त्वों की एकता के क़दम उठायेगी।" लेकिन इन विचारों का क्रियान्वयन कुछ ऐसी राजनीतिक और आर्थिक माँगों को उठाकर किया गया जिससे कि एकता का भविष्य पूरी तरह ख़तरे में पड़ गया।

दस्तावेज में बताया गया कि विदेशी दासता की समाप्ति के क्रियान्वयन में क्रांतिकारी समिति को "बहुमत की इच्छा तक क्रांतिकारी अधिनायकत्व की शक्तियों को प्रयोग में लाना चाहिए क्योंकि बहुसख्यक जनता उपेक्षित एव विभाजित है। सरकार को नयी व्यवस्था के स्वरूप-ग्रहण तक यह ज़रूरी है।" क्रांतिकारी समिति के अस्थायी अधिकारियों के प्रति किसी तरह के सदेह की कोई गुंजाइश न रहे इसलिए 'कार्यक्रम' मे यह भी जोड़ा गया कि "अस्थायी समिति का अधिनायकत्ववादी शक्तियाँ क्रांतिकारी सैनिकों, श्रमिकों और किसानों के समर्थन पर अवलम्बित होंगी।" आगे यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि "बहुसख्यक जनता की वास्तविक मुक्ति केवल एक व्यवस्था के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है जो राज्य की राजनीतिक शक्ति को समाज के उत्पादक तत्त्वों—श्रमिकों[1]—के हाथों मे सौंप देगी।"

अर्थव्यवस्था के विषय मे कार्यक्रम के प्रारूप की परिकल्पना थी—गाँवों मे सामन्ती सम्बन्धों की समाप्ति तथा शहरों मे निजी सम्पत्ति से निर्मित सम्बन्धों का उन्मूलन। कार्यक्रम के अनुच्छेद 'ए' की घोषणा थी—"जागीरदारों, ज़मींदारों, सरदारों तथा तालुकेदारों के विराट वैभव एव जागीर तथा अन्य सामन्तों एव कुलकों की सम्पदा को ज़ब्त कर लिया जाए। बेदखली से प्राप्त ज़मीन का राष्ट्रीयकरण और जोतने वालों मे उसे बाँट दिया जाए।"

इसके अतिरिक्त कार्यक्रम के प्रारूप मे देहातों की समाजवादी कायापलट के लिए ज़ोरदार तैयारियों के सुझाव थे। इसके अनुच्छेद 'बी' में "किसानों मे सामुदायिक खेती के लाभों को प्रचारित करने के लिए राज्य-कोष से बने सामुदायिक कृषि क्षेत्रों के निर्माण" का उल्लेख था। साथ ही खेती के लिए आधुनिक मशीनरी के प्रयोग की राज्य की मशा को दर्शाया गया। अनुच्छेद 'सी' के अन्तर्गत "क्रांतिकारी सरकार द्वारा निर्धारित एक निश्चित निजी सम्पत्ति से अधिक की ज़ब्ती" का निरूपण था। अनुच्छेद 'डी' मे रेलवे, जलमार्गों, खानों, तार तथा अन्य सार्वजनिक सेवाओं का राष्ट्रीयकरण कर श्रमिकों की परिषदों के नियंत्रण मे बिना लाभ[2] अर्जित किए सचालन करना निर्देशित था। अनुच्छेद 'ई' मे 'बड़े उपक्रमों

1. अभिलेखागार की प्रति मे 'श्रमिकों' के स्थान पर 'श्रमिक जनता' पाठ है।
2. अभिलेखागार की प्रति मे उल्लेख है कि ये उपक्रम अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन नहीं करेंगे।

पर श्रमिकों का नियंत्रण स्थापित करना' तथा "श्रमिकों को उत्पादन, वितरण एवं प्राथमिक जरूरतों के विनिमय आदि के अधिकार तथा दायित्व सौंपने" का उल्लेख था।

यह स्वाभाविक ही था कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी समिति के अस्थायी अधिनायकत्व की उद्घोषणा, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की समाप्ति तथा अन्त में सर्वहारा की राजशक्ति की स्थापना-जैसे कार्यक्रमों के कारण भारत की विभिन्न *साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों के संयुक्त मोर्चे का गठन नहीं हो सका।* एम०एन० रॉय तथा उसकी टोली ने इस तथ्य को अनदेखा किया और इस बात में विश्वास बनाए रखा कि उनके कार्यक्रम में "भारत में वर्तमान समाज के लिए, सामाजिक *क्रांति की न्यूनतम मांगों तथा पूंजीपति वर्ग के सुधारवाद की जरूरत का उल्लेख*" आज की आवश्यकता को प्रदर्शित करता है।

जबकि भारतीय क्रांतिकारी परिषद् ने रॉय के सिद्धान्तों का विरोध किया। 'परिषद्' के नेता अब्दुर रब बर्क के विचार से भारत के निकट भविष्य में केवल *राजनीतिक क्रांति संपन्न हो सकती थी, यह राष्ट्रीय मुक्ति की ही क्रांति हो सकती* थी और इसके बाद ही तथा निश्चित परिस्थितियों में समाजवादी क्रांति की तैयारियों की शुरुआत संभव थी।

अब्दुर रब बर्क[1] ने 29 जुलाई, 1921 के अपने एक संदेश में जियोर्जी चिचेरिन को लिखा "जो लोग भारत की मानव-जातीय परिस्थितियों से परिचित हैं, उन्हें यह साफ-साफ मालूम होना चाहिए कि वहाँ निकट भविष्य में साम्यवादी क्रांति सम्पन्न होना असम्भव है। इतना ही नहीं, भारत में कम्युनिस्ट-प्रचार भी अभी एक समस्या है, जैसाकि ब्रिटिश सरकार देश में कम्युनिस्टों के विरोध में ऊट-पटांग प्रचार करती रहती है।" उनका तर्क था कि कम्युनिस्ट भारतीय सर्वहारा से संपर्क तथा उसके दिलों को तभी जीत सकते हैं 'जबकि विदेशी प्रभुत्व का खात्मा हो' और तभी समाजवादी क्रांति संभव है जबकि स्थानीय सरकार बहुसंख्यक जनता की *स्थिति को सुधार पाने में असमर्थ सिद्ध हो। (स्थायी सरकार ब्रिटिशों की समाप्ति* से ही संभव होगी---एम० पी०)

बर्क का यह विश्वास था कि यदि भारत की जनता में *कम्युनिज्म का प्रचार* जैसे-तैसे संभव है तो भी बहुसंख्यक जनता और वर्ग इसे स्वीकार नहीं कर पायेंगे। उन्होंने तर्कसंगतता के साथ इसे सिद्ध करने का प्रयास किया। पहली बात तो यही है कि 'कम्युनिस्ट आदर्शों के न्याय' के लिए भारत की तत्कालीन जनता को किसी भी तरह राजी नहीं किया जा सकता और यह तब और भी असंभव हो जाता है

---

1. अब्दुर रब बर्क जनवरी 1921 के उत्तरार्द्ध में ताशकंद से मास्को आ गए थे तथा फिर कभी ताशकंद वापस नहीं गए।

भारत का सर्वहारा घोर अज्ञान और घने अंधविश्वासों से जकड़ा हुआ दिखाई
। वे (भारत की जनता) ऐसे किसी व्यक्ति का अनुगमन करने के लिए तैयार
गे जो धर्म सामंती मूल्यों वाली नैतिकता तथा जाति का विरोध करता हो
भौतिक उन्नति के कार्यक्रमों पर जोर देता हो एव 'ब्राह्मण' तथा 'शूद्र' की
ता के उपदेश देता हो। दूसरी बात यह है कि विशुद्ध साम्यवादी प्रचार से
के देशी प्रशासक, बड़े भू-स्वामी, देशी पूंजीपति, निम्न मध्य वर्ग तथा अन्य
अंग्रेजों के हाथों में चले जायेंगे। इसलिए बर्क के विचार से भारत की
लीन परिस्थितियों में राष्ट्रवादी प्रचार ही परिणामकारी सिद्ध हो सकता

जैसाकि हम देखते हैं कि इस समझ के बावजूद बर्क को न तो कम्युनिज्म का
क माना गया और न ही एक ऐसे मनुष्य के रूप में स्वीकृति मिली जोकि
वाद-लेनिनवाद का अच्छा ज्ञान और समझ रखता है। उन्होंने स्वयं ने भी
कुछ होने और दिखने का आडम्बर नहीं किया।

इसी पत्र मे बर्क ने 'समाजवादी प्रवृत्तियों के उभार' की बात 'परिषद्' की
से जोर देकर कही। इसमे भी समय लगने की बात कही। तब भी उनके
यों मे कई ऐसे सार्थक बिंदु थे जो भारत की वास्तविकता को प्रतिबिम्बित
थे, जिन्हें कम्युनिस्टों को समझना चाहिए था।

कहना न होगा कि जहाँ रॉय ने भारत मे समाजवादी क्रांति की वकालत की
बर्क ने केवल 'राष्ट्रवादी क्रांति' पर बल दिया।

रॉय की दृढ़ मान्यता थी कि भारत मे श्रमिक आंदोलन की वर्ग-चेतना का
बहुत ऊँचा है, इस कारण वहाँ 'सर्वहारा क्रांति' की अन्तर्धारा प्रवाहित है।
० एन० रॉय के उक्त विचारों का समर्थन करते हुए ए० मुखर्जी ने जी०
रोव को अपने एक पत्र (27 अप्रेल, 1921) मे लिखा यद्यपि "'भारत के
दूरों और किसानों की चेतना पर धर्म का विशेष प्रभाव है' तथापि उन्हें
युनिस्टों के पक्ष में लाने के लिए 'धार्मिक भेदभावों को उजागर किया जा सकता
' इसके विपरीत तर्कसगत तरीके से अन्दर रख बर्क ने कहा कि सभी भारतीय
हारा संख्या मे कम है और किसान वर्ग से वह खुद को अलग भी नहीं कर पाया
था वह 'जातियों और सम्प्रदायों के रूप मे विभाजित है।' यही कारण है कि
भी तक वहाँ केवल जाति-चेतना है, वर्ग-चेतना नहीं'।"

रॉय बार-बार यही प्रमाणित कर रहे थे कि भारत में देशभक्त राष्ट्रवादी
ार की अपेक्षा समाजवादी क्रांति ही जरूरी और संभव है। उन्होंने अक्तूबर या
बर 1920 में ई सी सी आई को एक पत्र मे लिखा कि "भारतीय मुक्ति
दोलन अपनी आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों मे एशिया के

देशों की तुलना में यूरोप के देशों के अधिक समीप है। भारत के लोगों को केवल आर्थिक आधार पर एकजुट किया जा सकता है। वहाँ विशुद्ध राष्ट्रवादी प्रचार को सफलता नहीं मिलेगी।" इस विचार को अब्दुर रब बर्क ने चुनौती देते हुए अपना विचार दिया कि भारत की जनता यदि किसी विचार या प्रचार को समझने में सक्षम है तो यह अंग्रेज-विरोधी विशुद्ध राष्ट्रीय विचार ही हो सकता है। यह और भी जरूरी हो जाता है जब कि भारतीय "सर्वहारा की सामाजिक क्रांति की अभिलाषा न हो। लेकिन वह पूँजीपति वर्ग द्वारा लादी गई क्रांति को स्वीकार कर लेगा।"

एम० एन० रॉय तथा एम० मुखर्जी ने राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग से सहकार की संभावनाओं से इंकार करते हुए उनके दल—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस—को भंग करने का विचार प्रस्तुत किया। मुखर्जी ने 27 अप्रेल, 1921 के दिन सफारोव को एक पत्र में लिखा कि "कांग्रेस के स्थान पर एक नई 'केंद्रीय क्रांतिकारी राष्ट्रवादी दल' की रचना करने की आवश्यकता है।" इसके विपरीत अब्दुर रब बर्क का तर्क था कि "भारत की वर्तमान परिस्थितियों में ब्रिटिश-शासन के खिलाफ अविभाजित एकताबद्ध मोर्चे की जरूरत है।" और "ऐसा कुछ नहीं किया जाना चाहिए जो दुश्मन के विरोध की मौजूदा राजनीतिक एकता को नष्ट करता हो।"[1]

एम० एन० रॉय ने व्यावहारिक तौर पर टुटपुंजिया जातीय क्रांतिकारियों से भी सहयोग विच्छेद करते हुए कहा कि वे भी कम्युनिस्ट झंडे के नीचे आ जाएं। जब कि बर्क ने 'भारतीय क्रांतिकारी परिषद्' के लिए राजनीतिक एवं संगठनात्मक स्वायत्तता तथा पूरे अधिकारों की वकालत की।

एक बिंदु ऐसा भी था जिस पर रॉय और बर्क के विचार एक जैसे थे। जैसा कि लेनिन ने रॉय के बारे में अपने विचार रखते हुए कहा था कि विश्व की समाजवादी क्रांति में भारत एवं पूर्वी देशों की भूमिका के उल्लेख में अतिशयोक्ति करने तथा अपनी जातीय अहम्मन्यता प्रदर्शन में दोनों सहयात्री थे। 9 अगस्त, 1920 के एक पत्र में रॉय ने ब्रिटिश कम्युनिस्टों को यह संकेत किया कि इंग्लैंड में (दूसरे पूँजीवादी देशों में भी) तब तक क्रांति नहीं हो सकेगी "जब तक कि वह औपनिवेशिक जनता तथा संसाधनों के अबाधित शोषण का आनंद साम्राज्यवादी पूँजीवाद की नीतियों के अन्तर्गत लूटते रहेंगे।" अब्दुर रब बर्क ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि "ऐसा वास्तव में है।" (सी पी ए आई एम एल) यह स्मरणीय है कि सोवियत गणतंत्र में आगमन के पहले कुछ महीनों और सप्ताहों में इस सम्बन्ध में उनका विचार भिन्न था—"संसार की नियति भारत पर निर्भर है।"

दरअसल, इस विशेष मुद्दे पर ही विचारों की समानता पर्याप्त नहीं मानी

---

1. अब्दुर रब बर्क द्वारा चिचेरिन को लिखे 29 जुलाई, '21 के एक पत्र से उद्धृत।

जा सकती। वास्तविकता यह है कि 'परिषद्' और 'समिति' के कार्यों में कोई एकता नजर नहीं आती। इस कारण, यूरोप के जातीय क्रांतिकारियों के समूह के साथ सहकार असंभव हो गया। तथापि उनमें से अनेक के मन में कम्युनिज्म के विचारों के प्रति सम्मान-भाव था तथा वे मार्क्सवाद को अपनाने के रास्ते पर चल रहे थे। फिर भी, हम इस पर गम्भीरता से विचार करेंगे।

भारत की जनता के विभिन्न वर्गों में सम्मानित, मजदूर वर्ग में प्रतिष्ठित, साम्राज्यवाद विरोधी जातीय पूंजीपतियों की, मुक्ति आंदोलन का नेतृत्व करने वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी से रॉय और उसकी टोली का अभी तक संपर्क नहीं बन सका। सही बात तो यह है कि कांग्रेस से संपर्क जोड़ना रॉय का उद्देश्य बिल्कुल नहीं था। दरअसल, कांग्रेस को अक्रांतिकारी सिद्ध कर कम्युनिस्टों को भारतीय जनता के मुक्ति आंदोलन का नेतृत्व सौंपने की उनकी आकांक्षा 'बहुत पहले से' थी—जैसा कि 'पूरक थीसिस' में उल्लिखित है।

जातीय मुक्ति-आंदोलन के विभिन्न नेताओं से व्यवहार करते समय एम० एन० रॉय या ए० मुखर्जी ने उनकी वैचारिक स्थितियों की इतनी खुलकर तीव्र आलोचना की तथा समाजवादी नारों का इतना हो-हल्ला मचाया कि यह स्वाभाविक था कि जातीय आंदोलनकारियों की ओर से सहकार के प्रश्न पर उन्हें कोई सकारात्मक उत्तर नहीं मिल सका।

इस सम्बन्ध में 30 दिसम्बर, 1920 का 'क्रांतिकारी समिति' की ओर से ए० मुखर्जी का भारतीय राष्ट्रीय नेता शिवप्रसाद गुप्त को लिखा पत्र एक रोचक दस्तावेज है। मुखर्जी ने अपने संदेश में लिखा "ताशकंद में भारत के कम्युनिस्ट विभिन्न दलों, संगठनों और व्यक्तियों की अखिल भारतीय क्रांतिकारी कांग्रेस बुलाने का प्रस्ताव करते हैं। ब्रिटिश शासन की समाप्ति के लिए कम्युनिस्टों और राष्ट्रवादियों का हाथ-से-हाथ मिलाकर चलना जरूरी है।" इस प्रकार सहकार चाहने वालों के साथ उनकी नीतियों का निषेध एक अतार्किक व्यूह-रचना के रूप में किया गया। उसने अपने पत्र में पत्र-प्राप्तकर्ता को यह समझाने का प्रयास किया कि—पहली बात, "भारत की वर्तमान परिस्थितियों में जातीय क्रांति असंभव है।" दूसरे, "इस तरह कि क्रांतियों से भारत के परोपजीवी या बुद्धिजीवी और पूंजीपति ही लाभान्वित होंगे।" तीसरे, "इस तरह की क्रांति के बाद भारत के श्रमिक आज की तरह ही शोषित-पीड़ित बने रहेंगे।" और चौथी बात यह है कि "इसके निर्माता—'धूर्त और उतावले'—भारतीय जनता को खूनी गृहयुद्ध में झोंक देंगे।" उन्होंने अपना पत्र यह कहते हुए समाप्त किया कि तत्कालीन भारत के लिए केवल 'मजदूरों और गरीब किसानों की क्रांति' ही उपयुक्त है, जैसीकि रूस में सम्पन्न हो चुकी थी।

आज छः दशक बाद भी पहले भारतीय कम्युनिस्टों की क्रांतिकारी अधीरता,

व्यग्रता को समझा जा सकता है। आत्मगत रूप में वे ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रभुत्व के खिलाफ़ निश्छल, ईमानदार, कट्टर सिद्धान्तनिष्ठ तथा समर्पित मेहानी थे। वे अपनी दृष्टि, मिथ्या चेतना तथा भावनाओं में बहुत सहज तथा स्पष्ट थे तथा अपनी इच्छा-चेतना के अक्सर शिकार बनते थे। वे रूस के बोलशेविकों की तरह भारतीय जनता के उत्पीड़कों को पहले प्रहार से ही पराजित कर देने की बलवती आकांक्षा सँजोए हुए थे।

इस कारण वे भारतीय वास्तविकता को भारत की आँखों से नहीं देख पाए अपितु रूस की अक्तूबर क्रांति की विजय के प्रकाश में वे भारत को भी देखने लगे, जहाँ साम्राज्यवादी हस्तक्षेपकर्त्ताओं तथा घरेलू पूंजीपतियों और ज़मींदारों को एक साथ परास्त कर विजय हासिल की गई थी। वे भारत में ऐसी क्रांति करने के लिए आश्चर्यजनक तत्परता लिये हुए थे। इसीलिए उन्होंने सामाजिक और राष्ट्रीय क्रांति के अपने समानान्तर नारे देते हुए भारत में भी समाजवाद के आगमन को सिद्ध करने का प्रयास किया। और श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना की घोषणा कर दी। उन्हें यह प्रतीत होता था जैसे रूस के बहुसंख्यक किसानों तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी जनता ने क्रांति का बिगुल बजाया वैसे ही भारत भी संभव हो जायेगा।

बहरहाल, पहले भारतीय कम्युनिस्टों के निष्कर्ष भ्रमपूर्ण एवं एकपक्षीय थे। उनके सतही होने का पता उस समय चलता है जबकि वे भारत की तुलना में उनकी परिस्थितियों के गंभीर अन्तर और दोनों देशों के अपने-अपने वैशिष्ट्य को समझने की भूल करते हैं।

उस समय रूस स्वयं अनेक राष्ट्रों को अपने अधीन रखने वाला एक साम्राज्यवादी ताक़त था जबकि भारत उत्पीड़ित औपनिवेशिक देश था। क़स्बों और गाँवों में एक औसत दर्जे का पूँजीवादी विकास, उद्योगों का केंद्रीकरण एवं एकाग्रता तथा तीन क्रांतियों की कठोर-परीक्षा से गुज़रने वाले लम्बे इतिहास का धनी—सर्वहारा, उस समय तक रूस की सम्पत्ति बन चुके थे जबकि देहातों में पूर्व-पूँजीवादी सम्बन्धों का प्रभुत्व, जाति-व्यवस्था की गहरी जड़ें तथा कुटीर उद्योगों को संचालित करने वाला देशज एवं विरल सर्वहारा तत्कालीन भारत की कमज़ोरी को प्रदर्शित करते थे।

इसके साथ ही लेनिन जैसे महान नेता, भविष्यदृष्टा तथा लोकपारखी का नेतृत्व रूस को ऐतिहासिक दृष्टि से सुपरीक्षित बोलशेविक पार्टी को मिला था तथा बहुसंख्यक जनता इसके साथ थी। भारत में बहुसंख्यक जनता महात्मा गांधी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की पार्टी—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अनुगमन कर रही थी, जब कि कम्युनिस्ट बहुत कम तथा अपने देश से बाहर थे।

इस साधारण तुलना से रॉय और उसके साथियों की रणनीति की अपरिपक्वता को समझा जा सकता है।

पहले भारतीय कम्युनिस्टों के एक छोटे समूह की ईमानदार आत्मनिष्ठ महत्त्वाकांक्षा को इस प्रकरण से समझा जा सकता है लेकिन इसे 'समझने' से लेकर अनुमोदन' करने के बीच एक लम्बा फासला है। वस्तुत: भारत में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को इन महत्त्वाकांक्षाओं ने अवरुद्ध किया, साम्राज्यवादी-विरोधी एकता में बाधा पहुँचाई, अदूरदर्शी अपीलों को विस्तार दिया तथा जनता की राजनीतिक समझ के वास्तविक स्तर की अनदेखी व उपेक्षा की।

कहने का तात्पर्य है कि इन पहले भारतीय कम्युनिस्टों द्वारा रूसी क्रांति के अनुभव को मशीनी तौर पर लागू करने, द्वंद्वात्मकता की अनदेखी तथा विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपेक्षा एवं विशिष्ट राष्ट्रीय परिवेश के अज्ञान से भारतीय क्रांति को पूरा करने का अव्यवस्थित प्रयास हुआ।

एम० एन० रॉय और ए० मुखर्जी ने 3 जनवरी 1921 को 'क्रांतिकारी समिति' की ओर से, गाँधी को संबोधित एक आधिकारिक पत्र लिखा। इसमें उन्होंने कॉमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के निर्णयों तथा मुक्ति-आंदोलन के समर्थन में कॉमिंटर्न की तत्परता से अवगत कराया गया था। इस पत्र के लेखकों ने 'तमाम समूहों और संगठनों की एकता से बने एक केंद्रीय क्रांतिकारी दल के गठन' हेतु शीघ्र 'अखिल भारतीय कांग्रेस' के सम्मेलन की घोषणा भी की थी।

लेकिन वास्तविकता यह है कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व वाली 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' साम्राज्यवाद-विरोधी बहुसंख्यक जनता की पार्टी थी। परिणामत:, क्रांतिकारी कांग्रेस को साकार करने के लिए उन्होंने गाँधी से 'अधिकतम संभव प्रतिनिधि' भेजने को कहा। रॉय और मुखर्जी उनसे इस बात पर सहमति चाहते थे कि यदि वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक दल के रूप में समाप्त न भी कर सकें तो कम-से-कम राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के नेतृत्व का परित्याग कर दें जिसका स्पष्ट मतलब गाँधी की 'अस्वीकृति' था।

लगभग एक वर्ष बाद रॉय और मुखर्जी ने एक दस्तावेज में भारतीय शासकवर्गों के संबंध में पुन: अपने विचारों का प्रकाशन किया। उन्होंने 1 दिसंबर, 1921 को सोवियत रूस में भारतीय कम्युनिस्टों के समूह की ओर से अहमदाबाद में आयोजित 36वीं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नाम एक विशेष 'घोषणा पत्र' निकाला। इसके संदेश में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं को यह समझाने का प्रयास किया गया था कि 'स्वराज' और 'स्वदेशी' (आर्थिक आत्मनिर्भरता) की माँगों के रूप में व्यक्त उनकी नीतियों, असहयोग और अवज्ञा की रणनीति, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा पुराने बुनकरों के हस्तशिल्प के उत्पादन की ओर वापसी आदि से व्यापारी और कारखाने-मालिकों को ही लाभ होगा, यद्यपि

इनका भी बड़ा महत्त्व है, तथापि यह अव्यवहार्य और नागमझी ही होगी क्योंकि इससे गाँवों और कस्बों की बहुसंख्यक श्रमिक जनता की आकांक्षाओं की उपेक्षा होगी। इसकी अभिव्यक्ति कांग्रेस को सबसे आगे और सबसे पहले करनी चाहिए जैसाकि 'घोषणा पत्र' में संकेत किया गया था कि "जनता के लिए विदेशी प्रभुत्व की समाप्ति मात्र ही पर्याप्त नहीं होगी। बहुसंख्यक जनता यह सोचं रही है कि स्वराज की घोषणा उनके लिए क्या अच्छा काम कर सकती है।"[1]

इस 'घोषणा पत्र' का उद्देश्य भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के नेताओं को इस बात के लिए उत्साहित करना था कि श्रमिक जनता और किसान अपना सामाजिक संघर्ष अलग से कर रहे हैं, उनके लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता का गौण महत्त्व है। उन्होंने यह सिद्ध किया था कि भारत में सामाजिक क्रांति का स्वरूप निर्मित हो रहा है जो पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक साधन द्वारा आगे नहीं बढ़ाई जा सकती। कांग्रेस को अधिकार-च्युत जनता के बारे में साफ-साफ बोलना चाहिए। 'घोषणा पत्र' में कहा गया कि "यदि कांग्रेस भारत में स्वरूप ग्रहण करती हुई क्रांति का नेतृत्व करेगी तो उसे मात्र प्रदर्शनों और अस्थायी उत्साह से अपना विश्वास उठाना पड़ेगा, इसे श्रमिक संघों की माँगों को अपनी माँग बनाना होगा, किसान सभाओं के कार्यक्रम को अपना कार्यक्रम मानना होगा। इसी से वह समय आएगा जब कांग्रेस के सामने किसी तरह की कोई बाधा नहीं रहेगी। फिर यह अनुपात भी समाप्त हो जाएगा कि चूँकि जनता द्वारा पर्याप्त बलिदान और त्याग नहीं किए गए हैं इसलिए स्वराज की निश्चित तिथि की घोषणा नहीं हो सकती। इतना होने पर मुक्ति आंदोलन को सपूर्ण जनता की दुर्निवार शक्ति तथा अपने भौतिक लाभ के लिए संघर्ष-चेतना का अपार बल प्राप्त होगा।"[2]

जैसाकि हम देखते हैं कि ये लेखक दो तरह के आंदोलनों के बारे में रॉय के गलत अनुमानों को आधार मानकर चले हैं। इस वजह से, वे भारत की घटनाओं को जितना मजदूरों-किसानों के आर्थिक हितों के संदर्भ में उनके सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि से देख रहे थे, उतना राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की दृष्टि से नहीं।

यही कारण है कि यह दस्तावेज़ भारत की साम्राज्यवाद-विरोधी ताक़तों को एकजुट करने वाले मोर्चे की कुंजी नहीं बन सका। इसका कारण इस दस्तावेज़ की अस्वीकार्य भाषणबाज़ी के अलावा कांग्रेस को राष्ट्रीय बूर्ज्वा पार्टी से एक ऐसे अधिकार सम्पन्न संगठन मे बदलना था जो मजदूरों-किसानों के आर्थिक आंदोलन का नेतृत्व कर सके। इन लेखकों ने सारे मसले को जिस तरीक़े से कांग्रेस-नेतृत्व

1. अहमदाबाद की 36वीं 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के लिए घोषणा-पत्र।
2. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास का दस्तावेज़, 1921, प्रति-I, पृ० 347

के सामने रखा, वह एकदम अवास्तविक था।

तथापि, घोषणा पत्र पहले की कुछ बातों से भिन्न था। इसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भंग करने की बात नहीं थी। इसके साथ ही इसमें यह बात भी सुनिश्चित थी कि यदि कांग्रेस मजदूरों-किसानों की विशेष मांगों का समर्थन करती है तो आंदोलन की सफलता की पूरी संभावना है। सामान्यतया, कांग्रेस की यह आलोचना सिद्धांतवादी थी तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की निर्णयकारी शक्ति 'कांग्रेस' के नेताओं का श्रमिक जनता की ओर ध्यान आकर्षित करने में अपने स्थान पर सही भी थी।

इस घोषणा पत्र में कांग्रेस से बिल्कुल अलग मजदूरों और किसानों के एक स्वतंत्र दल की मांग की गई थी। दूसरे शब्दों में, यद्यपि रॉय और मुखर्जी ने साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे की स्थापना की ओर किसी तरह का उत्साह नहीं दिखाया था तथापि उन्होंने कांग्रेस से सहकार की बुद्धिमत्ता की ओर पहला कदम जरूर रखा था।

ए० वी० रायकोव ने संकेत किया था कि घोषणा-पत्र में कांग्रेस की आलोचना 'कांग्रेस' के ही खिलाफ नहीं है अपितु यह उतनी ही राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के विरुद्ध है।[1]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि इससे क्रांतिकारियों को लाभ हुआ क्योंकि इन सभी ने महान श्रमिक जनता के बहुत बड़े वर्ग की अनदेखी की तथा व्यक्तिगत आतंक एवं षड्यंत्र को प्रोत्साहित किया।

जैसाकि एम० एन० पेगारोव ने सिद्ध किया कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस[2] के अहमदाबाद अधिवेशन के लिए यद्यपि यह घोषणा पत्र विलम्ब से निकला फिर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वाम समाचार-पत्र 'स्पसात' (1922) ने इसका स्वागत किया था।

रॉय ने अपने अवैज्ञानिक रास्ते और 'वाम' संकीर्णतावाद के कारण राष्ट्रीय बूर्जा वर्ग की साम्राज्यवाद-विरोधी संभावनाओं के प्रति अविश्वास व्यक्त किया; यद्यपि उनके दल में नरमी अवश्य थी, और 'आरम्भ से ही' वे मुक्ति आंदोलन के कम्युनिस्ट नेतृत्व को लक्षित कर रहे थे। इस वजह से वे आरंभिक भारतीय कम्युनिस्ट जनता से कट गए तथा भारतीय क्रांतिकारियों के समूहों को भी जनता

---

1. ए० वी० रायकोव, स्वतंत्रता-संघर्ष में भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारी संगठन। नौका पब्लिशर्स, मास्को, 1979, पृ० 198 (रूसी भाषा में)
2. देखिए: टी० एफ० देव्यात्किना, एम० एन० पेगोरोव, ए० एम० मेलिम्कोव—"भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन का उद्भव" नौका पब्लिशर्स, मास्को, 1978, पृ० 157, 175 (रूसी में)

से अलग-थलग बने रहे।

ताशकंद में रॉय की 'क्रांतिकारी समिति' तथा अब्दुर रब बर्क की 'भारतीय क्रांतिकारी परिषद्' के बीच इस मसले को लेकर तनाव बढ़ ही रहा था। इससे जाहिर है कि कम्युनिस्टों ने स्वयं को भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में घोषित करने का निश्चय किया, जोकि प्रवासी स्थिति से परिपुष्ट नहीं थे।

भारतीय कम्युनिस्टों का पहला संगठित समूह

रॉय को भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के बहुत आसानी से गठन हो जाने की गलत स्थिति पर बड़ा विश्वास था। मास्को में प्रवासी भारतीयों के आगमन में बढ़ोतरी की खबरों ने उन्हें विशेष उत्साहित किया। दिसम्बर 1920 में रॉय का कहना था कि "तीन महीने पूर्व, जब हमने मास्को में यह सुना कि हजारों प्रवासी भारतीय तुर्किस्तान आ रहे हैं तब हमें बहुत प्रसन्नता हुई···हमें आशा है कि वे सभी क्रांतिकारी कार्य में हमारे अच्छे सहायक होंगे।"[1]

रॉय का विचार था कि तुर्किस्तान में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन आसान होगा तथा वे कामिंटर्न की द्वितीय कांग्रेस के राष्ट्रीय एवं उपनिवेशीय प्रश्नों के लिए बने आयोग के समक्ष प्रमाणित कर देंगे कि अधिकांश उपनिवेशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का अस्तित्व है इसलिए 'राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की उपेक्षा करते हुए कामिंटर्न और कम्युनिस्टों का 'एकमात्र' काम है—'कम्युनिस्ट आंदोलनों की रचना एवं विकास करना।' रॉय की इस तरह की जल्दबाजी का एक बड़ा *कारण था कि कम्युनिस्ट पार्टी 'आरंभ से ही' संपूर्ण भारत के क्रांतिकारी आंदोलन को केंद्रीकृत करते हुए मुख्य एवं नेतृत्वकारी भूमिका निभाए।* उल्लेखनीय है कि रॉय को मेक्सिको में कम्युनिस्ट पार्टी के गठन का अनुभव था और वह अपनी मातृभूमि के लिए उस अनुभव का उपयोग करना चाहते थे।

लेनिन का नजरिया इस संबंध में बिल्कुल भिन्न था। वे पूर्व की वास्तविकता को दूसरे रूप में देखते थे। लेनिन की दृष्टि ऐतिहासिक घटनाचक्र पर आधारित थी न कि भावनाओं और शुभेच्छाओं पर। जब कि रॉय और 'वाम' कम्युनिस्ट भावनाओं पर चल रहे थे। लेनिन ने उपनिवेशों में स्वतंत्र कम्युनिस्ट संगठनों के निर्माण तथा विकास-प्रक्रिया को बनावटी तरीक़े से गतिशील दिखाने की प्रवृत्ति का विरोध किया। कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के पूर्णाधिवेशन में अपने प्रतिवेदन में उन्होंने पूर्व के पिछड़े देशों में उस समय सर्वहारा के राजनीतिक दलों के गठन

---

1. देखिए: 'तुर्किस्तान में भारतीय प्रवासी'—कामिंटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो *द्वारा भारतीय प्रवासी और क्रांतिकारियों की आम बैठक में रॉय का प्रतिवेदन* (ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 488, पृ० 6)

की संभावनाओं के समक्ष प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हुए कहा कि "इन पिछड़े देशों में सर्वहारा दलों का गठन कोरी कल्पना है। इन दलों का किसान आंदोलन के साथ संबंध तथा प्रभावी समर्थन दिए बिना कम्युनिस्ट नीतियों एवं रणनीति पर चलना क्या वास्तव में संभव है?"[1] लेनिन ने दिखा दिया है कि पूर्व के आरंभिक कम्युनिस्टों के लिए कम्युनिस्ट पार्टियों का गठन कितना कठिन काम था? द्वितीय कांग्रेस के आयोग की बैठक में लेनिन ने इशारा किया कि "भारतीय कम्युनिस्ट अभी तक अपने देश में कम्युनिस्ट पार्टी की रचना में सफल नहीं हुए हैं···"[2] और यदि वे इसका निर्माण करने में सफल भी हो गए तो यह एक छोटी-सी तथा सीमित अवसरों वाली अनिश्चित अवधि की पार्टी होगी।[3]

कामिंटर्न की कांग्रेस के अवसर पर लेनिन के तर्कों को असंगत प्रमाणित करने में असमर्थ होने के बावजूद व्यावहारिक तौर पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को संगठनात्मक गति देते हुए रॉय ने लेनिन का विरोध करने का प्रयत्न किया। कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण का विचार रॉय के मन में कामिंटर्न की द्वितीय कांग्रेस के पहले ही उपजा था। कांग्रेस-संपन्न होने से पूर्व उनके एक लेख में दो प्रस्तावों का उल्लेख था। पहला प्रस्ताव भारत के लिए 'एक मजबूत, अनुशासित, केंद्रीकृत तथा सही क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की उच्च प्राथमिकता' से संबंधित था और दूसरा प्रस्ताव था कि ऐसी पार्टी के गठन के लिए भारत में मजदूरों की 'विशाल एवं पर्याप्त'[4] संख्या है। राष्ट्रीय एवं उपनिवेशीय प्रश्नों पर आयोग की बैठक के समय रॉय ने सभी को यह विश्वास दिलाया था कि भारत में पहले से ही "एक मजदूर कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माणकारी तत्त्व मौजूद हैं।"[5]

जैसाकि परवर्ती घटनाओं से पता चलता है कि उस समय रॉय को लग रहा था कि भारतीयों का एक कम्युनिस्ट समूह ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिए पर्याप्त है। 25 जुलाई, 1920 के 'वोल्क्स नेशनल्स्तेड' में छपे और रॉय द्वारा हस्ताक्षरित 'भारत की क्रांतिकारी पार्टी का घोषणा-पत्र' की पादटिप्पणी में

---

1. वी० आई० लेनिन—'राष्ट्रीय और उपनिवेशीय प्रश्नों पर आयोग का प्रतिवेदन—जुलाई 1926"—संकलित रचनाएँ, प्रति 31, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1974, पृ० 241-242
2. देखिए : कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, सं०1, पृ० 2
3. इस उल्लेख का संबंध अल्फ्रेड रोजमर से संबंधित है जो कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के पूर्वी आयोग के लेनिन-रॉय वाद-विवाद में उपस्थित था।
4. दी कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, न० 12, 1920, पृ० 2170-2171
5. कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस का बुलेटिन, न० 1, पृ० 1

उल्लेख है कि संपादकीय कार्यालय में यह दस्तावेज़ 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के एक सदस्य कॉमरेड रॉय' ने प्रस्तुत किया है। इसी अंक में कमज़ोर तर्कों पर आधारित जी० तोविन्स्की का एक लेख है जिसमें कहा गया है कि "हमें भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की वर्तमान भौतिक एवं बौद्धिक ताक़त के बारे में कुछ भी मालूम नहीं है लेकिन इसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के लिए एक व्यापक एवं स्वाभाविक आधार मौजूद है।"

जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि 9 अगस्त को भारतीय प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश कम्युनिस्टों तथा पृथक से ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के सचिव को एक पत्र लिखा था। इस समय कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस को समाप्त हुए केवल दो दिन व्यतीत हुए थे। इस पत्र में ग्रेट ब्रिटेन के श्रमिकों को राष्ट्रीय सर्वहारा पार्टी के गठन पर बधाई देते हुए इस बात पर विशेष ज़ोर था कि "भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का गठन जरूरी है" और आशा है कि वे "जल्दी ही इसके निर्माण की घोषणा करेंगे।"

रॉय के दबाव के कारण भारतीय कम्युनिस्ट जल्दबाज़ी में थे। जब कि दूसरे देशों में इतनी जल्दबाज़ी नहीं की गई थी। उदाहरण के लिए चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के (23 जुलाई 1921 को उद्भूत) निर्माण से पूर्व दो-तीन वर्षों तक रूस में तथा स्वयं चीन में चीनी श्रमिकों तथा विशेष रूप से बुद्धिजीवियों के बीच कम्युनिस्ट समूहों के निर्माण के लिए जमकर काम किया गया था। इसके अलावा पार्टी कांग्रेस से पूर्व मार्च 1921 में पार्टी की तैयारियों को लेकर चीनी कम्युनिस्टों के एक सम्मेलन का आयोजन किया गया था। (जून 1920) रूस में ईरानी श्रमिकों तथा स्वयं ईरान में क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों के बीच कम-से-कम चार वर्षों तक कम्युनिस्ट आंदोलन का विकास करने के पश्चात् ईरानी कम्युनिस्ट पार्टी की पहली कांग्रेस संभव हुई थी।

सोवियत रूस में तुर्कों के 'पी ओ डब्ल्यू' में लगभग ढाई वर्षों के कम्युनिस्ट आंदोलन के बाद सितम्बर 1920 में बाकू में तुर्की कम्युनिस्ट पार्टी की पहली कांग्रेस हो सकी थी।

चीनी, ईरानी तथा तुर्की कम्युनिस्ट पार्टियों की पहली कांग्रेसों में क्रमशः बारह, अड़तालीस तथा चौहत्तर प्रतिनिधियों ने अपने-अपने देशों के कम्युनिस्ट आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हुए भाग लिया था लेकिन पहले भारतीय कम्युनिस्टों का आचरण पार्टी शुरुआत करने की दृष्टि से भिन्न था। वे कम्युनिस्ट पार्टी का गठन करने के बाद ही संगठनात्मक एवं अन्य प्रचारात्मक कार्य करना चाहते थे। जो अन्त में होना चाहिए, वह रूस में प्रवासी भारतीय कम्युनिस्टों ने आरंभ में किया, उन्होंने न तो भारत में कम्युनिस्ट समूह स्थापित किए, न ही सोवियत तुर्किस्तान के मोर्चे से भारतीयों में प्रचार किया और न ही मार्क्सवादी

से प्रतिबद्ध दूसरे देशों में रह रहे भारतीय क्रांतिकारियों से परामर्श किया।

दरअसल, तुरन्त पार्टी बनाने के प्रश्न पर भारतीय कम्युनिस्टों का समूह विभाजित था। रॉय जल्दी में थे तथा कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के पश्चात ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की घोषणा के लिए तैयार थे। रॉय ने 1 सितंबर, 1921 के ई सी सी आई को लिखे एक पत्र में घोषित किया : "मास्को में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का गठन होना अब से ठीक एक साल पहले आरम्भ हो गया था", जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि यह तिथि अगस्त 1920 हो सकती है। रॉय इस तथ्य पर सोच-विचार को विशेष उत्सुक नहीं थे कि केवल चार भारतीय कम्युनिस्ट, यदि उनकी अमरीकन पत्नी इवेलिन ट्रेन्ट-रॉय को शामिल करें तो पाँच, ही पार्टी निर्माण के लिए एकत्र हैं और वे सभी ऐसे हैं जिनमें पूरी वैचारिक एकता तथा मार्क्सवादी सिद्धांतों की समझ का एक आवश्यक स्तर भी नहीं है।

प्रतिवादी आचार्य का दृष्टिकोण यद्यपि इससे भिन्न था किन्तु अधिक विश्वसनीय था। 30 जनवरी, 1921 को ई सी सी आई को उन्होंने लिखा था कि "जब कॉमरेड रॉय ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के गठन का प्रस्ताव किया तब मैंने बहुत स्पष्ट और साफ-साफ कहा था कि 'कम्युनिस्ट पार्टी' नाम की अपेक्षा स्वयं को कम्युनिस्ट कहने वाले भिन्न-भिन्न रंगत के लोगों को संगठित करना ही ठीक रहेगा। उन्होंने यह इसलिए कहा कि फ़िलहाल, स्वस्थ एवं अनुशासित संगठन के आदर्शों—कम्युनिज्म—तक तो नहीं पहुँचा जा सकता परन्तु समान विचारों वाले लोगों को तो संगठित किया ही जा सकता है।"[2]

भारतीय समूह के दूसरे सदस्यों ने रॉय के विचार और उनके काम—कम्युनिस्ट पार्टी का 'गठन'—का समर्थन किया। उन्होंने इस काम के लिए ताशकंद को चुना जहाँ अनेक लोगों के इस संगठन में शामिल होने की आशा थी।

रॉय और उनके साथी ताशकंद में 1 अक्तूबर, 1920 को पहुँचे। इस समय तुर्किस्तान में प्रवासी भारतीय समुदाय की वास्तविक स्थिति उतनी उत्साहवर्धक नहीं थी जितनी कि मास्को में रहते हुए चित्रित की गई थी। यह बहुत जल्दी स्पष्ट हो गया कि कम्युनिस्ट पार्टी की रचना एक जटिल समस्या है और उस समय के विशेष संदर्भ में और भी जटिल है। खलीफेट आंदोलन के युवा राष्ट्रवादी क्रांतिकारी भी प्रवासी कम्युनिस्टों के बीच थे। यद्यपि इन युवा क्रांतिकारियों में श्रमिक वर्गों वाले तत्व नहीं थे फिर भी वे किसानों और शहरों के निम्न पूँजीपति वर्ग से आये थे। इनमें से अनेक ऐसे थे जो अपनी राजनीतिक गतिविधियों की

---

1. सी पी ए, आई एम एल
2. वही

शुरुआत कर रहे थे और जिनकी सीमा-रेखा देशव्यापी राष्ट्रवाद तथा पैनइस्लामवाद थी। रॉय को इनकी ताशकंद की गतिविधियों से बड़ी निराशा हुई, इस कारण उन्होंने इनकी साम्राज्यवाद-विरोधी भूमिका को भी स्वीकृति प्रदान नहीं की। जनवरी 1921 में क्रांतिकारी समिति के तीन माह के कार्यों के बारे में रॉय ने एक प्रतिवेदन में लिखा कि "ये खलीफेट तीर्थयात्री न केवल प्रारंभिक राजनीतिक चेतना में बहुत कमजोर हैं बल्कि राष्ट्रीय एवं क्रांतिकारी भावनाएँ भी इनके पास नहीं हैं। उन्होंने साफ-साफ कहा कि वे इस्लाम के लिए संघर्ष करने आये हैं, भारत की जनता के लिए नहीं।"[1]

कहना न होगा कि रॉय का यह मूल्यांकन आत्मनिष्ठ एवं एकदम अनुचित था तथा उनके सीमित दृष्टिकोण एवं राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के साथ संयुक्त मोर्चा न बना पाने की अयोग्यता को प्रदर्शित करता था। इस प्रकरण से यह भली-भाँति जाना जा सकता है कि रॉय के लिए 'अतिवाद' कितना आसान था। उनका यह 'वाम' कम्युनिज्म उनकी अपनी सिद्धांतवादिता से अभिप्रमाणित स्वेच्छाओं में अधिक परिचालित था न कि सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के वैज्ञानिक विश्लेषण में।

रॉय ने अपने प्रचार में प्रवासी भारतीयों को यह समझाना शुरू कर दिया था कि 'राष्ट्रीय क्रांति' कोई क्रांति नहीं है क्योंकि इसमें देशी पूँजीपति के शोषण से श्रमिक वर्ग मुक्त नहीं हो सकता। शोषण करने में देशी पूँजीपति का चरित्र भी वैसा ही है जैसाकि अंग्रेज-पूँजीपति का। एम० एन० रॉय ने अपने संस्मरणों में अपने प्रचार-कार्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि "मैं कम्युनिज्म के बारे में कुछ नहीं कहता था। मैं केवल यही कहता था कि भारत से केवल अंग्रेजों को भगाना ही 'क्रांति' नहीं है। इससे विदेशी पूँजीपति के स्थान पर देशी पूँजीपति का अधिकार हो जाएगा। मैंने क्रांति के 'सामाजिक महत्त्व' का विश्लेषण करते हुए बताया कि "यही सच्ची क्रांति है तथा कम्युनिस्ट क्रांति भी यही होगी।"[2]

दरअसल, इस बात से किसी को असहमति नहीं है कि 'देशी शोषक' अंग्रेजों की तुलना में अच्छे नहीं थे। लेकिन सवाल यह है कि क्या यह सम्भव था कि विदेशी शोषकों को हटाए बिना देशी शोषकों से संघर्ष कर समाजवाद के रास्ते पर चला जा सकता है? क्या श्रमिक जनता ने समझदारी का वह स्तर प्राप्त कर लिया है? उनका राजनीतिक संगठन उस सोपान तक जा पहुँचा है? उनकी वर्ग-स्थिति का विस्तार कहाँ तक है और उनकी भूमिका क्या है? ये कुछ ऐसे प्रश्न थे, जो दो भिन्न समस्याओं तथा क्रांति की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को अलग-अलग करते हैं। क्या भारत की तत्कालीन वास्तविकताओं में क्रांति की उक्त दोनों अवस्थाओं

1. ओ आर सी एस ए, एम० 5402, आर 1, एफ० 488, पृ० 1
2. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 464

को एक करने का अवसर आ गया था ? कहने का मतलब है कि क्या 1920 मे ही भारत के लिए समाजवादी क्रांति सभव थी जो बूर्ज्वा-जनवादी क्रांति की समस्याओ को पचा सके ? जैसाकि रूस मे हो चुका था या किसी समाजवादी देश मे विकसित हो रहा था ? वस्तुत. भारत में ऐसा कोई अवसर अभी नही था। इसलिए रॉय और उसके साथियों द्वारा विचारित सम्पूर्ण योजना अव्यवहार्य थी।

कम्युनिस्ट सगठन की रचना की दृष्टि से किया गया रॉय और उसके साथियों का प्रचार यद्यपि स्वाभाविक एव अपरिहार्य था तथापि तत्कालीन परिस्थितियों मे यह तथ्य 'राष्ट्रीय क्रातिकारियो' की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओ पर प्रहार करता था, उनके आदर्शों को अविश्वसनीय बनाता एवं अपमानित करता था, जिसके कारण 'कम्युनिस्ट आदर्श' उनके लिए स्वीकार्य नही थे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रॉय के प्रचार को राजनीतिक विचारो की दृष्टि से अग्रणी, थोडे से प्रवासी भारतीय ही पचा सके। अधिकांश लोग इस प्रचार से हतोत्साहित हुए। उनका हतोत्साहित होना बहुत कुछ सही भी था क्योंकि इसके पीछे कई कारण थे। उन्हे यह बताया गया था कि वस्तुतः जिस उद्देश्य के लिए वे संघर्षरत हैं, उन्होंने हथियार उठा रखे हैं, वे अज्ञातवास की यातनाएँ सहन कर रहे हैं तथा कडी मेहनत करते हुए कठिनाइयो से गुज़र रहे हैं—ये सब व्यर्थ हैं एव निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि ये भारतीय जनता के लिए अनुपयोगी हैं।

वस्तुतः ब्रिटिश-दलालो ने उन राष्ट्रीय क्रातिकारियो के बीच अपनी जगह बना ली थी, इसका परिणाम यह हुआ कि रॉय का प्रचार प्रवासी समुदाय को अरुचिकर लगने लगा। यद्यपि ब्रिटिश उपनिवेशवादियो से शत्रुतापूर्ण घृणा करने वाले लोगों के दृष्टिकोण-निर्माण मे इसकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नही थी।

रॉय के प्रचार-सूत्र उन लोगों के बहुत विरुद्ध थे जो राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के उभार से बहुत उत्साहित थे तथा अपने कामों से इसे पूर्ण सफलता की ओर ले जाने की आकांक्षा रखते थे। इसके अलावा उनकी धार्मिक आस्थाओं और बधनों की अनदेखी नही की जा सकती। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद के विचारों का पूर्णतया बहिष्कार तथा कम्युनिज्म के सिद्धांतों के विरोध का, राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की दृष्टि मे विचार एवं व्यूह-रचना के स्तर पर कोई मतलब नहीं था। यदि ऐसा होता तो वे इसे न्यायसंगत नहीं मानते।

जब भारतीय कम्युनिस्टो ने ताशकद में इतिहास, अर्थशास्त्र, श्रमिक वर्ग के आदोलन की समस्याएँ, तथा समाजवाद विषयों पर तीन सप्ताह की कक्षाएँ लगाई तो कोई विद्यार्थी उपस्थित नहीं हुआ। 'क्रांतिकारी समिति' के कार्यों के एक प्रतिवेदन में कहा गया था कि "इन कक्षाओ की आंशिक विफलता का कारण प्रवासियों की यह पूर्वनिर्मित धारणा रही कि राजनीतिक अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक विज्ञान

उनके धर्म-विरुद्ध है। इसलिए इन कक्षाओं के लिए पंजीयन नहीं हुए, केवल भाषा की कक्षाओं के लिए हुए।"[1]

लेनिन, जनता पर ऐसे किसी काम के थोपे जाने के विरुद्ध थे, जिसे पूरा करने लिए वह तैयार नहीं थी। उन्होंने इस संदर्भ में जनवरी 1923 में एक बहुत ही उल्लेखनीय टिप्पणी करते हुए कहा कि साम्यवाद को किसी देश में एकदम सीधे रास्ते से आरोपित नहीं किया जा सकता। "जब तक हमारे देहात, साम्यवाद के भौतिक आधार में कमजोर हैं, तब तक 'साम्यवाद' का आरोपण न केवल नुकसानदेह होगा वरन् साम्यवाद के लिए प्राणघातक होगा।"[2] ये विचार 1918[3] में एक दूसरे रूप में उन्होंने रूस के देहातों की तरह भारत और भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के संदर्भ में व्यक्त किए थे।

भारतीय प्रवासियों के साथ काम करने वाले कुछ सोवियत नागरिकों ने देखा है कि लेनिन के ये विचार उनके व्यावहारिक अनुभव की उपज थे। उदाहरणार्थ, एम० शुलमान ने 1 दिसम्बर, 1920 को लिखा कि "यह साफ-साफ जान लेना चाहिए कि भारत में या यहाँ भारतीय प्रवासियों में विशुद्ध कम्युनिस्ट प्रचार असंभव है।" सबसे पहले "जनता को उनके सोच-विचार, मानसिकता, आदत, परम्परा एवं धर्म के अनुरूप राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।"

ताशकंद में अंतर्राष्ट्रीय प्रचार-परिषद् के पदाधिकारी तथा 'ओजन नेशनल्स्तोइ' के मुख्य सम्पादक एस० दिमांस्तीन की भी इस बारे में यही मान्यता थी कि "पूरब की आर्थिक परिस्थितियों से मालूम होता है कि वहाँ कम्युनिस्ट नीतियों का सीधे-सीधे प्रचार-प्रसार करना कितना मुश्किल है तथा वहाँ सर्वहारा तत्त्व इतना कम है कि हमारे सिद्धांतों को पचाने के लिए वे तैयार नहीं हैं। पूरब की पुरानी रूढ़ियाँ, आदतें और सम्प्रदाय इस रास्ते की बाधाओं में वृद्धि करती हैं।"[4]

रॉय और उनके साथियों ने इस तथ्य को कभी स्वीकार नहीं किया। वे भारतीयों के सामने 'समाजवादी क्रांति' के लिए जोर डालते रहे, जबकि उनमें से अनेक 'समाजवाद' की विशिष्टताओं के बारे में जानते तक नहीं थे तथा उन्हें यह

---

1. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 488, पृ० 2
2. वी० आई० लेनिन, 'पेजेज फ्रॉम ए डायरी', संकलित रचनाएँ, प्रति 33, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1976, पृ० 465
3. देखिए, वी० आई० लेनिन "फोर्थ कान्फ्रेन्स ऑफ ट्रेड यूनियन्स एण्ड फैक्ट्री कमेटीज ऑफ मास्को, 27 जून-2 जुलाई 1918', रिपोर्ट आन द करेण्ट सिच्युएशन, 27 जून 1918, संकलित रचनाएँ, प्रति 27, प्रगति प्रकाशन, 1965
4. ओजन नेशनल्स्तोइ, अप्रैल 1922, पृ० 2

भी पता नहीं था कि समाजवाद, इस्लाम से श्रेष्ठ कैसे है ? इससे स्पष्ट है कि कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के बारे मे रॉय जैसा मास्को मे सोचते थे, वैसी सफलता इस कार्य मे उन्हें नही मिली।

ताशकंद में 17 अक्तूबर, 1920 को रॉय द्वारा आहूत भारतीय कम्युनिस्टो की एक सभा में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के गठन की घोषणा आधिकारिक रूप से कर दी गई। इसमे एम० एन० रॉय, इवेलिन ट्रेन्ट-रॉय, अवनि मुखर्जी, रोज़ा फिटिनगफ,[1] मोहम्मद अली (अहमद हसन), मोहम्मद शफीक सिद्दीकी और प्रतिवादी आचार्य सम्मिलित थे। पार्टी-सचिव के पद पर मोहम्मद शफ़ीक[2] को चुना गया। सभा द्वारा अनुमोदित एक प्रस्ताव मे उल्लेख किया गया कि पार्टी "तीसरी इंटरनेशनल के सिद्धांतो को ग्रहण करते हुए भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल एक कार्यक्रम तैयार करेगी।" आरम्भिक मसौदे पर सभाध्यक्ष के रूप मे रॉय के तथा सचिव के रूप मे आचार्य के हस्ताक्षर हुए। 15 दिसम्बर, 1920 की एक बैठक के विवरण से पता चलता है कि ताशकंद मे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने तय किया था कि पार्टी की कार्यकारिणी मे तीन व्यक्ति होंगे—भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के चेयरमैन पद पर आचार्य, शफीक़ सचिव और रॉय सदस्य रहेंगे।[3]

---

1. रोज़ा सोलोमोनोव्ना फिटिनगाफ़ (ज० 1895) 1918 से सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्या। 1919-20 मे वी० डी० बोन्च ब्रुयेविच तथा एल० ए० फोतियेवा के अधीन 'आर एस एफ एस आर' की जन-कमिसार-परिषद् के प्रशासन विभाग मे कार्य, 1 मई 1973 मे लेनिनग्राद मे के० गैवेलेव से इस लेखक के अनुरोध पर बात करते हुए फिटिनगफ ने बताया कि उसने लेनिन की डाक को छाँटते हुए "उनके सचिव फोतियेवा के सहायक के रूप में काम किया है।' कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस मे आने पर वे मास्को मे अवनि मुखर्जी से मिली और उनकी पत्नी हो गई। ए० मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'एग्रेरियन इंडिया' (मास्को 1928) पुस्तक मे योगदान के लिए फिटिनगफ के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। (देखिए, न्यू एज, 1 अक्तूबर, 1967, पृ० 8)
2. उज़्बेक गणतंत्र के पार्टी पुरालेख, एस 60, आर 1, एफ 194, पृ० 2
3. वही, शायद, बहुत बाद मे रॉय और आचार्य के बीच बढ़ते हुए आपसी मतभेदो के कारण आचार्य के स्थान पर अवनि मुखर्जी को बदल दिया होगा। यहाँ पर ए० मुखर्जी द्वारा 'पार्टी की कार्य-समिति' मे कार्यभार ग्रहण करने से सम्बन्धित रफ़ीक अहमद की रपट को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए (मुज़फ़्फ़र अहमद, द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया एण्ड इट्स फार्मेशन एब्रॉड, नेशनल बुक एजेंसी प्रा० लि०, कलकत्ता, 1962, पृ० 34

ध्यान देने की बात यह है कि नए रूप में गठित इस पार्टी में वे ही पाँच भारतीय कम्युनिस्ट थे जिन्होंने कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में भाग लिया था। मोहम्मद अली और रोज़ा फितिनगोफ ही नए व्यक्ति थे।

यह नोट करने योग्य है कि तुर्किस्तान में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के वैधानिक पंजीयन के लिए 15 दिसम्बर की एक बैठक में निर्णय लिया गया तथा तुर्किस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति को भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की वैधानिक घोषणा से सम्बन्धित पत्र, 20 दिसम्बर, 1920 को[1] पार्टी-गठन की आधिकारिक घोषणा के दो माह पश्चात भेजा गया। विलम्ब का कारण पार्टी की सख्या-वृद्धि के लिए प्रतीक्षा हो सकता है जोकि दिसम्बर 1920 के मध्य तक नही बढ़ सकी।

15 दिसम्बर की उस बैठक में तीन सदस्यों के एक गुट को तीन महीनों की परिवीक्षा पर प्रवेश दिया गया। उनके नाम हैं अब्दुर कादिर सहराइ, मोहम्मद अली-शाह काज़ी और अक़बर शाह।[2] कुछ दिनों बाद तीन और परिवीक्षार्थियों को प्रवेश दिया गया। जैसाकि ए० मुखर्जी ने अपने 30 दिसम्बर, 1920 के एक पत्र में भारतीय राष्ट्रवादी नेता शिवप्रसाद गुप्त को लिखा कि "हमने 13 सदस्यों की भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन कर लिया है।" इसके बाद ही भारतीय कम्युनिस्टों ने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के पंजीयन का निश्चय किया।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की औपचारिक सूचना उसी समय कामिंटर्न को भी प्राप्त नही हुई। अक्तूबर 1917 को भारतीय कम्युनिस्टों की पहली बैठक के विवरण की अंग्रेज़ी प्रति के पाँचवें अनुच्छेद में उल्लिखित है कि इससे सबकी सहमति है कि "पार्टी कार्यक्रम के तैयार होते ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की सूचना तीसरी इंटरनेशनल को भेजी जाएगी। लेकिन 'कार्यक्रम' उस समय तैयार होना असंभव था। 2 जनवरी, 1921 को मुखर्जी द्वारा तैयार प्रारूप पर कम्युनिस्टों की एक बैठक में बहस हुई, लेकिन एम० एन० रॉय के अड़ियल रुख के कारण इसे अस्वीकृत कर दिया गया।

उस समय कामिंटर्न ने ताशकंद में भारतीय कम्युनिस्टों को एक समूह के रूप में मान्यता प्रदान की। कामिंटर्न की तीसरी कांग्रेस में आमन्त्रित दलों और संगठनों की सूची में इनके लिए 'भारत—कम्युनिस्ट-समूह' (परामर्श मत) का उल्लेख था। (अप्रैल के उत्तरार्द्ध या मई 1921 के आरम्भ में ई सी सी आई के ब्यूरो द्वारा पृष्ठांकित-अनुमोदित।)

ये तथ्य बहुत साफ-साफ पार्टी-निर्माण की कठिनाइयों को उजागर करते हैं।

---

1. उपरोक्त गणनंद के पार्टी-पुरालेख, एस 60, भार 1, एक 194, पृ० 6
2. वही, पृ० 1

जिनके संबंध मे लेनिन पहले ही चेतावनी दे चुके थे। दुख के साथ कहना पड़ता है कि रॉय की वाम-संकीर्णतावादी रणनीति ने रास्ते की बाधाओ को दूर करने के बजाय उन्हें प्रबल बनाया।

यह कहानी बतलाती है कि लेनिन कितने सही थे और ये 'वाम' कितने गलत थे जिन्हें रॉय ने अपने संस्मरणो मे न केवल तथ्यात्मक रूप मे तोड़ा-मरोड़ा है बल्कि अपने 1910-21 मे किए गये मूल्यांकन का भी अतिक्रमण किया है।

जनवरी 1921 मे 'क्रांतिकारी समिति' के प्रतिवेदन की याद करें तो पता चलता है कि उसमें संकेत किया गया था कि प्रवासी भारतीयों में अकेली कम्युनिस्ट चेतना के अतिरिक्त दूसरी कोई 'अति आरम्भिक' राजनीतिक चेतना भी नही है। रॉय ने परिस्थितियों की वास्तविकता के विपरीत यह सब इसीलिए कहा था कि वे कम्युनिस्ट संगठन के निर्माण तथा प्रवासियों के बीच राजनीतिक शिक्षा की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का श्रेय ले सकें। लेकिन कुछ दशकों बाद रॉय ने—'कभी नहीं से विलम्ब अच्छा'—के उदाहरण से अपनी जल्दबाजी को न्यायसंगत ठहराते हुए सोलह आने झूठ का सहारा लिया, जो उन्होंने लेनिन की मान्यताओ के विपरीत अपनाया था।

आरम्भ से ही उन्होंने दावा किया कि "ताशकंद मे शिक्षित प्रवासी भारतीयों मे उनके काम के आशा के विपरीत बड़े परिणाम सामने आये हैं। ये परिणाम उनकी अभिलाषा से भी आगे हैं।" उनमें से अधिकांश ने अपनी इस्लाम के प्रति मतांध निष्ठा को कम्युनिज्म के रूप मे बदल लिया है। रॉय ने कहा कि "उनमे से कुछ लोगों ने कम्युनिस्ट पार्टी में सम्मिलित होने का प्रस्ताव किया है। कुछ दूसरों ने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की तात्कालिक आवश्यकता के बारे में पूछताछ की है।"

यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि रॉय ने कम्युनिस्ट पार्टी के तुरन्त निर्माण के लिए अत्यन्त उत्सुक लोगों को यह समझाने का प्रयास किया कि "कोई जल्दी नहीं है। भारत लौटने तक उन्हें प्रतीक्षा करनी चाहिए। कुछ प्रवासी व्यक्तियों की कम्युनिस्ट पार्टी नाम का कोई अर्थ नहीं है।" लेकिन, रॉय के ही अनुसार, वे लोग अपने विचार के प्रति बड़े दुराग्रही थे इसलिए कहीं मेरे प्रतिरोध के कारण उनके 'दिल को चोट' न लग जाए, इसलिए मुझे यह निष्कर्ष निकालना पड़ा कि "मैं कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के प्रस्ताव से सहमत हूँ।"[1] यह भी आश्चर्यकारी है कि रॉय ने अपने विपक्षियों का नामोल्लेख तक नहीं किया, जिसे कि उनकी उपस्थिति में वे बहुत आसानी से कर सकते थे।

एम० एन० रॉय का कथन इतिहासविद् बंद्योपाध्याय से मिलता-जुलता है

1. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 464-465

जो मुसलमानों की कम्युनिज्म की पात्रता के प्रश्न से यह सिद्ध करने का भरसक प्रयास कर रहे थे कि भारत पर अक्तूबर क्रांति का कोई विशेष प्रभाव नहीं है। उसका तर्क यह था कि ताशकंद मे बनी भारत की तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टी कालीफेट आंदोलन के कुछ 'मुहाजिरीनों' की देन थी। "ये मतांध मुस्लिम ताशकंद में एम० एन० रॉय से मिले थे तथा 'इण्डिया हाउस' एवं 'सैनिक स्कूल' में सम्मिलित होकर 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी' की नींव डाली थी।" इसके फलस्वरूप उन्होंने एक मुसलमान नेता के रूप में अब्दुर रब तथा एक हिंदू नेता के रूप में आचार्य को 'भारतीय क्रांतिकारी परिषद्' से लेकर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की नींव डाली। "ये दो व्यक्ति ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के वास्तविक संस्थापक थे न कि एम० एन० रॉय।"[1]

जो इस्लाम और कम्युनिज्म में बहुत दूर की वैचारिक समानता के 'सिद्धांत' को नहीं मानते, उन बहुत से बुर्ज्वा इतिहासकारों ने इन तर्कों को अंगीकार किया है। इन, इतिहासकारों ने उक्त तर्कों को केवल इसलिए ग्रहण कर लिया कि वे अपने पाठकों के इस विचार को मजबूत कर सकें कि भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन कुछ ऐसे व्यक्तियों द्वारा आरंभ किया गया, जो किसी तरह की मार्क्सवादी धारणाओं से परिचित नहीं थे। जैसे जॉन पी० हेथराक्स लिखता है: "1920 के उत्तरार्द्ध में ताशकंद मे प्रवासी भारतीयों की कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हुआ। तुर्की के विभाजन के विरोध में भारत से हिजरत में भाग लेने आए भारतीय 'मुहाजिरीनों' ने कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण किया।"[2] यही विचार डेविड एन ड्रहे के हैं: "ताशकंद के एक प्रचार-स्कूल की शिक्षाओं द्वारा कम्युनिज्म में रूपांतरित कुछ 'मुहाजिरीनों' ने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के अविलम्ब निर्माण की वकालत की।" उन्होंने आगे लिखा है "आचार्य और उसके अनुयायी तथा पुराने व्यापारी अब्दुर रब बर्क भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक प्रतीत होते हैं, एम० एन० रॉय नहीं।"[3] लेकिन जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि पी० आचार्य ने तो सी०पी०आई के गठन की जल्दबाजी तथा बिना तैयारियों के की गई घोषणा का विरोध किया था। अब्दुर रब के बारे में तो कुछ कहा भी नहीं जा सकता, क्योंकि उन्होंने तो स्वयं को कभी कम्युनिस्ट तक प्रचारित नहीं किया।

दरअसल, वास्तविकता यह नहीं है जो कि रॉय ने अपने संस्मरणों में तथा

---

1. डी० बंद्योपाध्याय, पृ० 130, 139
2. जे० पी० हेथकाक्स—"कम्युनिज्म एण्ड नेशनलिज्म इन इंडिया" 1974, एम० एन० रॉय एण्ड कामिंटर्न पालिसी-1920-1939, पृ० 20
3. डेविड एन ड्रहे: सोवियत रशिया एण्ड इण्डियन कम्युनिज्म 1917-1947, न्यूयार्क, 1959, पृ० 39

कुछ पश्चिमी एवं भारतीय इतिहासकारो ने बतलाई है। सीपीआई के गठन की वास्तविकता इन्ही एम० एन० रॉय ने 'भारतीय क्रातिकारी समिति' की जनवरी 1921 की एक रिपोर्ट मे इस प्रकार दिखलाई है : "सात कम्युनिस्टों ने ताशकद मे अपने सिद्धातों तथा यूरोपीय कम्युनिस्टों के साथ बनी योजना के फलस्वरूप 17 अक्तूबर, 1920 को भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का विधिवत् गठन किया।" इसमें जिस 'योजना' की ओर रॉय का सकेत है वह ब्रिटिश कम्युनिस्टों के सहकार से सीपीआई के निर्माण की योजना है जिसने मास्को मे कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस मे या इसके ठीक पश्चात् स्वरूप ग्रहण किया है। दूसरे शब्दो मे, यह सब ताशकंद मे रॉय के मुहाजिरीनो से मिलने से पहले ही घटित हो चुका है।

जैसाकि विदित हो चुका है कि पहले भारतीय कम्युनिस्ट-समूह—जो 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी' के रूप मे प्रचारित हुआ, मे कोई मुहाजिरीन नही था। सात व्यक्तियो के इस पहले समूह में केवल दो मुसलमान थे—मोहम्मद अली और मोहम्मद शफीक सिद्दीकी और ये दोनो भी 1915 से काबुल मे कार्यरत भारत की तथाकथित अस्थायी सरकार के प्रतिनिधि के रूप मे ताशकद पहुँचे थे। और ये दोनों हिजरत जैसे किसी मुस्लिम आदोलन मे सम्मिलित नही थे। जैसाकि रॉय ने अपने संस्मरणो मे दावा किया है कि मुहाजिरीनो ने कम्युनिस्ट पार्टी के तुरन्त गठन करने के लिए जोर डाला तथा—ये मुसलमान 'समाजवादी' स्वरूप मे रूपान्तरित हो गये—इसका मतलब तो यह है कि पहला भारतीय कम्युनिस्ट समूह 'सात' से ज्यादा बडा और मजबूत होना चाहिए क्योकि उस समय अकेले ताशकद मे ही सौ से अधिक भारतीय प्रवासी थे। मुहाजिरीनो मे सर्वप्रथम 1921 मे मास्को मे कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल होने वालों में शौकत उस्मानी तथा रफीक अहमद थे। एक बात और है कि इन्होने या इनके साथियों ने अपनी यादों मे कही इस बात का उल्लेख नही किया है कि ताशकंद मे उन्होंने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के शीघ्र निर्माण के लिए आग्रह किया है।

एम० एन० रॉय ने कामिटर्न के लिए भारतीय क्रातिकारी समिति की रिपोर्टों तथा दूसरे महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों मे इस बात का अवसर उल्लेख किया है कि मुहाजिरीनों में राष्ट्रवादी क्राति की राजनीतिक समझ भी नहीं है। यही तथ्य है कि वे कम्युनिज्म के विचारों और आदर्शों को सीखने मे अक्षम हैं। एक रिपोर्ट मे कहा गया है कि 'अखिल भारतीय अस्थायी क्रातिकारी' समिति के विचार में राष्ट्रवाद की आदिम धारणाओं से भी अपरिचित लोगों को अंतर्राष्ट्रवाद के विचार से जोड़ना निरर्थक प्रयास होगा।"[1] मुसलमानो की कम्युनिज्म के लिए तथाकथित पात्रता के संबंध मे इस रिपोर्ट मे विशेषोल्लेख इस प्रकार है कि "तथ्य यह है कि कम्युनिस्टों

1. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 488, पृ० 5

की 'भारतीय क्रांतिकारी समिति' में केवल कम्युनिस्टों को ही स्थान दिया गया था। ऐसे लोगों के साथ कट्टरपंथी मुसलमानों ने काम करने में झिझक महसूस की, जिन्हें उनके धर्म के अनुसार 'काफिर' या नास्तिक समझा जाता था।"[1] सोवियत तुर्किस्तान में प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों की धार्मिकता, मार्क्सवाद को अपनाने में सबसे बड़ी बाधा है। इसी कारण वे ताशकंद में भारतीय कम्युनिस्ट समूह में सम्मिलित नहीं हुए।

यह विचार अकेले एम० एन० रॉय का ही नहीं कि अब्दुर रब व प्रतिवादी आचार्य 'मुहाजिरीनों' के साथ सीपीआई का निर्माण करने वालों की धुरी थे बल्कि कुछ भारतीय कम्युनिस्टों का भी है जो भ्रामक एवं तोड़ी-मरोड़ी सूचनाओं तथा रॉय के संस्मरणों को विशेष महत्व देते हैं।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के सुपरिचित दस्तावेज की भूमिका में कहा गया है कि "ताशकंद में अक्तूबर 1920 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण का प्रस्ताव इसके आधिकारिक प्रतिनिधि एम० एन० रॉय की ओर से न आकर दूसरे क्रान्तिकारियों जैसे आचार्य, अब्दुर रब तथा मुहाजिरीनो के एक वर्ग को ओर से आया।"[2] "एम०एन० रॉय पर ताशकंद में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए जोर डाला गया था।"[3] एक अन्य लेखक एस० वी० घाटे ने आचार्य और अब्दुर रब को छोड़ते हुए इस संबंध में लिखा है कि ताशकंद में सीपीआई का निर्माण कुछ अनजान 'मुहाजिरीनो' द्वारा हुआ जिन्होंने कमाल पाशा के सिद्धांतों के अनुरूप 'कालीफ़ेट' के लिए संघर्ष में भारत छोड़ा था लेकिन ताशकंद पहुँचने पर वे कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में एकसूत्र में बँध गए। घटनाओं को इतना अधिक सरलीकृत करते हुए यह लेखक निष्कर्ष निकालता है कि "कोई आश्चर्य की बात नहीं कि रॉय ऐसे तत्त्वों के साथ सीपीआई की स्थापना की इच्छा न रखते हों।" इसके अलावा यह लेखक मानता है कि रॉय व्यक्तिगत रूप से सीपीआई के निर्माण से संबद्ध नहीं थे क्योंकि कामिंटर्न की पहली और दूसरी कांग्रेस में उपस्थित होने वाले कई कम्युनिस्ट ऐसे थे जो या तो स्वयं के ही प्रतिनिधि थे या कुछ छोटे कम्युनिस्ट समूहों के प्रतिनिधि थे।[4] यह लेखक मुज़फ़्फ़र अहमद के इस विचार से असहमत हैं कि सीपीआई के निर्माण में एम० एन० रॉय का व्यक्तिगत स्वार्थ निहित था।

इस प्रकरण से संबंधित अनेक दस्तावेजों में इस बात का उल्लेख है कि

---

1. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 488, पृ० 4-5
2. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज, पृ० 55
3. वही, पृ० 57
4. एस० वी० घाटे—"सीएमपी हिस्टार्ट्स हिस्ट्री एबाउट फॉरमेशन ऑफ सीपी ऑफ इंडिया"—न्यू एज, 30 अगस्त, 1970, पृ० 4

ताशकद मे सीपीआई के प्रायोजक तथा सगठनकर्त्ता रॉय ही थे, यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण का विचार मुहाजिरीन तथा भारतीय क्रातिकारी परिषद के अब्दुर रब एवं आचार्य के ताशकद पहुँचने से पूर्व ही अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद के भारतीय समुदाय के बीच चर्चा का विषय बन चुका था।

प्रश्न यह है कि सीपीआई के निर्माण की उद्घोषणा मे रॉय का अपना क्या आग्रह था ? कहा जा सकता है कि रॉय कामिटर्न मे अपने देश के कम्युनिस्ट आदोलन के प्रतिनिधित्व के लिए ऐसा कर रहे थे, न कि अपने किसी निजी प्रयोजन के कारण। यह ठीक है, लेकिन उनके वाम-सकीर्णतावादी विचारो ने क्या यह सभव होने दिया ? जैसाकि कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण मे उनकी भूमिका को आप देख चुके हैं। आपको याद होगा कि कामिटर्न की 'दूसरी काग्रेस' की अपनी 'पूरक थीसिस' मे रॉय ने यह बताया था कि पूरब के देशो मे कम्युनिस्ट पार्टियाँ पहले से मौजूद हैं, मगर वे चाहते थे कि उनके देश भारत की भूमिका इन देशो की अगुवाई करने वाली हो। वे ऐसे देशो मे भारत को सबसे अग्रणी रूप मे देखना चाहते थे।

कामिटर्न के प्रतिनिधि होने के कारण रॉय की अपनी प्रतिष्ठा थी, इस कारण उनके दायित्व व कार्यों को सीमित करना सभव नही था। यद्यपि पूरब मे कम्युनिस्ट पार्टियों के अविलम्ब निर्माण का निर्णय कामिटर्न का नही था, उसका प्रयोजन इतना भर था कि एशिया के कम्युनिस्ट अपने-अपने देशों मे कम्युनिस्ट आंदोलन को मजबूत करें। इस काम की प्रगति के लिए परिस्थितियों के अनुसार निर्णय लेने का काम कुछ विशिष्ट व्यक्तियो पर छोड दिया गया था। ये कुछ बातें हैं जिनके आधार पर भारतीय कम्युनिस्ट इतिहासकार डी० कौशिक ने 1966 मे पर्याप्त तर्कों का सहारा लेते हुए रॉय पर लगे आरोपो के विरुद्ध कहा कि ताशकद में सीपीआई के उद्भव मे रॉय का योगदान नही था।[1]

मास्को मे कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की पूरी तैयारियों की घोषणा के बाद ताशकद मे उसका विकास किया। यह अकारण नही है कि कम्युनिस्ट सगठन की सदस्यता को लेकर उन पर दबाव डालने की रणनीति अपनाने का दोषारोपण अनेक भारतीयो ने किया। मसलन, 'भारतीय क्रातिकारी समिति' के अध्यक्ष के नाते उन्होंने 3 दिसम्बर, 1920 को भारतीयों के एक समूह को खाद्य-सामग्री से वंचित कर दिया क्योंकि उन्होंने काम करने से इन्कार कर दिया था। इससे सघर्षरत प्रवासी समुदाय को थोड़ी-बहुत ठेस लगना स्वाभाविक था। जैसे कि एम० ... समान ने लिखा है कि "ताशकद मे प्रवासियो पर कम्युनिस्ट होने के लिए जोर कसना, उन्हे कम्युनिस्ट होने पर सम्मानित करना और न होने पर अपमानित

---

1. देवेन्द्र कौशिक, 'सोवियत एशिया में भारतीय क्रान्तिकारी' लिंक' 26 जनवरी, 1966, पृ० 76

करना आदि बातों ने उनके बीच दरार पैदा की, जो कि एक भूल थी।" एन० मनमाथ का यह कहना सही था कि रॉय और उनके गुट के वाम-संकीर्णतावादी प्रचार ने भारत को आकर्षित करना तो दूर, उनसे नाराज किया।

अक्तूबर तक वर्ग ने प्रवासियों के प्रति रॉय के गलत रवैये को लेकर उनका कई बार ध्यान आकर्षित किया। 5 दिसंबर, 1920 के भारतीय एसोसिएशन द्वारा हस्ताक्षरित एक दस्तावेज में ताशकंद में भारतीयों के प्रति एम० एन० रॉय के रवैये के संबंध में साफ-साफ कहा है कि "सभी भारतीयों को कम्युनिस्ट बना देने या अस्पताल के प्रहरी की तरह चाकर बनाकर रखने की कोई जरूरत नहीं है'''हम कम्युनिज्म के विरुद्ध नहीं हैं और हम एक कम्युनिस्ट क्रांतिकारी या केवल क्रांतिकारी में अंतर नहीं मानते। हम जोर-जबरदस्ती से कम्युनिस्ट में रूपान्तरण का विरोध करते हैं। कम्युनिस्ट सिद्धांतों का हम सम्मान करते हैं किंतु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ताकत का उपयोग करने के प्रति हमारी असहमति है। कॉमरेड रॉय ने भारतीय क्रांतिकारी परिषद् (एसोसिएशन) तथा प्रवासियों से उन्होंने तीन तारीख से सारे सम्पर्क तोड़ दिए।[1]

ताशकन्द में रॉय द्वारा 'भारतीय क्रांतिकारियों और प्रवासियों' की आम सभा में दिए गए 'कम्युनिज्म के बारे में वक्तव्य' का अध्ययन करने पर भारतीयों की भावनाओं, तर्क-वितर्कों तथा मतभेदों का पता चलता है कि तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टी की घोषणा को लेकर उनके मन में क्या-क्या था। यह सब कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के कुछ दिनों बाद की अक्टूबर 1920 की ही बात है। एम० एन० रॉय की बात ध्यान देने योग्य है कि "कम्युनिस्ट और कम्युनिज्म शब्दों को लेकर यहाँ भारतीय क्रांतिकारियों में गलतफहमी तथा नुकसानदेह मतभेदों का जन्म हो रहा है, इसलिए हमने अपने रवैये, योजना तथा नीति के बारे में एक बहुत स्पष्ट वक्तव्य देने की बात सोची है। यह सब उन लोगों के संदर्भ में है जो भारत की दरिद्र जनता की वास्तविक मुक्ति अपने सजग प्रयासों में देखते हैं।'''हम जनता की सामाजिक एवं आर्थिक स्वाधीनता के लिए कार्यरत हैं, राजनीतिक स्वाधीनता तो केवल साधन है'''इसलिए, हमारा विश्वास है कि जब हम अपने कार्यक्रम को लेकर जनता के सामने जाएँगे तो वह हमारे साथ होगी। अतः कॉमरेडो! आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ, कि हमें किसी को कम्युनिस्ट के रूप में ही बदलना जरूरी नहीं है। वस्तुतः, हम भारतीय जनता तथा बुद्धिजीवी युवा क्रांतिकारियों के सामने कम्युनिस्ट सिद्धांतों को रखते रहेंगे लेकिन हम किसी पर उन्हें आरोपित नहीं करेंगे। जो लोग उन्हें आरोपित करने की बातें कहते हैं वे बेवकूफ एवं षड्यंत्रकारी हैं।"

---

1. सी पी ए, आई एम एल

जैसाकि रॉय ने अपने संस्मरणो मे बताया है कि 'मुहाजिरीनो' ने उन पर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के अविलंब निर्माण के लिए दबाव डाला था, यदि वास्तव मे ऐसा होता तो रॉय के उक्त भाषण का स्वर इससे भिन्न होता। उस समय वे पार्टी मे प्रवेश को लेकर निश्चय ही कोई सीमा-रेखा अवश्य खींचते क्योकि कम्युनिस्ट बनने के लिए आरभिक योग्यता एवं समझ की आवश्यकता होती है जो कि उनमे नहीं थी, यद्यपि सख्या मे वे बहुत थे। इसके विपरीत रॉय के भाषण के बिंदु बिल्कुल भिन्न हैं। जिनमें वे कहते हैं कि 'आशकाओ को दूर रख विश्वास की जरूरत है', 'षड्यंत्रकारियों पर विश्वास मत करो', 'हम आपको ज़ोर-जबरदस्ती से पार्टी मे सम्मिलित होने के लिए नही कह रहे हैं।' उस समय अधिकांश भारतीय पार्टी मे सम्मिलित होने के लिए कहे जाने के कारण दुविधा मे थे।

इस सदर्भ मे ताशकद मे 'भारतीय सैनिक स्कूल' के कमिसार ए० एम० तारकनोव के संवाद का एक उद्धरण देना अप्रासगिक नही होगा। उन्होंने ताशकद के 'सैनिक शिक्षा सस्थान बोर्ड' के 'राजनीति विभाग' को दिसबर 1920 मे भारतीय विद्यार्थियो के बीच काम करने की कठिनाइयो के बारे मे सकेत किया था कि "इनमे बहुत कम ऐसे हैं जो कम्युनिस्ट हैं, अधिकाश धार्मिक प्रवृत्ति के लोग हैं। यदि उनसे कम्युनिज्म के विषय मे बातें की जाएँ तो वे बड़ी मुश्किल से ध्यान देते हैं···।" इसलिए उक्त लेखक भारतीयो मे राजनीतिक प्रशिक्षण का स्तर उठाने की आवश्यकता पर ज़ोर देता है।[1]

इस बीच 'क्रांतिकारी समिति' और 'एशोसिएशन' (परिषद्) के बीच तनाव बढ़ते चले गए। इनके संबधों को लेकर रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के तुर्किस्तान ब्यूरो की केंद्रीय समिति तथा तुर्किस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति की कार्य-कारिणी की एक सयुक्त बैठक मे 31 दिसबर, 1920 को चर्चा हुई। इसके विवरण मे साफ है कि 'प्रवासी भारतीयो मे कार्य-पद्धति के सबंध में मतभेद हैं।'

इसी बैठक में पी० आचार्य ने रॉय पर दोषारोपण करते हुए कहा कि वे प्रवासियो पर पार्टी संगठन मे सम्मिलित होने के लिए ज़ोर-जबरदस्ती कर रहे हैं। उसने कहा कि "भारतीयों से यहाँ कम्युनिज्म को सीखने की बात कही जानी चाहिए, न कि पार्टी मे बलात् भरती होने की।" आचार्य ने सतर्क आगे कहा कि एम० एन० रॉय को "भारतीय क्रांतिकारी समिति मे उनके पद से हटा दिया जाना ज़रूरी है···क्योकि वे भारतीयों के बीच अपनी प्रतिष्ठा खो बैठे हैं।"[2]

जब सुलह-समझौते के प्रयास विफल हो गए तो यह संस्तुति की गई कि "क्रांतिकारी समिति के सदस्य कामिंटर्न से इन मुद्दो के समाधान हेतु शीघ्र मास्को

1. एस ए बी एस ए, एस 25025, आर 1, एफ 11, पृ० 3
2. उज्बेक गणतत्र के पार्टी अभिलेख, एस 60, आर 1, एफ 194, पृ० 4

पहुँचे।"[1] रॉय जनवरी 1921 के आरंभ में तथा इसके बाद आचार्य और अब्दुर रब बर्क मास्को पहुँचे।

कामिटर्न के एक छोटे ब्यूरो ने कुछ महीनों तक भारतीयों की गतिविधियों का अध्ययन किया। मार्च 1921 में ताशकंद में स्थानीय पूछताछ के लिए कार्ल स्तेनहार्त, कोस्तांतिन जेत्किन और या० स० पीटर्स का ईसीसीआई का एक विशेष आयोग भेजा गया। ये सभी कामिटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो के सदस्य थे। आयोग ने 14 मार्च को मास्को लौटकर अपनी रिपोर्ट दी। इसमें कहा गया था कि मतभेद सैद्धांतिक हैं तथा इनकी तह में व्यक्तिगत संबंध हैं। कुछ जरूरी मतभेदों के बारे में कहा गया कि अब्दुर रब बर्क के समूह ने 'वर्तमान में कम्युनिस्ट प्रचार की गलत नीतियाँ अपनाने' का दोषारोपण रॉय पर किया है। अब्दुर रब बर्क के विचार से "एक उचित सीमा तक राष्ट्रवाद का उपयोग किया जाना चाहिए।"

संयोग से आयोग के सदस्य वाम-क्रांतिकारी मानसिकता के पक्षधर थे, इस कारण उन्होंने भी जो निष्कर्ष निकाला, वह युक्तियुक्त नहीं था। उनका मानना था कि "मुखर्जी एवं रॉय के समूह का कार्यक्रम दूसरी कांग्रेस के निर्देशों का संवाहक है।"[2] उक्त समूहों में सुलह-समझौता कराने के उद्देश्य से कामिटर्न के लघु ब्यूरो ने मार्च और अप्रैल 1921 में भारतीयों के साथ विशेष बैठकें आयोजित कीं। इन्होंने भारतीय कम्युनिस्टों और गैर-कम्युनिस्टों की आरसीपी (बी) के दो सदस्यों के साथ एक संयुक्त समिति गठित करने का सुझाव दिया, जो समझौता करा सके। अब्दुर रब बर्क ऐसी समिति के लिए तैयार थे लेकिन एसोसिएशन के साथ किसी तरह का कोई सहयोग नहीं करने का हठ रॉय ने नहीं छोड़ा। मुखर्जी ने भी ताशकंद से भेजे एक संदेश में रॉय का समर्थन किया। 13 अप्रैल, 1921 को मुखर्जी ने लिखा कि "हम सभी आपसे सहमत हैं। अब्दुर रब और आचार्य से समझौता करने की जरूरत नहीं।"

स्थिति की विकटता को देखते हुए कामिटर्न ने एक बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लिया। इस निर्णय के पीछे भारतीय क्रांतिकारियों को मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांतों की जानकारी देना तथा समाजवादी क्रांति की जल्दबाजी की अपेक्षा बुनियादी तैयारी के लिए शिक्षित करना भी था। भारत की श्रमिक जनता की वास्तविक कम्युनिस्ट पार्टी को स्वरूप प्रदान करने का यही रास्ता था।

अप्रैल 1921 में लघु ब्यूरो ने तुर्किस्तान में प्रवासी भारतीयों में काम को

---

1. उज़्बेक गणतंत्र के पार्टी अभिलेख, एस 60, आर 1, एफ 194, पृ० 4
2. देखिए: कामिटर्न के तुर्किस्तान ब्यूरो का ईसीसीआई के लघु ब्यूरो को 14 मार्च, 1921 का संदेश।

रोक देने तथा पूरब के मेहनतकशों के लिए मास्को[1] में सद्यःस्थापित कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय में सभी भारतीयों को स्थानान्तरित करने का प्रस्ताव किया।[2]

मास्को की तत्कालीन अशान्त राजनीतिक परिस्थितियों में भी भारतीयों की क्रांतिकारी शिक्षा के लिए वहाँ एक अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक स्कूल की व्यवस्था थी। इस समय ब्रिटेन के दबाव के कारण अफ़ग़ान सरकार ने भारतीय क्रांतिकारियों के प्रति विरोधी रुख अपनाकर सोवियत तुर्किस्तान में उनके आंदोलन में बाधा उत्पन्न की। वहाँ काम करने में समुचित स्टाफ एवं अन्य भौतिक साधनों का अभाव था। जबकि मास्को में वैचारिक एवं सैद्धांतिक प्रशिक्षण हेतु अच्छे स्टाफ तथा शैक्षिक सुविधाओं की पूरब के क्रांतिकारियों के लिए पर्याप्त व्यवस्था थी। अतः कामिंटर्न के लघु ब्यूरो के निर्णय से भारतीयों को संतोष हुआ। 12 सितम्बर, 1921 को एम० एन० रॉय ने ई सी सी आई सचिव को इस सम्बन्ध में कारण स्पष्ट करते हुए लिखा, "हमारे कम्युनिस्ट समूह को कुछ दूसरे लोगों के साथ मास्को के कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय में राजनैतिक प्रशिक्षण पूरा करने के लिए प्रवेश देने का प्रस्ताव किया गया था। ऐसा प्रशिक्षण वे कुछ महीने से प्राप्त कर रहे थे। यह प्रस्ताव विश्वविद्यालय के भारतीय विद्यार्थियों द्वारा तथा आंदोलनकारियों एवं प्रचारकों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को गति देने की क्षमता विकसित करने की दृष्टि से हमारे द्वारा किया गया।"

उक्त पत्र में एम० एन० रॉय ने उस समय की वास्तविकता को दिखाया है जबकि कुछ दशकों बाद अपने संस्मरणों में उन्होंने भी बूर्ज्वा तथा संशोधनवादी इतिहासकारों की हाँ में हाँ मिलाई है, जिन्होंने कि भारतीयों के मास्को पलायन का कारण सोवियत सरकार पर ब्रिटिश कूटनीति का दबाव माना है।[3]

---

1. देखिए : 12 सितंबर, 1921 को एम० एन० रॉय द्वारा ई सी सी आई के सचिव को लिखा पत्र।
2. आर सी पी केंद्रीय समिति के संगठन ब्यूरो ने 9 फ़रवरी, 1921 को पूरब के मेहनतकशों के विश्वविद्यालय—'जातीयताओं के जन-कमिसारियत' में पाठ्यक्रमों के पुनर्निर्धारण के लिए प्रस्ताव किया(सी पी ए आई एम एल, एस 583, आर I, एफ 25, पृ० 66) अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की विश्वविद्यालय गठित करने की आज्ञप्ति 21 अप्रैल, 1921 को पारित हुई (देखिए, 1917-1927 में यूएसएसआर में सांस्कृतिक जीवन; क्रॉनिकल, मास्को, 1975, पृ० 269) (रूसी भाषा में)
3. देखिए : एम० एम० रॉय के संस्मरण, पृ० 468; अरुण सी० बोस, भारतीय क्रांतिकारी और बोल्शेविक—'इनके आरंभिक सम्पर्क, 1918-1922', एशियन स्टडीज, प्रति, VIII, 1970, नं० 3, पृ० 345; डेविड एन ड्रूहे,

इस विवेचन की 'वास्तविकता' की पड़ताल करने का एक सरल तरीका यह है कि हम इस विषय पर एम० एन० रॉय द्वारा प्रस्तुत उनके दोनों पक्षों की तुलना करें। यहाँ पहले मैं यह कहना चाहता हूँ कि उपर्युक्त निर्णय आर एस एफ एस आर की सरकार से सहमति करके किया गया था और इसे कामिटर्न द्वारा स्वीकार किया गया था न कि जन-कमिसार परिषद् द्वारा। दूसरी बात यह कि जहाँ तक 'पलायन' का प्रश्न है, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस काम से ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को डर लग रहा था तथा वे उसका विरोध कर रहे थे। वह कार्य अन्तहीनथा और जिसका लक्ष्य भविष्य के लिए व्यापक एवं प्रभावशाली संभावनाओं वाला था।

कामिटर्न के लघु ब्यूरो के निर्णय को लागू कराने मे समय लगा। भारतीय मास्को में आने लग गए थे। तेईस भारतीय सोवियत राजधानी में अगस्त[1] में आ गए। 1 अक्टूबर, 1921 तक अठारह भारतीय, जिनमें अधिकांश कम्युनिस्ट थे, विश्वविद्यालय मे अध्ययन करने लगे थे।

सोवियत रूस मे प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों के लिए ज़िंदगी की यह एक नई शुरुआत थी। उन्होंने क्रांतिकारी होने की दृष्टि से विभिन्न विषयों को सीखने में कड़ी मेहनत की। इसके फलस्वरूप मास्को में भारतीय कम्युनिस्टों की संख्या बढ़ती चली गई। एम० एन० रॉय के अनुसार 1 सितंबर, 1921 तक मास्को में तीस भारतीय कम्युनिस्टों का एक संगठित समूह बन गया था। इसके अतिरिक्त गांधीवादी पद्धति के निष्क्रिय प्रतिरोध तथा षड्यंत्रकारी गतिविधियों के कारण मोहभंग हुए राष्ट्रवादी क्रांतिकारी भी कम्युनिज्म में रुचि लेने लगे थे। ये राष्ट्रवादी भारत की राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए कोई वैज्ञानिक रास्ता ढूंढ निकालने के लिए प्रयासशील थे।

पूरब के मेहनतकशों के लिए कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय के निर्माण का समाचार भारत में बहुत जल्दी पहुँचा तथा अनेक राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों को मास्को में अध्ययन करने के लिए उत्सुक किया। एक अज्ञात भारतीय कम्युनिस्ट ने; जिसने कि अगस्त 1921 में सोवियत राजधानी को छोड़ा तथा 15 दिसंबर को बम्बई पहुँचा; भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सचिव को अपनी लगभग सात माह की स्थल-यात्रा के बारे में बताते हुए लिखा कि वह भारत के सात औद्योगिक केन्द्रों में होकर

सोवियत रूस और भारतीय समाजवाद, 1917-1947, पृ० 49-50, जॉन पी० हेयकॉक, *भारत मे राष्ट्रवाद और साम्यवाद, एम० एन० रॉय और कामिटर्न-नीति, 1920-1939*, पृ० 23

1. देखिए : ई सी सी आई के सचिव को 12 सितम्बर, 1921 को लिखा रॉय का पत्र।

गुज़रा है और ऐसे अनेक लोगों से मिला है जो क्रांति की कला को सीखने के लिए मास्को जाना चाहते हैं। "यदि कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय मे नामांकन का अवसर मिले तो 50 युवा विद्यार्थी मास्को जाने को तैयार हैं।"

ग़दर पार्टी के नेतृत्व मे भी समाजवादी सिद्धांतो तथा सोवियत रूस मे इसके प्रयोग के अध्ययन के लिए अपनी उत्सुकता जाहिर की थी। पार्टी के नेता सोहनसिंह ने सोवियत क्रांति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए मार्क्स तथा लेनिन द्वारा प्रतिपादित समाजवादी सिद्धांतों की जानकारी के लिए कुछ ज़िम्मेदार कामरेडों को सोवियत संघ भेजने के पार्टी के निर्णय की बात कही थी। सोहनसिंह की सूचना के अनुसार कामिंटर्न से सम्पर्क के बाद ग़दर पार्टी ने अमेरिका और कनाडा से युवा व्यक्तियों को क्रांतिकारी प्रशिक्षण के लिए रूस भेजा था।[1]

ग़दर पार्टी के दो सदस्य—रतनसिंह और संतोषसिंह—अमेरिका से 1922 मे मास्को पहुँचे थे। दोनो श्रमिकों की एक प्रश्नावली से पता चलता है कि वे क्रांति की शिक्षा तथा वापस भारत मे क्रांतिकारी काम करने के उद्देश्य से मास्को आये थे। दोनों कामिंटर्न की चौथी कांग्रेस में शामिल हुए।

भारत की अस्थायी सरकार के सदस्य भी मास्को पहुँचे थे जो कि पहले वहाँ नहीं रहते थे। 1921 के आरम्भ मे रहमत अली जकारिया 'सामान्य राजनीतिक स्थिति का अध्ययन' करने के लिए वहाँ आये थे। यह बात उनके पहचान-पत्र से मालूम होती है। दूसरे राष्ट्रवादी क्रांतिकारी संगठनो के प्रतिनिधि भी मास्को मे ठहरे थे।

पूरब के मेहनतकशों की कम्युनिस्ट यूनिवर्सिटी ने प्रवासी भारतीयों को राजनैतिक शिक्षा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। तुर्किस्तान से आए अधिकांश भारतीयों ने भी इसमें अध्ययन किया। इन्होंने कम्युनिस्ट दृष्टिकोण के विकास की जटिल प्रक्रिया में शिक्षा-व्यवस्था को वास्तविक स्वरूप प्रदान किया।

20 नवबर, 1921 को आठ भारतीयों के पहले समूह ने इस विश्वविद्यालय[2] से अपनी शिक्षा पूरी होने पर ई सी सी आई तथा आर सी पी (बी) को भेजे अपने एक संदेश में इनके प्रति आभार व्यक्त किया। कामिंटर्न को लिखे पहले पत्र मे

---

1. ए० वी० रादकोव के 'भारतीय राष्ट्रवादी क्रांतिकारी और मार्क्सवाद' से उद्धृत (1920-1930) वगरोसी इस्तोरी, नं० 2, 1972, पृ० 76
2. इस समूह के भारतीयो ने पहले ताशकद मे अध्ययन किया, इसलिए दूसरे विद्यार्थियों की तुलना मे विश्वविद्यालय से जल्दी सफलता प्राप्त की। 25 मार्च, 1922 से पहले इस विश्वविद्यालय का पहला स्नातक समारोह आयोजित नहीं हुआ। (देखिए : यू एस एस आर मे सांस्कृतिक जीवन—1917-1927, नौनिकम, पृ० 337) (रूसी भाषा मे)

उन्होंने कहा, "पूरब की जनता के लिए कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय के भारतीय समुदाय के हम लोग अपनी सैद्धान्तिक शिक्षा की समाप्ति पूरी होने पर कामिंटर्न की कार्यकारी समिति के प्रति अपनी कृतज्ञता भेजते हैं। और हम कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के नेता के रूप में अन्य कम्युनिस्ट शिक्षकों के प्रति अपनी शिक्षा व्यक्त करते हैं। कामिंटर्न विश्व सर्वहारा की महान् क्रान्तिकारी संस्था है जिसने पूरब के उत्पीड़ित वर्गों के प्रति दोस्ती का हाथ बढ़ाया है।"

इसी अन्तर्गत समूह ने आगे दूसरे संदेश में आर सी पी (बी) के प्रति रूस में उनके स्वागत तथा शिक्षा के अवसर दिये जाने के लिए आभार व्यक्त किया। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि 'वे रूस की क्रांति से प्रेरणा लेकर 'भारत में क्रांति के लिए' पूरा प्रयास करेंगे। मास्को में सोवियत नागरिकों के संपर्क में तथा अध्ययन की प्रक्रिया में शौकत उस्मानी, रफीक अहमद, मुजफ्फर अहमद, रहमत अली जकारिया कम्युनिस्ट हो गए, जिन्होंने भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण में उल्लेखनीय भूमिका निभाई।[1]

तथ्य यह है कि ताशकंद की अपेक्षा मास्को में भारतीय कम्युनिस्ट समूह ने संख्या एवं सैद्धांतिक शिक्षा की दृष्टि से अधिक विकास किया। भारत के इतिहास में पहले कम्युनिस्ट समूह के निर्माण की प्रक्रिया तथा भारत में इसकी गतिविधियों (मार्क्सवाद का प्रचार, राष्ट्रीय क्रांतिकारियों से संपर्क तथा 1921 में पहले कम्युनिस्टों का उदय, कम्युनिस्ट समूहों के गठन में सहायता आदि) ने भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन को आगे बढ़ाया। ताशकंद तथा मास्को में गठित सीपीआई ने धीरे-धीरे विदेशों के कम्युनिस्ट-केन्द्र के रूप में कामिंटर्न के नेतृत्व में अपना विकास किया। इस प्रकार भारत की वास्तविक कम्युनिस्ट पार्टी की आधारशिला रखी गई।[2] सोवियत रूस में इन अग्रगामी भारतीय कम्युनिस्टों की गतिविधियों का बड़ा ऐतिहासिक महत्व है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के उद्भव को लेकर भारतीय कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों में हाल ही में बड़ा उत्तेजक विवाद रहा है। इस सम्बन्ध में 1959 में ही सारी अनिश्चितता को समाप्त कर दिया गया था। इस समय तक 1925, 1933 और 1936 पार्टी के स्थापना-वर्ष माने जाते रहे थे। लेकिन सीपीआई का सचिवालय 18 अगस्त, 1959 को पूरी जाँच-पड़ताल के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 26 दिसंबर, 1925 को कानपुर में आयोजित पहले अखिल भारतीय

1. देखिए : भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज, पृ० 229
2. जी० अधिकारी का विचार (देखिए : जी० अधिकारी, लेनिन ऑन रॉय'ज सप्लीमेंट्री कॉलोनियल थीसिस, पृ० 2-3)

कम्युनिस्ट सम्मेलन से सीपीआई[1] की स्थापना हुई, जिसमे 500 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इसमे केन्द्रीय समिति का चुनाव हुआ तथा पार्टी-संविधान अंगीकार किया गया। सम्मेलन के ठीक बाद पार्टी तथा पश्चिमी यूरोप के विदेशी केन्द्रों के बीच सम्बन्ध के स्वरूप की दृष्टि से संविधान में संशोधन किया गया। इन विदेशी केन्द्रों ने कानपुर सम्मेलन के आयोजन मे प्रकट रूप से योगदान किया था।[2] लेकिन भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के सगठकों मे एक मुजफ्फर अहमद की कानपुर सम्मेलन सम्बन्धी उक्त विचार से सहमति नहीं है। भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के बारे मे उनकी दृढ राय थी कि सीपीआई की स्थापना 17 अक्टूबर, 1920 को ताशकंद शहर मे हुई और 'जब कभी भविष्य मे कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास लिखा जायगा, तब इसी बिंदु से शुरुआत करनी पड़ेगी' क्योंकि 'पहली बातें पहले आनी चाहिए।'[3]

वस्तुतः, पहली बातें पहले ही आनी चाहिए, इस तर्क से मास्को में कामिंटर्न की 'दूसरी कांग्रेस' के समय तथा बाद मे ताशकंद और पुन. मास्को में एम० एन० रॉय और उनके साथियों की गतिविधियों को 'भारतीय कम्युनिस्ट आदोलन' की शुरुआत माना जाना चाहिए। प्रथम कम्युनिस्ट गुट के संविधान मे इसे ही कम्युनिस्ट पार्टी कहा गया। लेकिन ताशकंद और मास्को मे स्थापित गुट को कम्युनिस्ट पार्टी मानने तथा 1921-1922 में भारत स्वरूप ग्रहण करने वाले गुटों के लिए उक्त नाम को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। दूसरा नाम इस संदर्भ मे इसलिए नहीं लिया जा सकता क्योंकि रॉय का गुट ही सबसे पहले मैदान मे उतरा था। विवाद से परे यह एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है। पहल करने मे रॉय का गुट ही नम्बर एक है। लेकिन, यह भी उतना ही सही है कि यह एक छोटा-सा गुट था और इसी आधार पर इसे पार्टी समझा जाने लगा।

एक डच कम्युनिस्ट एस० जे० रतगर्स की अध्यक्षता मे 31 जून, 1921 को

---

1. देखिए : जी० वी० घाटे, 'सी एम पी डिस्टार्ट्स हिस्ट्री एबाउट फॉर्मेशन ऑफ सी पी ऑफ इण्डिया', न्यू एज, 30 अगस्त, 1970। ए०एम० मेलिकोव तथा एल० वी० मित्रोखिन, 'द फर्स्ट इण्डियन कम्युनिस्ट कान्फ्रेंस एण्ड द फॉर्मेशन ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया', नपरोसी इस्तोरी, 1973, नं० 3
2. देखिए : जी० अधिकारी, '1917-1920 के दस्तावेजों का सामान्य परिचय', भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज, पृ० 2-3
3. मुजफ्फर अहमद, 'मैं और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी 1920-1922', पृ० 28 तथा 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में इसका निर्माण' पृ० 5, 33

कामिंटर्न के लघु ब्यूरो द्वारा गठित एक भारतीय आयोग ने एम० एन० रॉय के समूह का मूल्यांकन करते हुए कहा (26 जून) "जैसाकि वे क्रांतिकारी आंदोलन के लिए अंतर्राष्ट्रीय पार्टी अनुशासन को जरूरी मानते हैं, इस आधार पर उन्हें एक वास्तविक कम्युनिस्ट पार्टी की शुरुआत माना जा सकता है। हालांकि, इसकी *लघुता तथा भारत में इसकी जड़ों का न होना ही इसे अस्थायी प्रकृति का बना* देता है।"[1]

कहने का तात्पर्य है कि भावी पार्टी का आरंभ एक समूह से बना हुआ, न कि पार्टी से और इसी से भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन की शुरुआत हुई।

आयोग ने कामिंटर्न के उक्त गुट को एक दल के रूप में मान्यता देने की संस्तुति की लेकिन तीसरी कांग्रेस में मात्र—परामर्श—मत देने की स्वीकृति प्रदान की (सभवतः भारत में कोई आधार न होने के कारण) और बिल्कुल ऐसा ही अमल में लाया गया क्योंकि 'तीसरी कांग्रेस'[2] के 'डेलीगेटों की सूची' में 'भारत—कम्युनिस्ट पार्टी, का उल्लेख किया गया था जबकि इससे पूर्व इन्हें 'आमंत्रित गुटों की सूची' *और भारतीय 'कम्युनिस्ट गुट'[3] कहा गया था।*

ताशकंद और मास्को में पहले कम्युनिस्ट गुट के रूप में संगठित भारतीय कम्युनिस्टों के सम्बन्ध में हमारे मूल्यांकन के सारतत्त्व को नहीं बदला जा सकता, जिसने कि विदेश में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण का प्रयास किया तथा भारतीय *कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए आधार तैयार किया।*

टी० एफ० देवयाकिन उक्त निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। यद्यपि वे भी इस बात को स्वीकार करती हैं कि ताशकंद गुट ने "भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण में प्रचारात्मक कार्य तथा कम्युनिस्ट पार्टी की घोषणा करके एक निश्चित भूमिका निभाई है।"[4] दरअसल, टी० एफ० देवयाकिन से तर्क करने में मुश्किल यह है कि वे ताशकंद समूह की 'एक निश्चित भूमिका' मानते हुए उसे महत्त्व देती हैं किन्तु सम्पूर्ण निर्णय को अस्पष्ट एवं अनिश्चित भी बना देती हैं। उन्होंने अपनी शब्दावली 'एक निश्चित भूमिका' के समर्थन में तथा हमारे निष्कर्ष के विरुद्ध निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किए हैं :—

1. ताशकंद-गुट के ठीक एक या दो वर्ष बाद भारत में कम्युनिस्ट-गुटों का जन्म

---

1. देखिए : कामिंटर्न के लघु ब्यूरो का भारतीय आयोग।
2. कामिंटर्न की तीसरी विश्व-कांग्रेस—शाब्दिक प्रतिवेदन, पैट्रोग्राद, पोलीश पब्लिशर्स, 1922, पृ० 496
3. वही, पृ० 8-9; कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल, नं० 16-17, 1921, पृ० 122
4. टी० एफ० देवयाकिन, एम० एन० पेरोरोवा, ए० एम० मेल्निकोव, भारत

हुआ तथा ताशकंद-गुट ने 'सीपीआई के निर्माण मे आधारभूत (आंगिक) तत्त्वों की भांति कार्य किया।" जबकि सोवियत रूस मे गठित गुट ने "जल्दी ही कार्य करना बंद कर दिया तथा इसके सदस्यों ने दूसरी एसोसिएशनों में कम्युनिस्टों के रूप मे काम किया और कुछ अपवादों को छोड़कर वे प्रवासी बने रहे।"[1]

2. "एम० एन० रॉय का समूह कम्युनिस्टो का पहला प्रवासी संगठन नही है" क्योंकि "1920 के आरंभ मे बर्लिन मे भारतीय कम्युनिस्टो की एक समिति बन चुकी थी, यद्यपि इसके बारे में बहुत कम सूचनाएँ उपलब्ध हैं।"[2]

दुर्भाग्य से, टी० एफ० देवयात्किन अपने पहले तर्क मे यह बता पाने मे असफल रहीं हैं कि भारत मे "सीपीआई के निर्माण के आधारभूत (आंगिक) तत्त्वो" का विकास ताशकंद गुट से भेजे गए सदस्यों द्वारा हुआ था। ताशकंद गुट ने काम करना क्यों बंद कर दिया? इसका कारण यह हो सकता है कि इसके अधिकांश सदस्य भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण करने तथा पश्चिमी यूरोप मे विदेशी केन्द्रों की स्थापना करने के लिए भेज दिये गए थे, जिसने भारत मे कम्युनिस्ट आंदोलन की भूमिका बनाने मे योग दिया।

ताशकंद गुट के 'कार्य बंद कर देने' का सबसे प्रमुख कारण भारत जाकर कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के लिए तैयारियाँ तथा कम्युनिस्ट आंदोलन को विकसित करने के उद्देश्य से पश्चिमी यूरोप मे विदेशी केंद्रों की स्थापना के लिए इसके अधिकांश सदस्यों को भेजा जाना था।

दूसरे तर्क मे, कम्युनिस्टों के बर्लिन गुट के बारे मे 'बहुत थोड़ी सूचना' का कोई आधार नहीं है और न ही भारत में इसकी गतिविधियो का कोई अता-पता है। बहरहाल, ताशकंद समूह ही सांगठनिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पहला कम्युनिस्ट समूह है जिसे कॉमिंटर्न मे कम्युनिस्ट पार्टी के रूप मे स्वीकृति प्राप्त हुई। इसमे पूर्णत: स्पष्ट है कि भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन को जन्म देने वालों मे ताशकंद समूह की अग्रणी भूमिका रही है।

सोवियत रूस में उद्भूत भारतीय कम्युनिस्टो के पहले समूह की वस्तुस्थिति से बुर्जुआ इतिहासकारों के उस विचार की पुष्टि होती हुई प्रतीत होती है कि भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन की 'पौध विदेश मे तैयार हुई और भारत की भूमि

---

1. टी० एफ० देवयात्किन, एम० एन० येगोरोवा, ए० एम० मेलिन्कोव, भारत मे कम्युनिस्ट आंदोलन का उद्भव, पृ० 79
2. वही

में इसे आरोपित किया गया' और यह 'मास्को के एजेंटों की गतिविधियों···'[1] का परिणाम था, भारत में श्रमिक जनता के उत्थान के लिए क्रांतिकारी संघर्ष के लिए कोई आधार नहीं था।[2]

ड्रुहे की मान्यता है कि भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन की उत्पत्ति 'लाल एजेंटों' की गतिविधियों के फलस्वरूप हुई। वह लिखता है: "लाल एजेंट उन परिस्थितियों के साधनमात्र थे *जिनका कम्युनिज्म में रूपांतरण विशुद्ध दैवी घटना है।*"[3] हेयकॉक्स भी भारतीय साम्यवाद के उद्भव को कामिंटर्न एजेंट तथा मास्को से प्राप्त धन का *कारोबार मानता है। यह इतिहासकार तो और भी आगे निकलकर अपने पाठकों को* उकसाने का प्रयास करते हुए लिखता है कि कम्युनिस्टों की राष्ट्रीय स्वाधीनता *की माँग के पीछे एकमात्र उद्देश्य यही था कि वे राष्ट्रीय क्रांतिकारियों को आसानी* से अपने 'मत में दीक्षित', 'प्रविष्ट' और 'रूपांतरित' कर सकें।[4] भारतीय बूर्ज्वा इतिहासकार ज़फ़र इमाम की मान्यता भी यही है कि भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना का निश्चय सोवियत नेताओं द्वारा किया गया, न कि, स्वयं भारतीयों द्वारा। वे भारत में क़दम जमाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने देश में कम्युनिस्ट समूहों की स्थापना की।[5] ओवरस्ट्रीट और विंडमिलर अपने गम्भीर अध्ययन के बावजूद भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के जातीय आधार के प्रश्न पर अतार्किक हो गए हैं। ये दोनों भी भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन के उद्भव के प्रश्न पर धन और कामिंटर्न के राजनीतिक समर्थन को ही निर्णयकारी मानते हैं, जो प्रेरकों के हित में था। वे लिखते हैं कि "यह संभावना है कि दूसरे अधिकांश भारतीयों की तरह वह (रॉय आदि) भी कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की ओर आकर्षित

---

1. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेज़ (1930-1956) वी० बी० कार्निक की प्रस्तावना सहित, दी इन्स्टीट्यूट ऑफ पेसिफ़िक रिलेशन्स, बम्बई, 1957, VII-VIII
2. देखिए, उदाहरणार्थ: पेलिंग हेनरी, ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी: एक ऐतिहासिक रूपरेखा, ब्लॉक, लन्दन, 1958, पृ० 41-42
3. डेविड एन० ड्रुहे, सोवियत रूस और भारतीय साम्यवाद, 1917-1947, पृ० 53
4. जॉन पी० हेयकाक्स, भारत में साम्यवाद और राष्ट्रवाद, एम० एन० रॉय और कामिंटर्न-नीति, 1920-1939, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1974
5. ज़फ़र इमाम, पूर्व-पश्चिम संबंधों में उपनिवेशवाद, भारत और एंग्लो-सोवियत संबंधों के संदर्भ में सोवियत नीति का अध्ययन, 1917-1947, ईस्टर्न पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1969, पृ० 153

हुए, लेकिन भारत में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में कामिंटर्न की ओर मुड़ना उनके वैचारिक मंतव्यों के कारण न होकर राजनैतिक एवं वित्तीय समर्थन की दृष्टि से था।[1] बहरहाल, ये सभी विवाद इन लेखकों की कम्युनिस्ट-विरोधी दृष्टि के कारण स्वाभाविक हैं, जिसने इन्हें इतिहास की वास्तविकता के प्रति अंधा बना दिया है। जब कि वास्तविकता यह है कि साम्राज्यवादियों की उपनिवेशवादी नीतियों ने पूरब के देशों में साम्यवाद के लिए उर्वर जमीन तैयार की, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय क्रांतिकारी बोल्शेविकों की ओर उन्मुख हुए।

ईरान में बोल्शेविक-प्रचार के लिए सोवियत मंत्री, एफ० ए० रोदस्तीन द्वारा धन खर्च किए जाने संबंधी आर एस एफ एस आर की सरकार के प्रति ब्रिटिश टिप्पणी पर दिसम्बर 1921 के एक ईरानी समाचार-पत्र 'सेतारिए ईरान' में कहा गया है कि "प्रबुद्ध ब्रिटिश नेताओं को वर्तमान रूसी सरकार पर आरोप लगाने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि उन्हें मालूम होना चाहिए कि पूरब के देशों में रूसी प्रचार का अवसर उन्हीं की नीतियों ने दिया है। यदि तुर्की में सुख-चैन है तो क्या वहाँ समाजवाद के प्रचार की कोई आवश्यकता है? यदि भारत में सब कुछ ठीक-ठाक है तो रूसी प्रतिनिधियों का समाज पर कोई प्रभाव हो सकता है? पूरब के देशों में ब्रिटिश सरकार के प्रति जनता की नाराजगी का कारण रूसी प्रतिनिधियों का स्वार्थ न होकर इंग्लैंड की जन-विरोधी आक्रामक नीतियाँ हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस सबके अलावा न तो तुर्की को और न ही अफगानिस्तान को ऐसी किसी समस्या का सामना करना पड़ता। यदि वहाँ ब्रिटिश शासन की जन-विरोधी नीतियाँ नहीं होतीं। पूरब के देशों में बोल्शेविकों से सौहार्द के लिए अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियाँ ही जिम्मेदार हैं।"[2]

इसके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी है कि भारतीयों का पहला कम्युनिस्ट समूह—एम० एन० रॉय, ए० मुखर्जी और पी० आचार्य, पूर्व राष्ट्रीय क्रांतिकारी—सोवियत रूस पहुँचने से पहले ही स्वयं को कम्युनिस्ट मानता था और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण में इनका हाथ था, जब कि इसके विपरीत लेनिन एवं अन्य बोल्शेविक उनसे कम्युनिस्ट नीतियों के संदर्भ में संयत रहने तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ने का आग्रह कर रहे थे। स्वयं एम० एन० रॉय ने सितम्बर 1925 में यह स्वीकार किया कि लेनिन की सयत रहने की सलाह की 1920 में उसने उपेक्षा की, लेकिन बाद में जब असलियत का

---

1. जीन डी० ओवरस्ट्रीट, मार्शल विंडमिलर, भारत में साम्यवाद, पृ० 36
2. देखिए: 'पर्सिया: आर्थिक और राजनीतिक भावार्थ', ईसीसीआई बुलेटिन, 1 जनवरी 1922, न० 1 (ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 522, पृ० 151-152) (रूसी भाषा में)

पता लगा तो उसकी सराहना की। भारत में पार्टी-कार्य पर 1925 के प्रतिवेदन में उन्होंने बताया कि "1923 तक हमें कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण से विरत रहने की सलाह दी जाती रही। अभी परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं''उसके उपयुक्त जमीन तैयार नहीं हुई है, बौद्धिक नेतृत्व अपर्याप्त है। सर्वहारा बहुत पिछड़ा हुआ है। इसलिए, कम्युनिज्म के विचार से अनभिज्ञ सदस्यों द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण करना भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। हमें पूरब के कम्युनिज्म तथा के मुक्ति आंदोलनों के खतरों से लेनिन की चेतावनियों ने सजग किया।"[1]

बहरहाल, बुर्ज्वा और निम्न बुर्ज्वा बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी सोवियत रूस गए। किसी ने उन पर कम्युनिस्ट बनने के लिए दबाव नहीं डाला। उन्होंने कम्युनिज्म को स्वेच्छा से स्वीकार किया।

सवाल उठता है कि भारतीय क्रांतिकारियों को सोवियत रूस जाने तथा कम्युनिज्म को अपनाने के पीछे कौन से कारण थे? साम्राज्यवाद-विरोधी स्वाधीनता-संघर्ष ने ही भारत में इसके लिए राष्ट्रीय आधारभूमि निर्मित की थी। यह भी एक तथ्य है कि भारत के पहले अधिकांश कम्युनिस्ट, राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की पाँत में से ही आए थे। इन राष्ट्रीय क्रांतिकारियों ने वर्षों तक विभिन्न संगठनों में अलाभकारी कार्य करके यह स्वीकार किया कि मुक्ति आंदोलन की समस्याओं के समाधान में अकेला 'राष्ट्रवाद' पर्याप्त नहीं है। सोवियत रूस की अक्टूबर क्रांति ने उन्हें मार्क्सवाद-लेनिनवाद की ओर आकर्षित किया, और तब यह स्वाभाविक था कि वे सोवियत रूस में भी रुचि लेते। पश्चिमी यूरोप में उन्होंने अपना बड़ा समय गँवाया इसलिए सोवियत रूस में ही वे वास्तविक समर्थन जुटा सकते थे तथा साम्राज्यवाद विरोधी उद्देश्यों एवं हितों की दृष्टि से एकजुट हो सकते थे और यहीं पर उन्हें रूसी सर्वहारा के क्रांतिकारी अनुभवों की शिक्षा मिल सकती थी, जिनकी कि उन्हें सबसे पहले आवश्यकता थी।

इसी का परिणाम था कि भारत में 1921-1922 में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दंडित किए जाने के बावजूद कम्युनिस्ट समूहों का बनना शुरू हो गया। कलकत्ता, बम्बई, लाहौर और मद्रास में कुछ लोगों, पहले राष्ट्रीय क्रांतिकारियों, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वामपंथी, या ट्रेड यूनियनों के जुझारू लोगों ने 'एक-

---

1. सी पी एस आई एम एस, एम०एन० रॉय ने ताशकंद में सीपीआई के निर्माण का उल्लेख नहीं किया है जैसे कि इस संबंध में कुछ हुआ ही न हो। इसका कारण उनका यह अनुभव हो सकता है कि यह विदेश में जन्मा एक कम्यु-

दूसरे से अलग एक अखिल भारतीय पार्टी के निर्माण का साहस दिखाया।'[1]

इसलिए, भारत मे कम्युनिस्ट समूहों के लिए जमीन न होने की बात बिल्कुल आधारहीन है। जब कि ब्रिटिश अधिकारियों ने कम्युनिस्ट भावनाओं का निर्दयता-पूर्वक दमन किया हो। उनके दमन तथा कम्युनिस्ट-विरोधी नीतियो के बावजूद भारत में कम्युनिस्ट आदोलन के लिए एक स्वाभाविक ऐतिहासिक वातावरण तैयार हुआ।

यद्यपि भारत के राष्ट्रवादी क्रांतिकारियो के लिए उनकी पुरानी निम्न-बूर्ज्वा क्रातिकारी अवधारणाओ को आसानी से न त्याग पाने के कारण, मार्क्सवादी सिद्धांतों पर पूरा अधिकार करने की एक लम्बी एव जटिल प्रक्रिया से गुजरना था। 1920-1921 मे भारतीयों के पहले कम्युनिस्ट समूह के कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के प्रयत्न वैसे तो ठीक थे लेकिन वे मार्क्सवाद मे दक्षता के अभाव के कारण विफल हुए। भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दशा अभी इसके अनुकूल नही थी और न ही उन्हे विदेश मे प्रवासी क्रातिकारी समुदाय के माध्यम से उत्पन्न किया जा सकता था क्योकि वे भी भारतीय समाज का ही एक अग थे।

कानपुर में दिसम्बर 1925 तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की विधिवत घोषणा हो जाने पर भी भारतीय एवं प्रवासी कम्युनिस्ट तत्त्वो के संयोग से इसकी आधारभूमि तैयार नही हो सकी थी। इसके बाद भी पार्टी-निर्माण मे कई वर्ष लग गए। ऐसा तभी सभव हो पाया, जब भारतीय श्रमिक वर्ग के आदोलन से मार्क्स-वादी समाजवाद एकरूप हुआ। इसलिए, सोवियत रूस में जन्मे पहले कम्युनिस्ट गुट तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के गठन की लम्बी प्रक्रिया मे 'मास्को की क्या भूमिका' रही होगी, इसमें गलत क्या है?

सयोग से, इन घटनाओं के पीछे 'मास्को का हाथ' था लेकिन वह उपनिवेशों पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव था तथा उसकी पूर्ति रूसी कम्युनिस्टो के सहज कार्य-व्यवहार से हुई, जोकि इच्छुक साथियों को अपने क्रातिकारी अनुभवों को सिखाने की अभिलाषा रखते थे।

सोवियत रूस में उद्भूत पहले भारतीय कम्युनिस्ट गुट का महत्त्व इस बात में नही है कि वह पहला था, वरन् उसकी गतिविधियों एवं कामो में उसका महत्त्व निहित है। सोवियत सहायता से उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि इनकी वाम-संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों ने काम मे बाधा डाली तथापि भारतीयों के रूढ़िवादी धार्मिक एव जातिपरक विश्वासों को समाप्त कर राजनैतिक चेतना

---

1. मुजफ्फर अहमद, मैं और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, 1920-1922, नेशनल बुक एजेंसी प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता, 1970, पृ० 78

आरंभिक भारतीय कम्युनिस्टों ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धांतों के अध्ययन तथा सोवियत जनता के समाजवादी समाज के निर्माण के प्रयासों तक ही स्वयं को सीमित नहीं रखा। उन्होंने सोवियत रूस में जो ज्ञानार्जन किया, उसे राष्ट्रीय क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों में फैलाने का प्रयत्न किया। ऐसे क्रांतिकारी कुछ समय पूर्व ही नए कम्युनिस्ट ग्रुपों का निर्माण कर चुके थे।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संविधान के लिए परिस्थितियों के निर्माण की दृष्टि से, वाम-संकीर्णतावादी विचारों के बावजूद रॉय ने पर्याप्त वैचारिक एवं राजनीतिक काम किया।

राष्ट्रीय क्रांतिकारियों से अपने सम्पर्कों का उपयोग करते हुए उन्होंने बहुत उपयोगी काम किया। रॉय ने अपने व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार तथा प्रकाशित वक्तव्यों में राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के आतंकवाद तथा वास्तविक जनता की उपेक्षा से संबंधित उनकी रणनीतियों की असंगति और नुकसान को हमेशा दर्शाया। इस पद्धति से वे अनेक राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों को मार्क्सवाद के नज़दीक लाए।[1] उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वामपंथियों को श्रमिक जनता के हितों का ध्यान रखने संबंधी अनेक जरूरी अपीलें बार-बार जारी की।

1921 में एम० एन० रॉय ने कामिंटर्न की अनुमति से 'कम्युनिज्म के तीन मंत्रियों'—मुहम्मद अली, मुहम्मद शफ़ीक और नलिनी गुप्ता—को भारत या उसकी सीमाओं के समीप भेजा। मोहम्मद अली उत्तर भारत में संगठन के लिए प्रचार की दृष्टि से 1921 के बसंत में काबुल पहुँचे। उनका कई प्रवासी राष्ट्रीय क्रांतिकारियों से सम्पर्क हुआ, तथा कम्युनिज्म के संदर्भ में अली ने उनका दिल जीतने का प्रयास किया। मोहम्मद अली ने इसे बहुत दक्षतापूर्वक सम्पन्न किया, वे जिन लोगों के सम्पर्क में आए उन्हें रूसी क्रांति तथा दूसरे देशों में इसके प्रभावकारी उपयोग के बारे में थोड़ा या अधिक कुछ भी पता नहीं था।[2]

मुहम्मद अली ने काबुल में अपने पुराने एवं नए मित्रों की सहायता तथा एफ० एफ० रासकल्निकोव के सहकर्म से भारत में मार्क्सवादी साहित्य भेजा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उत्तर भारत के पत्रों में सोवियत रूस के बारे में रचनाएँ प्रकाशित कराने का प्रबन्ध किया तथा कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन के लिए रॉय तथा मुखर्जी का संदेश प्राप्त किया।

मुहम्मद अली के कार्य बहुत उपयोगी रहे। उन्होंने राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के

---

1. विस्तृत विवरण के लिए रूसी भाषा में देखिए : ए० बी० रायकोव, स्वतन्त्रता संग्राम में भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का संगठन, पृ० 202-213
2. देखिए : टी० एफ० देव्यात्किना, एम० एन० वेगारोव, ए० एम० मेलिकोव, [illegible] में कम्युनिस्ट आंदोलन का उद्भव, पृ० 156

एक प्रमुख समूह से, उनकी कम्युनिज्म में आस्था न होने के बावजूद 'उस उद्देश्य के लिए पूरा नैतिक समर्थन'[1] प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। इससे अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण में बहुत सहायता मिली। इसके अतिरिक्त मुहम्मद अली ने साम्राज्यवाद-विरोधी अकाली आंदोलन के एक प्रमुख सिख नेता और कांग्रेस के सदस्य मोटा सिंह को कम्युनिज्म के विचारों से प्रभावित करने में सफलता प्राप्त की। ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दण्डित किये जाने से बचने के लिए वह अफ़ग़ानिस्तान गया था। मोटा सिंह ने कम्युनिस्ट होने की अपनी इच्छा जाहिर की तथा मुहम्मद अली ने उन्हें 'पार्टी सदस्य के रूप में स्वीकृति प्रदान' कर दी। मुहम्मद अली ने मोटा सिंह के पंजाब चले जाने पर भी अपने सम्पर्कों को सुदृढ़ किया तथा 'सम्पूर्ण भारत में'[2] कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के उद्देश्य से उत्तर-पश्चिमी भारत में पहले कम्युनिस्ट समूह को साथ-साथ रखा, जैसाकि उन्होंने आधिकारिक रूप से अपने पत्रों में घोषित किया था। यह सब 1921 के पतझड़ में जालंधर में हुआ।

यद्यपि 1922 के मध्य में मोटा सिंह को गिरफ्तार कर लिया गया तथापि उत्तर-पश्चिमी भारत में कम्युनिस्ट समूहों के गठन का काम जारी रहा। जनवरी 1922 में ताशकंद कम्युनिस्ट समूह के सचिव मुहम्मद शफ़ीक भी काबुल में इनके काम में हाथ बटाने लगे।[3] इनकी सहायता से एक नया कम्युनिस्ट समूह बना तथा गुलाम हुसैन के नेतृत्व में लाहौर में कार्य आरम्भ हुआ।

काबुल में ताशकंद समूह के उक्त दोनों कम्युनिस्टों की गतिविधियों से उनकी वाम-संकीर्णतावादी कट्टरता को त्यागने का पता चलता है। उन्होंने वहाँ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वामपंथी नेताओं से अपने सम्पर्क बनाए। इतना ही नहीं, दोनों तथा ताशकंद के ही उनके पुराने साथी अब्दुल हक 1921 की गर्मियों में काबुल में गठित 'अखिल भारतीय कांग्रेस समिति' में सम्मिलित हो गए, जो एक वर्ष तक अस्तित्व में रही।[4] यह इस बात का प्रमाण है कि वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के

1. देखिए : टी० एफ० देय्याकिन, एम० एन० पेगारोव, ए० एम० मेलिन्कोव, भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन का उद्भव, पृ० 156
2. वही, पृ० 162-163
3. यूरोप जाते हुए उन्होंने 1921 के पतझड़ में भारत को छोड़ दिया था। उन्हें भारत पहुँचना था, यद्यपि वहाँ वे अधिक समय तक नहीं रह सकते थे। उन्होंने बम्बई तथा लाहौर पहुँचने में सफलता प्राप्त की तथा ब्रिटिश पुलिस की नज़रों से बचने के लिए काबुल पहुँचे।
4. देखिए : टी० एफ० देय्याकिन, एम० एन० पेगारोव, ए० एम० मेलिन्कोव, भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन का उद्भव, पृ० 155-156

साथ कम्युनिस्टों की साझेदारी तथा सहकारिता के पक्षधर बन चुके थे, जिसे वे कुछ समय पहले तक नहीं स्वीकार कर पाते थे।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के पक्ष में मुहम्मद शफीक द्वारा 1922 के बसंत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को सम्बोधित एक अपील से सम्बन्धित रोचक सामग्री एम० एन० येगारोव ने संकलित की है। इस अपील पर दोनों कम्युनिस्टों के हस्ताक्षर हैं।[1] लेखक द्वारा रॉय को लिखे पत्रों तथा वामपंथियों द्वारा स्वराज्य के संघर्ष की महत्ता तथा राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की भूमिका को नकारने की भावना के संदर्भ में इस दस्तावेज का मूल्यांकन किया जाय तो महात्मा गांधी ही भारतीय जनता के महान नेता के रूप में उभरकर सामने आते हैं। इस अपील में एक बार पुन: इस बात को उठाया गया था कि कस्बों-देहातों की श्रमिक जनता की आर्थिक माँगों को कांग्रेस अपने कार्यक्रम में शामिल करे।

इन माँगों की पूर्ति करवाने की दृष्टि से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सामर्थ्य पर इनको पूरा भरोसा भी नहीं था इसलिए अपील में बहुसंख्यक श्रमिक जनता की एक बड़ी पार्टी के निर्माण का सुझाव भी इसमें दिया गया था, जो न केवल राष्ट्र की मुक्ति के लिए समर्थ करे बल्कि किसानों-मजदूरों की दशा में सुधार के लिए लड़े। जैसाकि विदित है कि मुहम्मद अली और मुहम्मद शफीक न तो कांग्रेस की समाप्ति में विश्वास करते थे और न ही इससे सहकार की कोई स्पष्ट दृष्टि उनके पास थी, हालांकि वे कांग्रेस के वाम-नेताओं से अपने सम्पर्क बढ़ाते चले जा रहे थे। मसलन, श्रमिक जनता की पार्टी के स्वरूप के बारे में उनकी राय का साफ-साफ पता नहीं चल पाता कि वे कांग्रेस के भीतर इस पार्टी को बनाना चाहते थे या बाहर? इनके सम्बन्धों की स्थिति क्या होगी, यह भी पता नहीं चलता? दूसरे शब्दों में, वे भारत में एकताबद्ध साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे के निर्माण के तरीकों के बारे में बहुत स्पष्ट तौर पर नहीं सोच पाए थे।

यद्यपि उक्त अपील कभी प्रकाश में नहीं आई क्योंकि इस पर महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के नेताओं को विचार कर नया रास्ता सुझाया था। तथापि यह भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन के अस्तित्व को स्वीकारते हुए भारतीय समाज की बड़ी राजनीतिक समस्याओं को दर्शाने में बहुत सक्रिय एवं आक्रामक रुख वाला एक रचनात्मक एवं सकारात्मक दस्तावेज था।

नलिनी गुप्ता ने भी भारत में बहुत उल्लेखनीय कार्य करना आरम्भ कर [illegible]। वे अगस्त 1921 में मास्को में वामपंथी विचारों को स्वीकार कर

1: टी० एफ० देव्यात्किन, एम० एन० येगारोव, ए० एम० मेलिन्कोव, भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन का उद्भव, पृ० 159-161, 237

दिसम्बर के अन्त में मास्को पहुँचे तथा दो माह तक भारत में ठहरे।[1] उन्होंने भारत में आरम्भिक कम्युनिस्ट आंदोलन के सम्बन्ध में प्रचुर सूचनाएँ एकत्र करने में सफलता प्राप्त की तथा देश में बिखरे हुए अलग-अलग गुटों और कामिंटर्न एवं एम० एन० रॉय के विदेशी केन्द्र के बीच आगामी सम्पर्क कायम कराने में सहायता की। एम० एन० येगारोव की राय में तो नलिनी गुप्ता ही वह व्यक्ति थे, जिन्होंने पहली बार कामिंटर्न के समक्ष बम्बई के समाजवादी मुजफ्फर अहमद के कलकत्ता-कम्युनिस्ट समूह तथा सिंगारवेलु चेट्टियार के मद्रास-कम्युनिस्ट गुट को प्रस्तुत किया।[2]

भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन का संचालन करने वालों में केवल मुहम्मद अली, मुहम्मद शफ़ीक़ और नलिनी गुप्ता ही नहीं थे वरन् 1922 के आरम्भ में ही तेरह भारतीय युवा, जिनमें अधिकांश कम्युनिस्ट थे, पूरब के मेहनतकशों के कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय से संक्षिप्त प्रशिक्षण प्राप्त कर राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के लिए लेनिनवादी सिद्धान्तों से लैस होकर रूस की समाजवादी क्रांति से देशवासियों का परिचय कराने के उद्देश्य से भारत गए, जिन्होंने देश के स्वाधीनता-संघर्ष में हिस्सा लिया तथा भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए अपनी गतिविधियों को चारों ओर फैलाया। मीर अब्दुल मजीद, फिरोजुद्दीन मंसूर, रफ़ीक़ अहमद, हबीब अहमद, अकबर शाह, सुल्तान अहमद (या अब्दुल हमीद), अब्दुल क़दीर सहरा, गफ्फूर रहमान, सैयद और निसमुद्दीन क्रांतिकारियों ने अलग-अलग समूहों में पामीरों को पार करते हुए अपने वतन के लिए कठिनाइयों से भरी और लम्बी यात्रा आरम्भ की।[3]

मुहम्मद अकबर खान अपने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में पहले अकेले लौट गए, तत्पश्चात् दूसरे सभी साथी गए। कम्युनिस्ट समूह के निर्दिष्ट कार्यों की क्रियान्विति की दृष्टि से उसने एक प्रिंटिंग प्रेस का प्रबंध किया तथा भारत की स्वाधीन जनजातियों के सीमान्त-क्षेत्रों में प्रचार-साहित्य भेजने की तैयारी की,[4]

1. नलिनी गुप्ता विभिन्न देशों से होते हुए यूरोप पहुँचे। वहाँ मार्च 1922 के अन्त में उन्होंने यह देखा कि भारतीय कम्युनिस्टों के यूरोपियन सूचना ब्यूरो के एम० एन० रॉय प्रमुख बने हुए हैं। इसका पहले से गठन हो चुका था तथा यह पहले से काम कर रहा था। यह विदेश में कार्यरत भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन का मुख्यालय था।
2. देखिए : टी० एफ० देव्याकिन, एम० एन० येगारोव, ए० एम० मेलिन्कोव, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का उद्भव, पृ० 164-168
3. मुजफ्फर अहमद, 'रफ़ीक़ अहमद का यात्रा-वृत्तान्त', भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में इसका गठन, पृ० 35-45
4. वही, पृ० 52-54

लेकिन ये सभी क्रांतिकारी कैद कर जेल भेज दिए गए। 1922-1923 में पेशावर में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा इन पर मुकदमा चलाया गया तथा भारत में ब्रिटिश शासन को 'मास्को ताशकंद-षड्यंत्र' के सहयोग उखाड़ फेंकने का आरोप लगाया गया।

ये औपनिवेशिक अधिकारी भारतीय जनता को सोवियत रूस में निवास तथा समाजवादी विचारों को भारत में फैलाने वालों को कई क़ानूनों के अन्तर्गत दण्डित करने का आतंक फैला रहे थे। मुहम्मद अकबर खान पर दो बार मुक़दमा चलाया गया। पहली बार उन्हें (31 मई, 1922) तीन वर्ष के कारावास तथा दूसरी बार (24 अप्रैल, 1923) एक पत्र की तस्करी के आरोप में सात वर्ष की सजा सुनाई गई। दूसरे क्रांतिकारियों को इसी अवधि की सजाएँ दी गईं।[1]

पेशावर का यह मुकदमा, न केवल भारतीय समाज पर बोल्शेविक प्रभाव का ब्रिटिश उपनिवेशवादियों में भय फैलने का सूचक है वरन् ताशकंद और मास्को में बने पहले कम्युनिस्टों की साहसपूर्ण गतिविधियों का भी साफ़-साफ़ संकेत है।

अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की यह एक लम्बी एवं जटिल प्रक्रिया है, जिसमें आन्तरिक और बाह्य—दो धाराएँ समानान्तर रूप से सक्रिय थीं।

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि एस० वी० घाटे ने ताशकंद-मास्को में बने पहले कम्युनिस्ट समूह की गतिविधियों तथा अपनी राष्ट्रभूमि से उनके सम्पर्कों की उपेक्षा की है। घाटे की मान्यता है कि सीपीआई का गठन कानपुर में आयोजित अखिल भारतीय कम्युनिस्ट सम्मेलन में हुआ, न कि ताशकंद में। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में अनेक भ्रामक तर्कों का उपयोग करते हुए लिखा है कि "इन क्रांतिकारियों का भारत के श्रमिक वर्ग में काम करने तथा समाजवादी गतिविधियाँ चलाने का कोई रिकार्ड नहीं है। इनका देश के किसी समूह से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और इन्होंने आंदोलन का विकास करने के लिए कुछ नहीं किया।"[2]

लेकिन तथ्य यह है कि हरेक क्रांतिकारी ने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों को आरम्भ कर दिया था, यह अलग बात है कि किसी ने पहले आरम्भ किया तो किसी ने थोड़ा बाद में। जो भारतीय, रूस की श्रमिक जनता के क्रांतिकारी अनुभवों के अध्ययन करने तथा भारत के मुक्ति संघर्ष में सोवियत सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से सोवियत रूस गए; क्रांतिकारी रास्ते पर चलने की दृष्टि से

---

1. वही, पृ० 45-52; यह भी देखिए : एम० एम० मेहदी, 'मास्को-ताशकंद षड्यंत्र के पीछे की कहानी' पंजाबी पब्लिशर्स, नई-दिल्ली, 1967, पृ० 3
2. एस० वी० घाटे, 'सी एम पी डिस्टार्टेड हिस्ट्री एबाउट फार्मेशन ऑफ सी पी ऑफ इण्डिया,' न्यू एज, अगस्त 30, 1970, पृ० 4

उनका स्थान पहला होना चाहिए। सबसे पहले मार्क्सवाद का अध्ययन तथा सोवियत रूस में इस सिद्धान्त तथा पथ की स्वीकृति के पश्चात भारत में उसे लोकप्रिय बनाने के लिए कार्य करने का, न केवल भारत के मुक्ति संघर्ष की दृष्टि से महत्त्व है बल्कि देश में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास की दृष्टि से भी इनकी गतिविधियों का उल्लेखनीय योगदान है। आरम्भ में (1921 तक) समाजवादी आंदोलन में इनके भाग न ले पाने का कारण भारत में इस तरह की गतिविधियों का न होना ही है जहाँ तक श्रमिक जनता के आंदोलन में इनके भाग न ले पाने का सवाल है, उसका प्रमुख कारण यही रहा है कि पूरब में निम्न-पूंजीपति वर्ग के बुद्धिजीवियों का सर्वहारा वर्ग के लिए संघर्ष की ओर झुकाव धीरे-धीरे बढ़ा और विकसित हुआ है। यद्यपि यह सब अभी भी सर्वहारा के आंदोलन के नाम से घटित नहीं हो रहा था, यह रुझान कमजोर और स्वत.स्फूर्त था तथापि औपनिवेशिक दासता से मुक्ति पाने के रास्तों की खोज में ये लोग ही मार्क्सवाद की ओर मुड़ने लगे थे। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि सारे पूरब में कम्युनिस्ट आंदोलन की उत्पत्ति सर्वहारा के वर्ग में रूपान्तरण होने से पहले हुई है जोकि वर्ग-संघर्ष की प्रत्याशित अभिव्यक्ति ही है।

इस प्रकार, पूरब में कम्युनिस्ट आंदोलन की उत्पत्ति एक वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया के रूप में हुई है, जिसकी पहल सर्वहारा वर्ग द्वारा न होकर राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में संलग्न जातीय क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों तथा प्रगतिशील जनतान्त्रिक क्रांतिकारियों द्वारा हुई है। भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का मार्क्सवाद की ओर मुड़ने का भी यही रास्ता है।

वस्तुत. पहले भारतीय कम्युनिस्टों का जोर सैनिक स्कूलों के संगठन पर अधिक रहा। यही उनकी उपलब्धि थी। और उस समय यही बात पूरी तरह तर्कसंगत भी थी। क्रांति में सैनिक कारक को अधिक महत्त्व देना, उनके वाम-संकीर्णतावादी विचारों का अंग थी, और पूरब के दूसरे कम्युनिस्टों—चीन, ईरान, तुर्की, कोरिया—से मेल खाती थी।

भारतीय क्रांतिकारियों का सैनिक स्कूल
पूरब की क्रांतियों में सैनिक तत्त्व

एम० एन० रॉय और अन्य अग्रगामी भारतीय कम्युनिस्टों ने राष्ट्रीय बूर्ज्वा वर्ग को न केवल साम्राज्यवाद-विरोधी संभावनाओं से इन्कार किया बल्कि भारतीय सर्वहारा की क्रांतिकारी संभावनाओं से भी। या फिर इनके समक्ष प्रश्नचिह्न लगाया। रॉय और उनके समूह की विचार-प्रणाली में एक ही बात थी कि वे जितनी आवश्यकता और संभाव्यता 'समाजवादी क्रांति' की मानकर चल रहे थे, उतनी लम्बे संघर्ष तथा शक्तियों को एकत्र करने की नहीं। जबकि तत्कालीन

लेकिन ये सभी क्रांतिकारी कैद कर जेल भेज दिए गए। 1922-1923 में पेशावर में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा इन पर मुकदमा चलाया गया तथा भारत में ब्रिटिश शासन को 'मास्को ताशकंद-षड्यंत्र' के सहयोग उखाड़ फेंकने का आरोप लगाया गया।

ये औपनिवेशिक अधिकारी भारतीय जनता को सोवियत रूस में निवास तथा समाजवादी विचारों को भारत में फैलाने वालों को कई क़ानूनों के अन्तर्गत दण्डित करने का आतंक फैला रहे थे। मुहम्मद अकबर खान पर दो बार मुक़दमा चलाया गया। पहली बार उन्हे (31 मई, 1922) तीन वर्ष के कारावास तथा दूसरी बार (24 अप्रैल, 1923) एक पत्र की तस्करी के आरोप में सात वर्ष की सज़ा सुनाई गई। दूसरे क्रांतिकारियों को इसी अवधि की सजाएँ दी गईं।[1]

पेशावर का यह मुकदमा, न केवल भारतीय समाज पर बोल्शेविक प्रभाव के ब्रिटिश उपनिवेशवादियों में भय फैलने का सूचक है वरन् ताशकंद और मास्को में बने पहले कम्युनिस्टों की साहसपूर्ण गतिविधियों का भी साफ़-साफ़ संकेत है।

अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की यह एक लम्बी एवं जटिल प्रक्रिया है, जिसमें आन्तरिक और बाह्य—दो धाराएँ समानान्तर रूप से सक्रिय थी।

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि एस० वी० घाटे ने ताशकंद-मास्को में बने पहले कम्युनिस्ट समूह की गतिविधियों तथा अपनी राष्ट्रभूमि से उनके सम्पर्कों की उपेक्षा की है। घाटे की मान्यता है कि सीपीआई का गठन कानपुर में आयोजित अखिल भारतीय कम्युनिस्ट सम्मेलन में हुआ, न कि ताशकद में। उन्होंने अपने मत की पुष्टि मे अनेक भ्रामक तर्कों का उपयोग करते हुए लिखा है कि "इन क्रांतिकारियों का भारत के श्रमिक वर्ग में काम करने तथा समाजवादी गतिविधियाँ चलाने का कोई रिकार्ड नही है। इनका देश के किसी समूह से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और इन्होंने आंदोलन का विकास करने के लिए कुछ नहीं किया।"[2]

लेकिन तथ्य यह है कि हरेक क्रांतिकारी ने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों को आरम्भ कर दिया था, यह अलग बात है कि किसी ने पहले आरम्भ किया तो किसी ने थोड़ा बाद में। जो भारतीय, रूस की श्रमिक जनता के क्रांतिकारी अनुभवों के अध्ययन करने तथा भारत के मुक्ति संघर्ष में सोवियत सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से सोवियत रूस गए; क्रांतिकारी रास्ते पर चलने की दृष्टि से

---

1. वही, पृ० 45-52; यह भी देखिए: एम० एम० मेहदी, 'मास्को-ताशकंद षड्यंत्र के पीछे की कहानी' पंजाबी पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1967, पृ० 3
2. एम० वी० घाटे, 'दी सी पी आई डिस्टार्ट्स हिस्ट्री एबाउट फार्मेशन ऑफ सी पी ऑफ इण्डिया,' न्यू एज, अगस्त 30, 1970, पृ० 4

उनका स्थान पहला होना चाहिए। सबसे पहले मार्क्सवाद का अध्ययन तथा सोवियत रूस में इस सिद्धान्त तथा पथ की स्वीकृति के पश्चात भारत में उसे लोकप्रिय बनाने के लिए कार्य करने का, न केवल भारत के मुक्ति संघर्ष की दृष्टि से महत्त्व है बल्कि देश में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास की दृष्टि से भी इनकी गतिविधियों का उल्लेखनीय योगदान है। आरम्भ में (1921 तक) समाजवादी आंदोलन में इनके भाग न ले पाने का कारण भारत में इस तरह की गतिविधियों का न होना ही है जहाँ तक श्रमिक जनता के आंदोलन में इनके भाग न ले पाने का सवाल है, उसका प्रमुख कारण यही रहा है कि पूरब में निम्न-पूँजीपति वर्ग के बुद्धिजीवियों का सर्वहारा वर्ग के लिए संघर्ष की ओर झुकाव धीरे-धीरे बढ़ा और विकसित हुआ है। यद्यपि यह सब अभी भी सर्वहारा के आंदोलन के नाम से घटित नहीं हो रहा था, यह रुझान कमजोर और स्वतःस्फूर्त था तथापि औपनिवेशिक दासता से मुक्ति पाने के रास्तों की खोज में ये लोग ही मार्क्सवाद की ओर मुड़ने लगे थे। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि सारे पूरब में कम्युनिस्ट आंदोलन की उत्पत्ति सर्वहारा के वर्ग में रूपान्तरण होने से पहले हुई है जोकि वर्ग-संघर्ष की प्रत्याशित अभिव्यक्ति ही है।

इस प्रकार, पूरब में कम्युनिस्ट आंदोलन की उत्पत्ति एक वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया के रूप में हुई है, जिसकी पहल सर्वहारा वर्ग द्वारा न होकर राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में संलग्न जातीय क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों तथा प्रगतिशील जनतांत्रिक क्रांतिकारियों द्वारा हुई है। भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का मार्क्सवाद की ओर मुड़ने का भी यही रास्ता है।

वस्तुतः पहले भारतीय कम्युनिस्टों का जोर सैनिक स्कूलों के संगठन पर अधिक रहा। यही उनकी उपलब्धि थी। और उस समय यही बात पूरी तरह तर्कसंगत भी थी। क्रांति में सैनिक कारक को अधिक महत्त्व देना, उनके वाम-संकीर्णतावादी विचारों का अंग थी; और पूरब के दूसरे कम्युनिस्टों—चीन, ईरान, तुर्की, कोरिया—से मेल खाती थी।

भारतीय क्रांतिकारियों का सैनिक स्कूल
पूरब की क्रांतियों में सैनिक तत्त्व

एम० एन० रॉय और अन्य अग्रगामी भारतीय कम्युनिस्टों ने राष्ट्रीय बूर्ज्वा वर्ग की न केवल साम्राज्यवाद-विरोधी संभावनाओं से इन्कार किया बल्कि भारतीय सर्वहारा की क्रांतिकारी संभावनाओं से भी। या फिर इनके समक्ष प्रश्नचिह्न लगाया। रॉय और उनके समूह की विचार-प्रणाली में एक ही बात थी कि वे जितनी आवश्यकता और संभाव्यता 'समाजवादी क्रांति' को मानकर चल रहे थे, उतनी लम्बे संघर्ष तथा शक्तियों को एकत्र करने की नहीं। जबकि तत्कालीन

भारत की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ इसे पूरा करने की दृष्टि से अनुकूल नहीं थी।

सर्वहारा में वर्ग-चेतना नहीं थी। इस कारण आर्थिक संघर्ष के माध्यम से राष्ट्र-मुक्ति के नारों का समर्थन करते हुए राजनीतिक जागरूकता की ओर बढ़ा जा सकता था। वस्तुतः, श्रमिक वर्ग को सामाजिक विकास की एक क्रांतिकारी ताकत के रूप में जागरूक एवं रूपांतरित करने का यही एक सार्थक, जरूरी एवं प्रशंसनीय तरीक़ा था। इसके अतिरिक्त भारत में कोई कम्युनिस्ट पार्टी तो थी नहीं, जो सर्वहारा की वर्ग-सक्रियता के आधार पर अपना कार्यक्रम क्रियान्वित कर सके।

औपनिवेशिक भारतीय समाज की विशिष्टताओं को एम० एन० रॉय नहीं समझते थे, ऐसा कोई नहीं मान सकता। निस्संदेह, वे इन्हें समझते थे और इनके बारे में लिखते और बोलते थे, लेकिन उनके वक्तव्यों में आश्चर्यजनक रूप से परस्पर विरोधी बातें होती थीं। उनकी विचार-पद्धति में मार्क्सवाद और निम्न-बूर्ज्वा वर्ग के क्रांतिवाद के तत्त्व सर्वसंग्रही एवं असंगत रूप में मिश्रित रहते थे।

वे भारत की श्रमिक जनता के उच्चस्तरीय वर्ग-संघर्ष की वकालत करते थे तथा 'भावात्मक राष्ट्रवाद' से संबंधित नारेबाजी को बंद कर दिया था। उन्होंने अनेक बार भारतीय श्रमिक वर्ग के आंदोलन के पिछड़ेपन तथा 'शैशवावस्था' को निर्दिष्ट किया तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतर्गत भारतीय सर्वहारा के क्रांतिकारी संगठन की संभावनाओं से इन्कार किया।[1] उन्होंने यूरोप से कम्युनिस्ट-प्रचार के साहित्य को भारत में वितरित करने संबंधी प्रस्ताव का उत्तर देते हुए 23 दिसम्बर, 1920 को लिखा कि "जर्मन में खूबसूरत कागज पर आकर्षक टाइप में प्रचार-साहित्य छापकर चोरी-छिपे भारत भेज देना बहुत आसान है लेकिन इसे पढ़ेगा कौन ? जबकि यहाँ की 90 प्रतिशत जनता निरक्षर है।"

उक्त बाधाओं का अतिक्रमण करने की दृष्टि से रॉय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सोवियत रूस में या स्वतंत्र अफग़ान की सीमाओं में गठित क्रांतिकारी मुक्ति सेना ही भारत में समाजवादी क्रांति को सम्पन्न कर सकती है।

इस तरह के समाधान तक भारतीय कम्युनिस्टों को पहुँचाने का एकमात्र कारण उनका क्रांतिकारी अधैर्य ही नहीं था बल्कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हो गई थीं कि उन्हें इस दिशा में सोचना पड़ा; यद्यपि इसकी भी बड़ी भूमिका रही।

साम्राज्यवादी ताक़तों ने रूस के निकटवर्ती पूरब के बंधुआ देशों का उपयोग करते हुए सोवियत-विरोधी सैनिक हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। भारत

---

1. देखिए : 'भारत के क्रांतिकारी दल का घोषणा-पत्र'—औरत नेशनलस्टेड, 25 जुलाई 1920, पृ० 2

के आरम्भिक कम्युनिस्टों ने ब्रिटिश दलालों को ईरान, अफ़गानिस्तान, बुखारा में सोवियत-विरोधी गतिविधियों को बड़े पैमाने पर आयोजित होते देखा था। इसलिए, उनके पास रूस से भारत में मुक्ति-सेना के प्रस्थान को न्यायसंगत मानने के पर्याप्त प्रमाण थे। यही वजह थी कि वे सोचते थे कि राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष को इन्हीं तरीक़ों से समाजवादी क्रांति की दिशा में मोड़ा जा सकता है। वे गृह-युद्ध में लाल सेना की सफलताओं से बहुत प्रभावित थे तथा क्रांतिकारी संघर्षों में सैनिक रणनीति की कुशलता के प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप में देख रहे थे। लेकिन, वे लाल-सेना की विजयों को ही देख रहे थे, उसके पीछे बहुसंख्यक क्रांतिकारी जनता के सुदृढ़ आधार को नहीं समझ पा रहे थे। जिसकी वजह से वह क्रांति सफल हुई थी। रूस की क्रांति किन्हीं भाड़े के सैनिकों या विदेशी सेना के कारण सम्पन्न नहीं हुई थी, उसकी शक्ति देश के लाखों विप्लवी मेहनतकशों तथा किसानों में अन्तर्निहित थी, जिसका नेतृत्व लेनिन की महान पार्टी कर रही थी। वे इस बात को भूल गये थे कि उनकी स्वदेशी एवं विदेशी प्रतिक्रियावादी ताक़तों पर जीत का निर्धारण अक्तूबर क्रांति से हुआ था। इन 'वाम' कम्युनिस्टों को यह भी स्पष्ट नहीं था कि क्रांति की सैनिक कार्यवाहियों के पीछे जनता को शिक्षित करने का पार्टी का वर्षों का कठिन काम है, जिसने श्रमिक वर्ग के आंदोलन को समाजवादी विचारों से लैस किया तथा सांगठनिक, वैचारिक और सैद्धांतिक रूप में सर्वहारा के नेतृत्व से एकजुट किया है।

आक्रामक सेना की सहायता से क्रांतिकारी युद्ध पर भरोसा करने का एक कारण यह भी रहा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने केवल 4 लाख अधिकारियों और सैनिकों की छोटी-सी सेना की सहायता से एक सौ पचास वर्ष से 40 करोड़ जनता पर अधिकार कर रखा था तथा वे न केवल सोवियत रूस और भारत में समाजवाद से सहानुभूति रखने वालों का निर्ममतापूर्वक दमन कर रहे थे बल्कि सैनिक साधनों वाले प्रजातांत्रिक बूर्ज्वा नेतृत्व का भी। इन आरम्भिक भारतीय कम्युनिस्टों का विश्वास था कि क्रांतिकारी सेना ही ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंक सकती है तथा ऐसी ही सेना के गठन से समाजवादी क्रांति का रास्ता साफ़ हो सकता है।

इन पहले भारतीय कम्युनिस्टों पर निम्न बूर्ज्वा मनोवृत्ति की राष्ट्रवादी क्रांतिकारिता का असर भी था। अनेक सच्चे भारतीय क्रांतिकारी अतिवाद और आतंकवाद से प्रतिबद्ध थे। 1905 की पहली रूसी क्रांति के समय से ही निम्न बूर्ज्वा वर्ग के भारतीय बुद्धिजीवियों ने इस विचार को प्रोत्साहित करना आरम्भ कर दिया था कि ब्रिटिश आधिपत्य से भारत को मुक्त करने में सेना ही निर्णयात्मक भूमिका अदा कर सकती है। राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के विविध विद्रोही

भारत की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ इसे पूरा करने की दृष्टि से अनुकूल नहीं थी।

सर्वहारा में वर्ग-चेतना नहीं थी। इस कारण आर्थिक संघर्ष के माध्यम से राष्ट्र-मुक्ति के नारों का समर्थन करते हुए राजनीतिक जागरूकता की ओर बढ़ा जा सकता था। वस्तुत, श्रमिक वर्ग को सामाजिक विकास की एक क्रांतिकारी ताकत के रूप में जागरूक एवं रूपान्तरित करने का यही एक सार्थक, जरूरी एवं प्रशंसनीय तरीका था। इसके अतिरिक्त भारत में कोई कम्युनिस्ट पार्टी तो थी नहीं, जो सर्वहारा की वर्ग-सक्रियता के आधार पर अपना कार्यक्रम क्रियान्वित कर सके।

औपनिवेशिक भारतीय समाज की विशिष्टताओं को एम० एन० रॉय नहीं समझते थे, ऐसा कोई नहीं मान सकता। निस्सदेह, वे इन्हें समझते थे और इनके बारे में लिखते और बोलते थे, लेकिन उनके वक्तव्यों में आश्चर्यजनक रूप से परस्पर विरोधी बातें होती थीं। उनकी विचार-पद्धति में मार्क्सवाद और निम्न-बूर्ज्वा वर्ग के क्रांतिवाद के तत्त्व सर्वसग्राही एवं असगत रूप में मिश्रित रहते थे।

वे भारत की श्रमिक जनता के उच्चस्तरीय वर्ग-सघर्ष की वकालत करते थे तथा 'भावात्मक राष्ट्रवाद' से सबधित नारेबाजी को बद कर दिया था। उन्होंने अनेक बार भारतीय श्रमिक वर्ग के आंदोलन के पिछड़ेपन तथा 'शैशवावस्था' को निर्दिष्ट किया तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतर्गत भारतीय सर्वहारा के क्रांतिकारी सगठन की सभावनाओं से इन्कार किया।[1] उन्होंने यूरोप से कम्युनिस्ट-प्रचार के साहित्य को भारत में वितरित करने सबधी प्रस्ताव का उत्तर देते हुए 23 दिसम्बर, 1920 को लिखा कि "जर्मन मे खूबसूरत कागज पर आकर्षक टाइप मे प्रचार-साहित्य छापकर चोरी-छिपे भारत भेज देना बहुत आसान है लेकिन इसे पढ़ेगा कौन ? जबकि यहाँ की 90 प्रतिशत जनता निरक्षर है।"

उक्त बाधाओं का अतिक्रमण करने की दृष्टि से रॉय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सोवियत रूस मे या स्वतत्र अफगान की सीमाओं में गठित क्रांतिकारी मुक्ति सेना ही भारत मे समाजवादी क्रांति को सम्पन्न कर सकती है।

इस तरह के समाधान तक भारतीय कम्युनिस्टों को पहुँचाने का एकमात्र कारण उनका क्रांतिकारी अधैर्य ही नहीं था बल्कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हो गई थी कि उन्हे इस दिशा मे सोचना पड़ा; यद्यपि इसकी भी बडी भूमिका रही।

साम्राज्यवादी ताकतों ने रूस के निकटवर्ती पूरब के बँधुआ देशों का उपयोग करते हुए सोवियत-विरोधी सैनिक हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। भारत

---

1. 'भारत के क्रांतिकारी दल का घोषणा-पत्र'—जौरन नेशनल्स्तेइ, 1920, पृ० 2

के आरम्भिक कम्युनिस्टों ने ब्रिटिश दलालों को ईरान, अफग़ानिस्तान, बुखारा में सोवियत-विरोधी गतिविधियों को बड़े पैमाने पर आयोजित होते देखा था। इसलिए, उनके पास रूस से भारत में मुक्ति-सेना के प्रस्थान को न्यायसंगत मानने के पर्याप्त प्रमाण थे। यही वजह थी कि वे सोचते थे कि राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष को इन्हीं तरीक़ों से समाजवादी क्रांति की दिशा में मोड़ा जा सकता है। वे गृह-युद्ध में लाल सेना की सफलताओं से बहुत प्रभावित थे तथा क्रांतिकारी संघर्षों में सैनिक रणनीति की कुशलता के प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप में देख रहे थे। लेकिन, वे लाल-सेना की विजयों को ही देख रहे थे, उसके पीछे बहुसंख्यक क्रांतिकारी जनता के सुदृढ़ आधार को नहीं समझ पा रहे थे। जिसकी वजह से वह क्रांति सफल हुई थी। रूस की क्रांति किन्हीं भाड़े के सैनिकों या विदेशी सेना के कारण सम्पन्न नहीं हुई थी, उसकी शक्ति देश के लाखों मेहनतकशों तथा किसानों में अन्तर्निहित थी, जिसका नेतृत्व लेनिन की महान पार्टी कर रही थी। वे इस बात को भूल गये थे कि उनकी स्वदेशी एवं विदेशी प्रतिक्रियावादी ताकतों पर जीत का निर्धारण अक्तूबर क्रांति से हुआ था। इन 'वाम' कम्युनिस्टों को यह भी स्पष्ट नहीं था कि क्रांति की सैनिक कार्यवाहियों के पीछे जनता को शिक्षित करने का पार्टी का वर्षों का कठिन काम है, जिसने श्रमिक वर्ग के आंदोलन को समाजवादी विचारों से लैस किया तथा सांगठनिक, वैचारिक और सैद्धांतिक रूप में सर्वहारा के नेतृत्व से एकजुट किया है।

आक्रामक सेना की सहायता से क्रांतिकारी युद्ध पर भरोसा करने का एक कारण यह भी रहा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने केवल 4 लाख अधिकारियों और सैनिकों की छोटी-सी सेना की सहायता से एक सौ पचास वर्ष से 40 करोड़ जनता पर अधिकार कर रखा था तथा वे न केवल सोवियत रूस और भारत में समाजवाद से सहानुभूति रखने वालों का निर्ममतापूर्वक दमन कर रहे थे बल्कि सैनिक साधनों वाले प्रजातांत्रिक बूर्ज्वा नेतृत्व का भी। इन आरम्भिक भारतीय कम्युनिस्टों का विश्वास था कि क्रांतिकारी सेना ही ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंक सकती है तथा ऐसी ही सेना के गठन से समाजवादी क्रांति का रास्ता साफ़ हो सकता है।

इन पहले भारतीय कम्युनिस्टों पर निम्न बूर्ज्वा मनोवृत्ति की राष्ट्रवादी क्रांतिकारिता का असर भी था। अनेक सच्चे भारतीय क्रांतिकारी अतिवाद और आतंकवाद से प्रतिबद्ध थे। 1905 की पहली रूसी क्रांति के समय से ही निम्न बूर्ज्वा वर्ग के भारतीय बुद्धिजीवियों ने इस विचार को प्रोत्साहित करना आरम्भ कर दिया था कि ब्रिटिश आधिपत्य से भारत को मुक्त करने में सेना ही निर्णायक भूमिका अदा कर सकती है। राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के विविध विद्रोही

संगठनों का भी यही सिद्धांत था।[1] मसलन, प्रथम विश्व युद्ध के समय देवबंद स्कूल के तत्वावधान में एक अंग्रेज-विरोधी मुस्लिम समाज की स्थापना हुई थी। इस समाज की दृष्टि से भी भारतीय मुक्ति सेना के बल से ही संभव थी। और अफ़ग़ानिस्तान के समर्थन से सीमांत पश्तो जनजाति से इसे गठित करने की आशा थी। देवबंद समाज के एक नेता अब्दुल्ला सिंधी को इस प्रकार की सेना के गठन तथा दूसरे संगठन सम्बन्धी कार्यों के लिए काबुल भेजा गया था।[2] वह अफ़ग़ान की राजधानी में वर्षों तक रहे। वहाँ वे 1915 में महेंद्र प्रताप की भारत की अस्थायी सरकार के सदस्य बने। मुक्ति सेना सम्बन्धी विचारों से इस सरकार के विचार भी मिलते-जुलते थे। 1921 में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नव-गठित समिति के सदस्य बने। भारतीय कम्युनिस्ट मुहम्मद अली तथा मुहम्मद शफ़ीक़ ने काबुल में अब्दुल्ला सिंधी से सम्पर्क किया। अफ़ग़ानिस्तान में सोवियत दूतावास के अध्यक्ष एफ० एफ० रासकोल्निकोव ने 5 मई, 1922 को रिपोर्ट किया कि अब्दुल्ला सिंधी 'कांग्रेस में वामपंथी हैं' और सोचते हैं कि 'पठानों को भारतीय क्रांति को क्रियान्वित में हिस्सेदार बनाया जा सकता है।' यहाँ उल्लेखनीय है कि खालीफ़ेट आंदोलन भी भारत से बाहर मुस्लिम मुक्ति सेना के गठन का विचार रखता था। कहने का तात्पर्य यह है कि मुहाजिरीनों का एकमात्र उद्देश्य एन्टेन्ट ताक़तों के विरुद्ध कमालवादियों के साथ संयुक्त संघर्ष करना ही नहीं था। इस कारण से एम० एन० रॉय ने बहुत उत्साहित होकर सैनिक अभियान के विचार की वकालत की थी।

1915 में हथियारों की खोज में विदेश-भ्रमण पर निकले हुए एम० एन० रॉय ने भारतीय स्वाधीनता के लिए विदेशी सेना के प्रबंध करने का प्रयास किया था। भारतीय क्रांतिकारियों के बर्लिन समूह के एक सदस्य नलिनी गुप्ता ने बताया कि रॉय (मॉर्टिन नाम से कार्यरत) ने 1916 में उनके पास चीन से एक पत्र भेजा जिसमें लिखा था कि "उसने 40,000 से लेकर 50,000 तक चीनी सैनिकों द्वारा भारत पर हमला करने की योजना बनाई है।" यद्यपि, मनमथ सेन और नलिनी गुप्ता ने रॉय की योजना का समर्थन नहीं किया था।

बाहरी सैनिक अभियान से भारत की मुक्ति का विचार इन आरम्भिक कम्युनिस्टों में पहले से मिलता है। यह विचार अधिक पुराना नहीं है।

---

1. देखिए : ए० वी० रायकोव, 'भारत-भारतीय सेना तथा भारत में 1905-1917 राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन, प्राब्लेमी वास्तोकवेदेनिया, सं० 2, 1959
2. देखिए : एम० आर० गोर्डन—पोलोन्सकाया, भारत और पाकिस्तान के सामाजिक चिंतन में मुस्लिम प्रवृत्तियाँ, वस्तोचनाया लितेरातूरा पब्लिशर्स, मास्को, 1963, पृ० 183, (रूसी भाषा में)

सैनिक कारक को मुक्ति-अभियान मे विशेष महत्व मिलने की वजह से कम्यु-निस्ट आम जनता मे कट गये क्योंकि क्रांति की लम्बी और मुश्किल प्रक्रिया में सफल हो पाना कठिन लगा।

पहले भारतीय कम्युनिस्टो के विचार से तत्कालीन भारत के सर्वहारा की वर्ग-चेतनाजन्य दुर्बलता तथा किसानो के साथ उसकी क्रांतिकारी एकता और स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी की पूर्ति सेना के द्वारा हो सकती थी। वे सोचते थे कि सेना की सहायता से आम जनता के चेतना-स्तर को समाजवादी क्रांति तक उन्नत किया जा सकता है। परिणामस्वरूप, मार्क्सवाद-लेनिनवाद[1] के विचारो से श्रमिक जनता के चेतना-स्तर को ऊँचा उठाने की बात छोड़ दी गई। बहरहाल, इस तरह के विचार रखने वाले अकेले भारतीय कम्युनिस्ट ही नही थे।

तुर्की और ईरान के पहले कम्युनिस्ट नेता भी पूरब की क्रांतियो के लिए सेना को प्राथमिक शक्ति के रूप मे दिखाने में कोई सकोच नहीं करते थे। पूरब मे अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद् के अध्यक्ष मुस्तफा सुबी तथा जून, 1920 में ईरानी कम्युनिस्ट पार्टी में पुनर्गठित 'अदालत संगठन' के प्रमुख सुलतान जदेह ने तुर्किस्तान मोर्चे की क्रातिकारी सैनिक परिषद् को 11 मार्च, 1920 को एक पत्र भेजा था।

इन्होंने तुर्किस्तान मे सेना की इकाइयो मे ईरानी श्रमिको को लेने की अनु-मति माँगी थी।[2] ब्रिटेन तथा जारशाही रूस की औपनिवेशिक नीतियो के कारण पर्सिया उनका बाजार बन चुका था तथा वहाँ राष्ट्रीय उद्योग का विकास रुक गया था। इस वजह से ही उक्त अनुरोध किया गया था। बदले मे, उपनिवेशवादियों ने पर्सिया के शहरो मे 'कगाल सर्वहाराओ की फौज' खड़ी कर दी थी। ऐसी परिस्थितियो मे उन्हें कहना पड़ा था कि "हम पर्सिया मे किसानो और अर्ध-सर्वहारा वर्ग को छोड़कर और किसी वर्ग पर अवलम्बित नहीं रह सकते क्योकि हम (कम्युनिस्ट) इग्लैंड द्वारा समर्थित सामतो के कुलीन तत्र से इन्ही की ताकत से लड़ सकते हैं।" यदि ईरानी कम्युनिस्ट पार्टी के पास कुछ सैनिक ताकत है तो यह अलग बात है।

"हमारी पार्टी आशान्वित है कि हम सेना की टुकड़ियो की सहायता से न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति पाएँगे बल्कि हम अपने पूँजीपतियो तथा भू-स्वामियो से भी मुक्त हो जाएँगे और सोवियत गणतंत्र के सोवहितकारी भ्रातृ-भाव को आमंत्रित कर सकेंगे।"

---

1. देखिए : कार्ल मार्क्स एव एफ० एगेल्स, सकलित पत्राचार, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1975, पृ० 331; वी० आई० लेनिन 'आत्मनिर्णय पर बहस' सक-लित रचनाएँ, प्रति 22, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को 1964, पृ० 352-353
2. एम ए सी एम ए, एम 110, आर 1, एफ 74, पृ० 320-321

एक अन्य दस्तावेज़ में ईरानी कम्युनिस्ट पार्टी (अदालत) की तुर्किस्तान एरिया समिति ने लिखा (18 अगस्त, 1920) कि क्रांतिकारी सेना "पूरब में समाजवादी आंदोलन का हिरावल है और वह दिन दूर नहीं जब पर्सिया की दूसरी राजधानी मशहद के बीचों-बीच पर्सिया की लड़ाकू लालसेना अपना ध्वज फहरायेगी।"[1] ऐसा ही विचार कोरिया के पहले कम्युनिस्टों का था। सुदूर पूरब में सोवियत रूस की ओर से संघर्ष में हिस्सा लेने वाले प्रथम कोरिया ब्रिगेड के राजनैतिक विभाग की प्रचारात्मक गतिविधियों के बारे में नवम्बर 1921 की शुरुआत में लिखी गई एक रिपोर्ट में संकेत किया गया था कि "पूरब में क्रांति का एक अंग—'कोरियाई क्रांति' की शक्ति कोरियाई सैनिक इकाइयों में निहित है।"[2]

यह स्पष्ट है कि पूरबी देशों के पहले कम्युनिस्टों की सैद्धांतिक एवं राजनैतिक अपरिपक्वता के कारण सैनिक कारक को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। इससे और आगे, इन पहले कम्युनिस्टों द्वारा यह भी सोचा गया था कि सोवियत सेना के अभियान से एशिया के देशों में मुक्ति तथा समाजवादी क्रांतियों को आरम्भ किया जा सकता है। इस संदर्भ में 20 या 29 जुलाई, 1920 को एक सम्मेलन में सुलतान ज़देह द्वारा पर्सिया में गिलान क्रांति की प्रगति के बारे में लेनिन के सामने दिया गया तर्क उल्लेखनीय है। ईरानी कम्युनिस्टों के नेता ने गिलान में कुछ कृषि-सुधारों का ऐलान कर दिया और इसे अवास्तविक मानते हुए भी 'पर्सिया में अधिक-से-अधिक सेना की टुकड़ियाँ भेजने की' ज़रूरत को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया, जिससे कि तेहरान पर अधिकार किया जा सके"'उन्होंने यह भी दावा किया कि यह करना कोई बहुत कठिन नहीं है क्योंकि 'अधिकांश जनसंख्या लालसेना का इन्तज़ार कर रही है"'।' स्वभावतः, लेनिन ने सुलतान ज़देह के दुस्साहसिक प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया।[3] तुर्की के कम्युनिस्ट मुस्तफ़ा नाफ़ी का वक्तव्य भी इतना ही विशिष्ट था। उसने 'सोवियत गणतंत्र' की 'क्रांतिकारी सैनिक परिषद्' को भेजी फ़रवरी 1921 की एक रिपोर्ट में कहा था: "तुर्की के दुर्भाग्यशाली मज़दूर-किसान और सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग बोल्शेविक लाल सेना का इन्तज़ार कर रहा है और जो तुर्की के पाशा के अत्याचार,

---

1. एस ए सी एस ए, एस 7321, आर I, एफ 22, पृ० 1
2. वही, एस 1709, आर I, एफ० 3, पृ० 40
3. विस्तृत विवरण के लिए देखिए : एम० ए० पेरसिस, 'कमिटर्न की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर पूरब में कम्युनिस्टों और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के बीच सम्बन्ध पर समस्याओं का वैचारिक संघर्ष', नरोदी ए सी ई अफ्रीकी, नं० 5, 1974, पृ० 46

निरंकुशता तथा षड्यंत्र से उनकी रक्षा करने को इस सेना का कर्तव्य समझती है। उत्तर से दक्षिण तक वही उन्हें बचा सकती है क्योंकि पाशा की नीतियाँ ब्रिटिश साम्राज्यवादी एवं पूँजीवादी हैं।"[1] हमारे देश में त्रात्स्कीवादियों के अतिरिक्त, एशिया के जन-संघर्षों में संलग्न कुछ सोवियत कम्युनिस्टों के विचार भी इनसे समानता रखते हैं।[2]

बहरहाल, पूरब के पहले कम्युनिस्टों के वाम-संकीर्णतावादी सिद्धांतों में सैनिक कारक को 'सम्पूर्ण' एवं विशेष महत्त्व दिया गया था, और वह क्रांति के सबसे बड़े तत्त्वों में एक था।

वस्तुतः, पूरबी देशों की अपनी-अपनी आन्तरिक विभिन्नता एवं विशिष्टता की दृष्टि से इन विचारों में विस्तार एवं वृद्धि होती थी। लेकिन कुछ सामान्य कारण भी थे, जैसे—अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में साम्राज्यवादी ताक़तों का सोवियत-विरोधी हस्तक्षेप और गृहयुद्ध के मोर्चों पर लाल सेना का विजय-संघर्ष, निम्न-बुर्ज्वा क्रांतिकारियों में से पूरब के पहले कम्युनिस्टों का उद्भव, एशिया के पहले कम्युनिस्टों की राजनैतिक अपरिपक्वता तथा मार्क्सवाद का कमजोर आधार तथा एशियाई सर्वहारा की दुर्बलता, जिसने आज तक उसका स्वतंत्र वर्ग-आंदोलन नहीं पनपने दिया।

रॉय ने मास्को में ही क्रांति के सैनिक-संस्करण की योजना बनाना आरम्भ कर दिया था। उन्हें तुर्किस्तान में हज़ारों की तादाद में आने वाले प्रवासी भारतीयों के एकसूत्र में बँध जाने की आशा थी, जिसे डूरण्ड स्ट्रिप के अन्तर्गत पामीर से बलूचिस्तान तक फैली स्वतंत्र जनजातियों की इकाइयों से पूर्ण स्वरूप प्रदान करने

1. एस ए सी एस ए, एस 33988, आर 2, एफ 364, पृ० 794
2. देखिए : बो० एम० लेबसन, 'विश्व क्रांति के भविष्य एवं स्थिति का लेनिन का मूल्यांकन, कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस, मास्को, 1972, पृ० 24-25, 32-33; एम० ए० पेरसित्स, 'रूस में पूरबी अन्तर्राष्ट्रवादी तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के कुछ प्रश्न (1918, जुलाई 1920)', कामिंटर्न और पूरब, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1979, पृ० 110-123; इदेम, 'पूरब के आरंभिक कम्युनिस्टों की वाम-संकीर्णतावादी त्रुटियों पर लेनिन के विचार (1918-जुलाई 1920)', नरोदी आसी ई अफ्रीकी, नं० 2, 1970, पृ० 62-69; इदेम, 'कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर पूरब में कम्युनिस्टों और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के बीच संबंध की समस्याओं पर वैचारिक संघर्ष', नरोदी आसी ई अफ्रीकी, नं० 5, 1974, पृ० 45-47; इदेम, 'चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की उत्पत्ति का इतिहास', नरोदी आसी ई अफ्रीकी, नं० 4, 1971, पृ० 55-57

एक अन्य दस्तावेज में ईरानी कम्युनिस्ट पार्टी (अदालत) की तुर्किस्तान एरिया समिति ने लिखा (18 अगस्त, 1920) कि क्रांतिकारी सेना "पूरब में समाजवादी आंदोलन का हिरावल है और वह दिन दूर नहीं जब पर्सिया की दूसरी राजधानी मशहद के बीचों-बीच पर्सिया की लड़ाकू लालसेना अपना ध्वज फहरायेगी।"[1] ऐसा ही विचार कोरिया के पहले कम्युनिस्टों का था। सुदूर पूरब में सोवियत रूस की ओर से संघर्ष में हिस्सा लेने वाले प्रथम कोरिया ब्रिगेड के राजनैतिक विभाग की प्रचारात्मक गतिविधियों के बारे में नवम्बर 1921 की शुरुआत में लिखी गई एक रिपोर्ट में संकेत किया गया था कि "पूरब में क्रांति का एक अंग—'कोरियाई क्रांति' की शक्ति कोरियाई सैनिक इकाइयों में निहित है।"[2]

यह स्पष्ट है कि पूरबी देशों के पहले कम्युनिस्टों की सैद्धांतिक एवं राजनैतिक अपरिपक्वता के कारण सैनिक कारक को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। इससे और आगे, इन पहले कम्युनिस्टों द्वारा यह भी सोचा गया था कि सोवियत सेना के अभियान से एशिया के देशों में मुक्ति तथा समाजवादी क्रांतियों को आरम्भ किया जा सकता है। इस संदर्भ में 20 या 29 जुलाई, 1920 को एक सम्मेलन में सुलतान जदेह द्वारा पर्सिया में गिलान क्रांति की प्रगति के बारे में लेनिन के सामने दिया गया तर्क उल्लेखनीय है। ईरानी कम्युनिस्टों के नेता ने गिलान में कुछ कृषि-सुधारों का ऐलान कर दिया और इसे अवास्तविक मानते हुए भी 'पर्सिया में अधिक-से-अधिक सेना की टुकड़ियाँ भेजने की' ज़रूरत को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया, जिससे कि तेहरान पर अधिकार किया जा सके'''उन्होंने यह भी दावा किया कि यह करना कोई बहुत कठिन नहीं है क्योंकि 'अधिकांश जनसंख्या लालसेना का इन्तजार कर रही है'''।' स्वभावतः, लेनिन ने सुलतान जदेह के दुस्साहसिक प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया।[3] तुर्की के कम्युनिस्ट मुस्तफ़ा नाफी का वक्तव्य भी इतना ही विशिष्ट था। उसने 'सोवियत गणतंत्र' की 'क्रांतिकारी सैनिक परिषद्' को भेजी फ़रवरी 1921 की एक रिपोर्ट में कहा था: "तुर्की के दुर्भाग्यशाली मजदूर-किसान और सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग बोल्शेविक लाल सेना का इन्तजार कर रहा है और जो तुर्की के पाशा के अत्याचार,

1. एस ए सी एस ए, एस 7321, आर 1, एफ 22, पृ० 1
2. वही, एस 1709, आर I, एफ० 3, पृ० 40
3. विस्तृत विवरण के लिए देखिए : एम० ए० पेरसित्स, 'क मिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर पूरब में कम्युनिस्टों और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के बीच सम्बन्ध पर समस्याओं का वैचारिक संघर्ष', नरोदी ए सी ई अफ्रीकी, नं० 5, 1974, पृ० 46

निरंकुशता तथा षड्यंत्र से उनकी रक्षा करने को इस सेना का कर्तव्य समझती है। उत्तर से दक्षिण तक वही उन्हे बचा सकती है क्योंकि पाशा की नीतियाँ ब्रिटिश साम्राज्यवादी एवं पूँजीवादी हैं।"[1] हमारे देश मे त्रात्स्कीवादियो के अतिरिक्त, एशिया के जन-संघर्षों मे सलग्न कुछ सोवियत कम्युनिस्टो के विचार भी इनसे समानता रखते हैं।[2]

बहरहाल, पूरब के पहले कम्युनिस्टो के वाम-सकीर्णतावादी सिद्धातों मे सैनिक कारक को 'सम्पूर्ण' एव विशेष महत्त्व दिया गया था, और वह क्राति के सबसे बडे तत्वो में एक था।

वस्तुतः, पूरबी देशो की अपनी-अपनी आन्तरिक विभिन्नता एव विशिष्टता की दृष्टि से इन विचारो मे विस्तार एवं वृद्धि होती थी। लेकिन कुछ सामान्य कारण भी थे, जैसे—अतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों मे साम्राज्यवादी ताकतो का सोवियत-विरोधी हस्तक्षेप और गृहयुद्ध के मोर्चों पर लाल सेना का विजय-सघर्ष; निम्न-बूर्ज्वा क्रांतिकारियो मे से पूरब के पहले कम्युनिस्टों का उद्भव; एशिया के पहले कम्युनिस्टो की राजनैतिक अपरिपक्वता तथा मार्क्सवाद का कमजोर आधार तथा एशियाई सर्वहारा की दुर्बलता, जिसने आज तक उसका स्वतंत्र वर्ग-आदोलन नहीं पनपने दिया।

रॉय ने मास्को मे ही क्राति के सैनिक-संस्करण की योजना बनाना आरम्भ कर दिया था। उन्हे तुर्किस्तान मे हजारों की तादाद मे आने वाले प्रवासी भारतीयों के एकसूत्र मे बँध जाने की आशा थी, जिसे डूरण्ड स्ट्रिप के अन्तर्गत पामीर से बलूचिस्तान तक फैली स्वतंत्र जनजातियों की इकाइयो से पूर्ण स्वरूप प्रदान करने

1. एस ए सी एस ए, एस 33988, आर 2, एफ 364, पृ० 794
2. देखिए : वी० एम० लेवसन, 'विश्व क्राति के भविष्य एवं स्थिति का लेनिन का मूल्यांकन, कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस, मास्को, 1972, पृ० 24-25, 32-33; एम० ए० पेरसित्स, 'रूस में पूरबी अतर्राष्ट्रवादी तथा राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन के कुछ प्रश्न (1918, जुलाई 1920)', कामिटर्न और पूरब, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1979, पृ० 110-123; ईदेम, 'पूरब के आरभिक कम्युनिस्टो की वाम-सकीर्णतावादी त्रुटियो पर लेनिन के विचार (1918-जुलाई 1920)', नरोदी असी ई अफ्रीकी, नं० 2, 1970, पृ० 62-69; इदेम, 'कामिटर्न की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर पूरब मे कम्युनिस्टो और राष्ट्रीय मुक्ति आदोलनों के बीच सबंध की समस्याओं पर वैचारिक सघर्ष', नरोदी असी ई अफ्रीकी, नं० 5, 1974, पृ० 45-47; इदेम, 'चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की उत्पत्ति का इतिहास', नरोदी असी ई अफ्रीकी, नं० 4, 1971, पृ० 55-57

की योजना थी।

मुक्ति सेना के गठन के लिए सोवियत अधिकारियों की सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से 25 नवम्बर, 1920 को एम० एन० रॉय ने आर एस एफ एस आर की क्रांतिकारी सैनिक परिषद् के उपाध्यक्ष ई० एम० स्कन्यान्सकी को लिखा कि "सीमांतो की जनजातियाँ ब्रिटिश-भारत के विरुद्ध सैनिक उपयोग की दृष्टि से बहुत लाभकारी हैं"। *बाहर की इस 'आक्रामक सेना' से भारत में समाजवादी* क्रांति को सुनिश्चित किया जा सकता है।

शौकत उस्मानी ने रॉय की योजना को स्वीकृति देते हुए लिखा था कि "भारत में कम्युनिस्ट क्रांति की शुरुआत से पहले हमें देश पर अधिकार करना चाहिए, जिससे हमारा काम अधिक आसान हो जाय।"[1] इस सेना के सिपाहियों के समाजवादी विचारों से अनभिज्ञ होने की स्थिति से भारत के इन पहले कम्युनिस्टों के मन में किसी तरह की कोई दुविधा या व्यग्रता दिखाई नहीं देती, चाहे ये प्रवासी भारतीयों के कालीफेट आंदोलन के सिपाही हों या सीमांत जन-जातियों की पितृसत्तात्मक जीवन-पद्धति से निकले तत्त्व हों।

पूरबी देशों के दूसरे कम्युनिस्ट भी सेना के सामाजिक रुझान एवं राजनैतिक स्तर के प्रति उदासीन थे, जबकि वे 'समाजवादी क्रांति' के लिए सेना को प्राथमिक कारक के रूप में देखते थे। *मसलन, मार्च, 1920 के अन्त और अप्रैल के आरम्भ* में ईरानी कम्युनिस्टों के तुर्किस्तान संगठनों ने 'तुर्किस्तान मोर्चे' की सहायता से प्रवासी श्रमिकों का एक स्वयंसेवी अन्तर्राष्ट्रीय पर्सियन सैन्य दल गठित करना आरम्भ किया।[2] लेकिन तुर्किस्तान में ईरानी श्रमिकों से बने इस सैन्य-संगठन के लोग ईरान के पहले कम्युनिस्टों के उद्देश्य—समाजवादी क्रांति—की प्राप्ति के

---

1. सी पी ए आई एम एल
2. अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद् तथा एम० सुबी द्वारा हस्ताक्षरित तुर्की कम्युनिस्ट संगठनों के तुर्किस्तान ब्यूरो की प्रार्थना पर अंतर्राष्ट्रीय पर्सियन सैन्यदल में तुर्की के भूतपूर्व युद्धबन्दियों (Pows) से एक कम्पनी खड़ी की गई थी (एस ए सी एस ए, एस 7321, आर I, एफ 58, पृ० 22 तथा एफ I, पृ०6 एवं एफ 42, पृ० 60), अगस्त 1920 तक इस सैन्यदल में दो सौ तुर्क सम्मिलित किए गये (एस ए सी एस ए, एफ 19, पृ० 25) इनमें से कुछ आधिकारिक स्थिति में थे। मुख्यतः एच० हसानोव, जोकि पूर्व में तुर्की सेना में कर्नल थे, इस सैन्यदल के लम्बे समय तक कमाण्डर रहे (एस ए सी एस ए, एफ० 63, पृ० 38), सैन्यदल के समस्त तुर्कों को सितम्बर-अक्तूबर में तुर्की कम्युनिस्ट संगठनों के केंद्रीय ब्यूरो के मुख्यालय 'बाकू' स्थानान्तरित कर *दिया गया* (एस ए सी एस ए, एफ० 42 पृ० 232, 264)

लिए संघर्ष करने को तैयार नहीं थे। सभवतः उनमे से अनेक मौसमी कामगार सैन्यदल में आश्रय तथा अच्छे भोजन की प्राप्ति के स्वार्थ से भर्ती हुए थे। इन लोगों में पलायन करने, धोखा देने, कलह करने, ताश खेलने, अफीम खाने, धूम्रपान करने, इकाइयो के सामान की कालाबाजारी करने, बिना छुट्टी दिए कार्य से अनुपस्थित रहने तथा राजनीति के क ख ग तक से परहेज करने की आदतें भरपूर थी। सैन्यदल के 99 प्रतिशत लोग निरक्षर थे। अगस्त 1920 के मध्य मे सैन्यदल के प्रमुख एच० हसानोव ने रिपोर्ट की कि उसके लडाकू व्यक्तियो मे अधिकाश 'या तो फटे-टूटे परिधानों वाले और भूखे किशोर थे या वृद्ध' और 'राजनैतिक विभाग भी उनको प्रभावित करने मे असमर्थ था'।[1] इसलिए हसानोव ने 'संघर्ष के लिए मजबूत इकाई' के गठन के उद्देश्य से अच्छे लडाकू लोगों का चयन करने एव 'खराब तत्वों को सैन्यदल से निष्कासित करने का प्रस्ताव किया।' उन्होंने इसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न भी किया। 'तुर्किस्तान मोर्चे' की 'पहली सेना' के 13 अगस्त, 1920 के एक आदेश मे 'पर्सियन सैन्यदल' को "तोपखाने के एक प्लाटून से संयुक्त 'अन्तर्राष्ट्रीय पर्सियन सैन्य सगठन (स्थल) की एक विशेष रेजीमेण्ट' के रूप में पुनर्गठित करने की माँग की गई थी।"[2] 3 सितवर तक इस रेजीमेण्ट की कुल संख्या आरम्भिक सगठन की सख्या से कम 1038 या 2334 थी।[3]

यहाँ पर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास से एक उदाहरण देना प्रासगिक होगा। 1921 मे इसकी पहली काग्रेस मे पार्टी कार्यक्रम के रूप मे यह स्वीकार किया गया कि "क्रातिकारी सेना से सर्वहारा मिलकर पूँजीपति वर्ग के शासन को उखाड फेंकेंगे।" इसमे सेना का पहला स्थान है। सेना को ही सर्वहारा को साथ लेकर 'समाजवादी क्राति' सम्पन्न करनी है।[4] जबकि आरम्भ के चीनी कम्युनिस्टों के पास सेना नहीं थी और वे पूरे चीन मे बडी संख्या में फैले हुए लुटेरों-दस्युओ पर ही भरोसा करती थी। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माताओ मे एक झांग तइली ने कामिंटर्न की तीसरी काग्रेस मे कहा कि ये दस्यु यद्यपि परिपक्व नही हैं

1. देखिए: एस ए सी एस ए, एस 7321, आर 1, एफ 42, पृ० 200, 201 'ए', एफ 17, पृ० 6
2. एस ए सी एस ए, एस 7321, आर 1, एफ 50, पृ० 16
3. वही, एफ 17, पृ० 1
4. एम० ए० पेर्सित्स, 'पूरबी देशों के प्रारम्भिक कम्युनिस्टो की वाम-सकीर्णता-वादी त्रुटियों पर लेनिन के विचार (1918, जुलाई 1920)' नरोदी अजी ई अफ्रीकी नं० 2, 1970, पृ० 64

लेकिन 'क्रांति के लिए संघर्षशील ताक़त' ज़रूर है।[1]

भारत के आरम्भिक कम्युनिस्टों द्वारा 'सीमाओं पर और भारत में सैनि अभियान की योजना'[2] बनाते समय साफ़-साफ़ कहा गया कि यह सेना "स्वत जन-जातियों से निर्मित होगी इसलिए यह स्वाभाविक होगा कि वह भाड़े सैनिकों पर निर्भर होगी।" यह जानते हुए कि यह भाड़े की सेना आसानी से संघ को लूटमार, अपहरण, डकैती और साठ-गाँठ में बदल सकती है इसलिए इसे ह तालों तथा देश के कुछ जिलों एवं क्षेत्रों की मुक्ति कराने तक ही सीमित कर दि गया, जहाँ क्रांतिकारी ताक़तें स्थापित तथा सर्वहारा की सेना की इकाइयाँ गठि हो सकें। इसके साथ ही इन सैनिकों का नेतृत्व कम्युनिस्ट अधिकारियों को सौं गया था। जिसकी भावना यह भी थी कि सर्वहारा की सेना धीरे-धीरे उत्त आक्रामक सेना की ताक़त को संतुलित करते हुए उसका स्थान ले लेगी। बहरहाल क्रांति का नेतृत्व सेना को सौंपा गया, न कि सर्वहारा को।

सयोग से, सर्वहारा की सैनिक क्रांति की सफलता का निश्चय केवल सैनि अभियान तक ही सीमित नहीं था। आरम्भ से ही, इस योजना के निर्माताओं इस बात पर ज़ोर दिया था कि "भारत में सर्वहारा क्रांति की सफलता अन्तत एक मज़बूत एवं अनुशासित पार्टी संगठन पर निर्भर करती है जोकि ग़रीब भूमि हीन किसानों और मज़दूरों में समाजवादी सिद्धांतों को प्रचारित करेगी।" लेकि इस सही विचार के सामने कुछ लोगों द्वारा विवाद खड़ा कर दिया गया। दस्ता वेज़ में कहा गया कि "देश का वर्तमान शासन तथा जनता की परिस्थितियाँ सभ तरह के संगठन और प्रचार को असम्भव नहीं तो अप्रभावी अवश्य बनाती हैं और इसलिए "काम की शुरुआत करने के लिए पर्याप्त एवं बड़े स्तर पर सैनिक अभियान अपरिहार्य है" वास्तविकता यह है कि जनता में प्रचार कार्य की भूमिक को प्रभावी बनाने की दृष्टि से 'सैनिक आंदोलन के साथ सामान्य हड़ताल को जो देने' का विचार उच्च-प्राथमिकता की बजाय गौण बना रहा।[3]

इस योजना ने सर्वहारा एवं किसान आंदोलन का परित्याग कर क्रांति के पूरे ढाँचे को चरमरा दिया, जिससे पार्टी का प्रचार-कार्य और जन-संगठन भी कमज़ोर हुए।

यहाँ पर क्रांतिकारी युद्ध को जन-क्रांति में रूपांतरित करने की योजना के तरीक़े का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। आक्रमणकारी सेना जब ब्रिटिश आधि-

1. नरोदी दलनिग दस्तका, नं० 3, 1921, पृ० 335
2. 'सीमाओं पर और भारत में सैनिक अभियान की योजना', ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 489, पृ० 10-11
3. वही, पृ० 10-11

ताशकंद में पहुँचते ही 'अखिल भारतीय अस्थायी केंद्रीय क्रांतिकारी समिति' ने क्रांतिकारी आक्रमणकारी सेना के गठन की योजना को क्रियान्वित करने का प्रयास किया। यह तय किया गया कि आक्रमण सेना को निर्देश देने के लिए पहले क्रांतिकारी अधिकारियों को प्रशिक्षण देना आरंभ किया जाय। सैनिक स्कूल का गठन करने की योजना 5 अक्तूबर, 1920 तक तैयार हो चुकी थी।[1] 'भारतीय क्रांतिकारी समिति' की गतिविधियों पर लिखे एक प्रतिवेदन में सैनिक स्कूल के गठन को 'मूलभूत सैद्धांतिक कार्य' की संज्ञा प्रदान की गई। साथ ही आह्वान किया गया था . पहला, भारतीय क्रांतिकारियों को हथियार चलाने की शिक्षा देने, जिसे कि वे 75 वर्षों से चले आ रहे अस्त्र-शस्त्र अधिनियम की वजह से कभी नहीं सीख सकते थे; दूसरा, (ब्रिटिश औपनिवेशिक) असंतुष्ट सेना में भीतर-ही-भीतर प्रचार करने; तीसरा, क्रांति के समय ब्रिटिश अधिकारियों का स्थान लेने के लिए भारतीय अधिकारियों को प्रशिक्षित करने तथा क्रांतिकारी इकाइयों को सक्षम आदेश देने का।[2]

भारतीय क्रांतिकारियों ने सैनिक पाठ्यक्रमों के लिए सोवियत सरकार से शिक्षा-सामग्री एवं शिक्षकों की व्यवस्था करने का अनुरोध किया था। उनका यह अनुरोध स्वीकार कर लिया गया था। आर सी पी (बी) केंद्रीय समिति की एक पूर्ण कार्यवाही वाली बैठक में एक विशेष निर्णय लिया गया, जिसे कामिंटर्न से अनुमोदन प्राप्त हुआ। इस निर्णय में भारतीय क्रांतिकारियों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए धन की निश्चित राशि एवं हथियारों की आपूर्ति करना शामिल था।[3] ऐसे ही निर्णय तुर्की एवं ईरानी क्रांतिकारियों के संदर्भ में लिये गए, जो साम्राज्यवाद के विरोध में अपनी जनता के साथ सशस्त्र संघर्षों में भाग ले रहे थे। ये निर्णय सोवियत सरकार की उस अपरिवर्तनीय एवं अचल नीति के तहत थे, जिसमें साम्राज्यवाद से मुक्ति संघर्षों में लगे लोगों को सहायता देना सम्मिलित था और जिसके उद्देश्य सोवियत गणतंत्र के आदर्शों से सम्बद्ध थे। इसके अतिरिक्त, जिन्हें साम्राज्यवादी ताकतें नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहती थीं। इस सहायता के रूप में वे भारतीयों, ईरानियों और तुर्की क्रांतिकारियों को युद्ध-सामग्री एवं सैनिक तथा राजनैतिक शिक्षा दे रहे थे। उन्हें पूरबी देशों के इन पहले कम्युनिस्टों की अव्यावहारिक सैनिक योजना से कुछ लेना-देना नहीं था, जैसाकि

---

1. देखिये : भारतीय क्रांतिकारियों को कमांडिंग ऑफीसरों के रूप में प्रशिक्षित करने हेतु सैनिक स्कूल के निर्माण की योजना की रूपरेखा।
2 ओ आर सी एस ए, एफ 5402, भाग 1, एफ 488, पृ॰ 3
3. देखिए : आर॰ ए॰ उल्यानोव्स्की, 'राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष पर निबंध', नौका प्रकाशन, मॉस्को, 1976, पृ॰ 105-106 (रूसी भाषा में)

बूर्जा इतिहासकारों ने सोवियत रूस द्वारा तुर्की, ईरान और भारत पर अधिकार करने की ओर इशारा किया है।[1] तुर्किस्तान मोर्चे के 11 अक्तूबर, 1920 के एक आदेश में 'अखिल भारतीय केंद्रीय क्रांतिकारी समिति' द्वारा हथियार प्रशिक्षण का भारत का पहला कमाण्डिंग पाठ्यक्रम आरंभ किए जाने की घोषणा की गई।[2] जो जनरल स्टाफ की अकादमी से अण्डरग्रेजुएट एन० ए० किसेलेव के नेतृत्व में आरंभ किया गया। लेकिन किसेलेव को अपना अध्ययन पूरा करने के लिए 21 दिसंबर, 1920 को मास्को जाना पड़ा। उनके स्थान पर खुदयारखानोव नियुक्त हुए तथा फ़रवरी 1921 से, ज़ारशाही समय के अधिकारी जी० एन० फ़्लोव आए, जो लाल सेना में शामिल हो गए थे तथा सैनिक प्रशिक्षणों को सचालित करने का अनुभव रखते थे।[3]

स्कूल का प्रबंध आदि करने में दो महीने लगे। ए० एम० तारकानोव को इस स्कूल का राजनैतिक निदेशक नियुक्त (11 दिसंबर, 1920 को) किया गया। तारकानोव रूसी श्रमिकों, किसानों और सैनिकों के प्रतिनिधि थे। इन्होंने अक्तूबर क्रांति में भाग लिया था और इस समय वे अपने देश की सुरक्षा तथा सोवियत राज के निर्माण में लगे हुए थे। इन्हें भारतीयों की राजनैतिक शिक्षा का दायित्व सौंपा गया। 27 वर्षीय ए० एम० तारकानोव पहले किसान थे, तत्पश्चात् कपड़ा-मज़दूर बने। ये जून 1917 में पार्टी में सम्मिलित हुए और मोर्चों पर लड़े। वह अक्तूबर क्रांति के समय क्रांतिकारी रेजीमेण्ट समिति के अध्यक्ष थे। 1918 में सेना से मुक्त होने पर वे गाँव की एक सोवियत तथा प्रांतीय 'अधिशासी समिति' के अध्यक्ष रहे। 1919 तथा 1920 के आरंभ में वह ज़िला पार्टी समिति में कम्युनिस्ट प्रकोष्ठ के संगठनकर्ता रहे। 1920 में ही थोड़े समय के लिए वे 'मास्को के प्रथम तोपखाना और स्थल सेना पाठ्यक्रमों' के राजनैतिक मामलों के सहायक निदेशक पद पर रहे, जहाँ से उन्हें ताशकंद में भारतीय क्रांतिकारियों के साथ काम करने के लिए भेजा गया।[4]

इस स्कूल के कुछ शिक्षक, प्रशासक एवं अन्य सहायक सदस्यों का एक सोवियत शिष्टमंडल[5] काबुल जाने वाला था लेकिन उसे ताशकंद में ठहरना पड़ा, क्योंकि

1. विस्तृत विवरण हेतु देखिए : कॉमिंटर्न और पूरब, मीमांसा की मीमांसा, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1979
2. एस ए सी एस ए. एस 25025, आर 2, एफ 2, पृ० 2; आर 1, एफ 11, पृ० 1
3. वही, आर 1, एफ 11, पृ० 16; आर 2, एफ 3, पृ० 2-3
4. वही, एस 25025, आर 2, एफ 2, पृ० 22; आर 1, एफ 13, पृ० 2; आर 1, एफ 11, पृ० 2
5. वही, आर 2, एफ 2, पृ० 2,3,4; एफ 28, पृ० 4

ताशकंद में पहुँचते ही 'अखिल भारतीय अस्थायी केंद्रीय क्रांतिकारी समिति' ने क्रांतिकारी आक्रमणकारी सेना के गठन की योजना को क्रियान्वित करने का प्रयास किया। यह तय किया गया कि आक्रमण सेना को निर्देश देने के लिए पहले क्रांतिकारी अधिकारियों को प्रशिक्षण देना आरंभ किया जाय। सैनिक स्कूल का गठन करने की योजना 5 अक्तूबर, 1920 तक तैयार हो चुकी थी।[1] 'भारतीय क्रांतिकारी समिति' की गतिविधियों पर लिखे एक प्रतिवेदन में सैनिक स्कूल के गठन को 'मूलभूत सैद्धांतिक कार्य' की संज्ञा प्रदान की गई। साथ ही आह्वान किया गया था : पहला, भारतीय क्रांतिकारियों को हथियार चलाने की शिक्षा देने, जिसे कि वे 75 वर्षों से चले आ रहे अस्त्र-शस्त्र अधिनियम की वजह से कभी नहीं सीख सकते थे; दूसरा, (ब्रिटिश औपनिवेशिक) असंतुष्ट सेना में भीतर-ही-भीतर प्रचार करने; तीसरा, क्रांति के समय ब्रिटिश अधिकारियों का स्थान लेने के लिए भारतीय अधिकारियों को प्रशिक्षित करने तथा क्रांतिकारी इकाइयों को सक्षम आदेश देने का।[2]

भारतीय क्रांतिकारियों ने सैनिक पाठ्यक्रमों के लिए सोवियत सरकार से शिक्षा-सामग्री एवं शिक्षकों की व्यवस्था करने का अनुरोध किया था। उनका यह अनुरोध स्वीकार कर लिया गया था। आर सी पी (बी) केंद्रीय समिति की एक पूर्ण कार्यवाही वाली बैठक में एक विशेष निर्णय लिया गया, जिसे कार्मिटर्न से अनुमोदन प्राप्त हुआ। इस निर्णय में भारतीय क्रांतिकारियों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए धन की निश्चित राशि एवं हथियारों की आपूर्ति करना शामिल था।[3] ऐसे ही निर्णय तुर्की एवं ईरानी क्रांतिकारियों के संदर्भ में लिये गए, जो साम्राज्यवाद के विरोध में अपनी जनता के साथ सशस्त्र संघर्षों में भाग ले रहे थे। ये निर्णय सोवियत सरकार की उस अपरिवर्तनीय एवं अचल नीति के तहत थे, जिसमें साम्राज्यवाद से मुक्ति संघर्षों में लगे लोगों को सहायता देना सम्मिलित था और जिनके उद्देश्य सोवियत गणतंत्र के आदर्शों से सम्बद्ध थे। इसके अतिरिक्त, जिन्हें साम्राज्यवादी ताकतें नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहती थी। इस सहायता के रूप में वे भारतीयों, ईरानियों और तुर्की क्रांतिकारियों को वस्तु-सामग्री एवं सैनिक तथा राजनैतिक शिक्षा दे रहे थे। उन्हें पूरबी देशों के इन पहले कम्युनिस्टों की अव्यावहारिक सैनिक योजना से कुछ लेना-देना नहीं था, जैसा कि

---

1. देखिये : भारतीय क्रांतिकारियों को कमाण्डिंग ऑफीसरों के रूप में प्रशिक्षित करने हेतु सैनिक स्कूल के निर्माण की योजना की रूपरेखा।
2. ओ आर सी एस ए, एस 5402, आर 1, एफ 488, पृ० 3
3. देखिए : आर० ए० उल्यानोव्स्की, 'राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष पर निबंध', नौका प्रकाशन, मास्को, 1976, पृ० 105-106 (रूसी भाषा में)

बूर्वा इतिहासकारों ने सोवियत रूस द्वारा तुर्की, ईरान और भारत पर अधिकार करने की ओर इशारा किया है।[1] तुर्किस्तान मोर्चे के 11 अक्तूबर, 1920 के एक आदेश में 'अखिल भारतीय केंद्रीय क्रांतिकारी समिति' द्वारा हथियार प्रशिक्षण का भारत का पहला कमाण्डिंग पाठ्यक्रम आरंभ किए जाने की घोषणा की गई।[2] जो जनरल स्टाफ की अकादमी से अण्डरग्रेजुएट एन० ए० किसेलेव के नेतृत्व में आरंभ किया गया। लेकिन किसेलेव को अपना अध्ययन पूरा करने के लिए 21 दिसंबर, 1920 को मास्को जाना पड़ा। उनके स्थान पर खुद्यारखानोव नियुक्त हुए तथा फ़रवरी 1921 से, ज़ारशाही समय के अधिकारी जी० एन० म्लोव आए, जो लाल सेना में शामिल हो गए थे तथा सैनिक प्रशिक्षणों को संचालित करने का अनुभव रखते थे।[3]

स्कूल का प्रबंध आदि करने में दो महीने लगे। ए० एम० तारकानोव को इस स्कूल का राजनैतिक निदेशक नियुक्त (11 दिसंबर, 1920 को) किया गया। तारकानोव रूसी श्रमिकों, किसानों और सैनिकों के प्रतिनिधि थे। इन्होंने अक्तूबर क्रांति में भाग लिया था और इस समय वे अपने देश की सुरक्षा तथा सोवियत राज के निर्माण में लगे हुए थे। इन्हें भारतीयों की राजनैतिक शिक्षा का दायित्व सौंपा गया। 27 वर्षीय ए० एम० तारकानोव पहले किसान थे, तत्पश्चात् कपड़ा-मज़दूर बने। ये जून 1917 में पार्टी में सम्मिलित हुए और मोर्चों पर लड़े। वह अक्तूबर क्रांति के समय क्रांतिकारी रेजीमेण्ट समिति के अध्यक्ष थे। 1918 में सेना से मुक्त होने पर वे गाँव की एक सोवियत तथा प्रांतीय 'अधिशासी समिति' के अध्यक्ष रहे। 1919 तथा 1920 के आरंभ में वह ज़िला पार्टी समिति में कम्युनिस्ट प्रकोष्ठ के संगठनकर्ता रहे। 1920 में ही थोड़े समय के लिए वे 'मास्को के प्रथम तोपखाना और स्थल सेना पाठ्यक्रमों' के राजनैतिक मामलों के सहायक निदेशक पद पर रहे, जहाँ से उन्हें ताशकंद में भारतीय क्रांतिकारियों के साथ काम करने के लिए भेजा गया।[4]

इस स्कूल के कुछ शिक्षक, प्रशासक एवं अन्य सहायक सदस्यों का एक सोवियत शिष्टमंडल[5] काबुल जाने वाला था लेकिन उसे ताशकंद में ठहरना पड़ा, क्योंकि

1. विस्तृत विवरण हेतु देखिए : कॉमिंटर्न और पूरब, मीमांसा की मीमांसा, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1979
2. एस ए सी एस ए, एस 25025, आर 2, एफ 2, पृ० 2; आर 1, एफ 11, पृ० 1
3. वही, आर 1, एफ 11, पृ० 16; आर 2, एफ 3, पृ० 2-3
4. वही, एस 25025, आर 2, एफ 2, पृ० 22; आर 1, एफ 13, पृ० 2, आर 1, एफ 11, पृ० 2
5. वही, आर 2, एफ 2, पृ० 2,3,4; एफ 28, पृ० 4

ब्रिटेन के दबाव की वजह से अमीर ने उन्हें अफ़ग़ानिस्तान में प्रवेश करने से रोक दिया।

भारतीय लोगों के साथ सोवियत नागरिकों के अलावा पहले कुछ युद्धबंदियों (पीओडब्ल्यू)—आस्ट्रियन, जर्मन, स्लोवाक, अंतर्राष्ट्रवादी आंदोलन के सदस्य जो कि सोवियत सरकार की सुरक्षा के लिए गृहयुद्ध के मोर्चे पर लड़ाई में शामिल थे—ने भी काम किया। यहाँ एक आस्ट्रियन कम्युनिस्ट अन्तोन ग्रेनेडर का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा, जो भारतीय सैनिक स्कूल में प्लाटून कमांडर नियुक्त किए गए थे और जिन्होंने एक प्रश्न-पत्रक में 'राष्ट्रीयता' शीर्षक के अंतर्गत 'अंतर्राष्ट्रवादी' लिखा था।[1] उसने एक स्लोविन, इवान कोशिश; जर्मन, फ्रान्ज प्राणोव, तातार, हुसैन यमबुलातोव, बेलोरूसी, द्मित्री सवानोविक—कम्युनिस्ट प्रकोष्ठ के सचिव, उक्रेनियन, इवान मारचेंको—कम्युनिस्ट प्रकोष्ठ के अध्यक्ष, प्लाटून कमांडरों के साथ काम किया।[2]

सर्वहारा अंतर्राष्ट्रवाद ने स्कूल की तमाम गतिविधियों को संचालित एवं प्रभावित किया, जिससे भारत के युवा क्रांतिकारियों को पर्याप्त राजनैतिक शिक्षा उपलब्ध हुई। ग्यारह आदमियों का पहला समूह प्रशिक्षण हेतु 10 नवम्बर को पहुँचा था। वे ग्यारह व्यक्ति शफ़ीक मुहम्मद सिद्दीकी, नज़ीर सिद्दीकी, मसूर फ़िरोजुद्दीन, मिर अब्दुल हमीद, मीर अब्दुल मजीद, फ़िदा अली जाहिद, अब्दुल गफ़रेमान, कुरैशी मुहम्मद शेफ़र, शाह सेल्वी, भिहर बिगोदग, महमजन अब्दुल करीम थे।[3] ये सभी 'वायु विभाग' में प्रविष्ट किए गये तथा इनकी कक्षाएँ 12 नवंबर से एयर प्लाटून कमाण्डर वी० सी० गप्ने के निर्देशन में आरम्भ हुईं।[4] विद्यार्थियों की संख्या में धीरे-धीरे वृद्धि हुई। दिसंबर में जिन आठ भारतीयों को प्रवेश दिया गया, उनके नाम हैं—बशीरुल्लाह गुलाम अहमद, सैयद मुहम्मद, अजीज अहमद, शहा हबीब मुहम्मद, आलीशाह मसूद, गफ़ूर अब्दुर्रहमान, फ़ाज़िल गुलाम अमीर। इनके आने पर थल-सेना मशीन-गन विभाग ने काम करना आरंभ किया। इस स्कूल में इससे अधिक विभाग नहीं थे। नौ व्यक्ति जनवरी 1921 में शामिल हुए, जो इस प्रकार हैं—अब्दुल कयूम, हबीब अहमद मंसूर, गुलाम रसूल, मुहम्मद अब्दुल्ला, इस्माइल खान, फ़ज़ल, अब्दुल हमीद, मुहम्मद क़ासिम, पहलुवान

---

1. एम ए सी एस एम ए, एम 25025, आर 1, एफ 13, पृ० 4
2. वही, आर 2, एफ 7, पृ० 2, 4, 13; आर 1, एफ 13, पृ० 7
3. वही, आर 2, एफ 2, पृ० 7, नाम के पुनर्लेखीय हस्ताक्षरों से उक्त सामग्री प्रस्तुत की गई है।
4. वही, आर 2, एफ 2, पृ० 7

शरीक ।[1]

फ़रवरी के आरंभ मे इस स्कूल मे 27 शिक्षार्थी 'उपस्थित' थे ।[2] आमतौर पर भारतीय क्रांतिकारी समिति के निर्देशों पर दो से चार व्यक्ति विभिन्न कामों मे लगे रहते थे । इसलिए उपस्थित विद्यार्थियों की संख्या वास्तविक संख्या से कम है। नबी बख्श अब्दुर्रहमान, अब्दुल्ला इनायत आदि मार्च मे प्रविष्ट हुए । फज़ल इलाही सहराय, रामदास, कुडूमल, मनव्वर नासिर आदि अप्रेल के माह मे आए ।[3] 22 अप्रेल, 1921 के एक आदेश मे 39 विद्यार्थियों की सूची घोषित की गई थी, जिनमे चार व्यक्ति अपने कामों पर गये हुए थे । कहने का तात्पर्य है कि वास्तव मे 35 ही उपस्थित थे । 25 अप्रेल तक यह संख्या 40 हो गई ।[4] यद्यपि 110 तक की संख्या के लिए यह स्कूल खोला गया था लेकिन विद्यार्थियों की संख्या 40 से अधिक नही हो सकी । लगभग 10 अशिक्षित भारतीयों को 'लाल सैनिकों' के रूप में नामांकित किया गया ।[5] विद्यार्थियों की संख्या मे कमी का कारण एम० एन० रॉय की वाम-संकीर्णतावादी चाल और 'क्रांतिकारी समिति' तथा 'एसोसिएशन' (परिषद्) के बीच चलने वाली अनवरत लड़ाई थी। इस वजह से एसोसिएशन के इच्छुक सदस्य भी इस स्कूल मे दाखिल नहीं हुए ।

विद्यार्थियों के अध्ययन में 'समाजवादी क्रांति' के लक्ष्यों को पुष्ट करते हुए एम० एन० रॉय और ए० मुखर्जी ने भारतीयों को राष्ट्रवाद से दूर बनाए रखा । लेकिन जिनको एम० एन० रॉय ने स्कूल में प्रवेश दिया था, वे भी उक्त कार्य को पूरा करने के लिए तैयार नही थे । इस संबंध में ए० एम० तारकानोव ने लिखा कि "ये विद्यार्थी व्यावहारिक तौर पर समाजवाद को नही समझते तथा जाति-संबंधी एवं धार्मिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं ।"[6]

इसके बावजूद भी रॉय बहुत जल्दबाजी मे थे । वे विद्यार्थियों को गंभीर राजनैतिक शिक्षा के लिए कोई अवकाश नहीं देना चाहते थे । वस्तुतः, वे तुरत-फुरत समाजवादी क्रांति करने के विश्वासी थे । ई० एम० स्क्ल्यान्स्की को लिखे 20 नवबर, 1920 के एक पत्र में उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि सोवियत सैनिक शिक्षा केंद्रों में भारतीयों के प्रवेश न लेने का कारण 'उन पाठ्य-

---

1. एम ए सी एस ए, एस 25025, आर 2, एफ 40, पृ० 1, 2, 5-9
2. वही, आर 1, एफ 2, पृ० 49
3. वही, आर 2, एफ 40, पृ० 8, 10, 11, 16, 17, 20
4. वही, आर 2, एफ 17, पृ० 28
5. वही, आर 2, एफ 2, पृ० 17-19
6. देखिए : ए० एम० तारकानोव की कमिटर्न के अध्यक्ष के नाम 13 मार्च, 1920 की रिपोर्ट, पृ० 2

कमों का संबा होना है' जब कि भारतीयों को "शिक्षा देकर भारत या उसकी सीमाओं पर काम करने भेज दिया जाना चाहिए।" इस स्कूल ने सात महीने कम समय तक काम किया। 27 अप्रैल, 1921 को इसे बंद कर दिया गया।[1] लेकिन विद्यार्थियों को सोवियत रूस में उनका अध्ययन जारी रखने का अवसर दिया गया।

इतना अल्पकालीन होने के बावजूद इस सैनिक स्कूल ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई। सोवियत कमांडरों तथा राजनीतिक अधिकारियों ने बड़े उत्साह से काम किया और भारतीय भाइयों को अपने सैनिक एवं क्रांतिकारी अनुभवों को सिखाने समझाने की कोशिश की। स्कूल में काम करने वाले सोवियत नागरिकों के बारे में मार्च 1921 में ए० एम० तारकानोव ने कहा कि "इस स्कूल के शिक्षक अपने विद्यार्थियों को सैनिक अनुभवों से समृद्ध करना चाहते हैं। यह 'लाल सेना' के कमांडर के लिए 'गृह-युद्ध' तथा क्रांतिकारी संघर्षों की दृष्टि से बहुत जरूरी है। ये अध्यापक अपने विद्यार्थियों में सजग क्रांतिकारी अनुशासन की भावना पैदा करना चाहते हैं।[2] उन्होंने इस बात की ओर भी संकेत किया कि स्वयं ये शिक्षक भी क्रांतिकारी रहे हैं जो 'किसानों-मजदूरों के बीच से आए हैं' और 'जो अपने विद्यार्थियों के बहुत नजदीक हैं।'[3]

सोवियत रूस में कम्युनिस्ट हो जाने वाले तथा इसी स्कूल में पढ़े रफ़ीक़ अहमद ने बाद में बताया कि : "हमने यहाँ मशीनगन चलाना तथा तोप-विद्या का अध्ययन किया। हममें से कुछ ने वायुयान उड़ाना सीखा। रोजाना ड्रिल का अभ्यास करना तो स्वाभाविक था ही।" बहरहाल, लेखक ने लिखा था कि "इस नव-स्थापित सैनिक स्कूल में विद्यार्थियों ने सैनिक एवं राजनैतिक दोनों तरह का प्रशिक्षण प्राप्त किया।"[4]

स्कूल का संचालन करने में अनेक बाधाएँ आईं। अध्यापकों के अभाव तथा रूसी से अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी से उर्दू में अनुवाद की दुहरी प्रक्रिया ने शैक्षिक व्यवस्था को जटिल बना दिया था। इसके अलावा सैनिक साज-सामान की भी कमी थी, यद्यपि एम० एन० रॉय और दूसरे बूर्ज्वा इतिहासकारों की मान्यता है कि सैनिक

1. एस ए सी एस ए, एस 25025, आर 2, एफ 16, पृ० 1-2
2. देखिए : ए० एम० तारकानोव की रिपोर्ट, पृ० 1
3. देखिए : ए० एम० तारकानोव की रिपोर्ट का अनुवाद, एस ए सी एस ए, एस 25025, आर 1, एफ 11, पृ० 11
4. मुज़फ़्फ़र अहमद के 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तथा विदेश में इसका निर्माण, पृ० 30 से उद्धृत; यह भी देखिए : आई० आद्रोनोव, 'पूरब के जागरण के इतिहास से', न्यू टाइम्स, 1967, न० 14, पृ० 12

साज-सामान को 27 डिब्बों वाली दो रेलगाड़ियों द्वारा ताशकंद भेजा गया था।[1] बहरहाल, विद्यार्थियों की राजनीतिक शिक्षा की व्यवस्था करना बहुत कठिन काम था। इसका संबंध न केवल सैनिक स्कूल के प्रमुख तथा राजनीतिक निदेशक से था बल्कि समस्त शिक्षकों एवं पार्टी-संगठन में भी उतना ही था।

ए० एम० तारकानोव ने 'सैनिक प्रशिक्षण केंद्र के ताशकंद बोर्ड' के 'राजनीतिक विभाग' को अपनी एक रिपोर्ट में लिखा था कि "केवल राजनीतिक शिक्षा ही इन विद्यार्थियों को 'क्रांतिकारी नेता' बना सकती है। अंग्रेजी राज्य की दासता से भारत की जनता को मुक्त कराने में, 'लाल कमांडर' तथा क्रांतिकारी सेना के प्रतिभाशाली नेताओं का आचरण अनुकरणीय उदाहरण बन सकता है।"[2] स्कूल के प्रबंधकों ने सैनिक प्रशिक्षण केंद्र के ताशकंद बोर्ड तथा कामिंटर्न को 'पूरब से परिचित' तथा 'राजनीतिक सदृष्टि (विजन)' वाले सामाजिक विज्ञान के अध्यापक भेजने के लिए कई बार कहा था।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि कुछ कम्युनिस्ट सोच वाले परिश्रमी विद्यार्थी राजनीतिक शिक्षा की कमियों को दूर करने के लिए बहुत चिंतित थे तथा इस संबंध में उन्होंने अपनी माँगों को सूत्र-बद्ध भी किया था। सोवियत गणतंत्र के अल्पवास में भारतीय क्रांतिकारियों की अभिरुचियों में कितना विस्तार और विकास हो गया था यह उनकी इन माँगों से पता चलता है। ए० एम० तारकानोव ने फ़रवरी 1921 की अपनी रिपोर्ट में 'सैनिक प्रशिक्षण केंद्र' के ताशकंद बोर्ड के राजनीतिक विभाग को लिखा था कि "राजनीति का क ख ग पढ़ाने के लिए भी हमारे पास अध्यापक नहीं है। मैंने स्वयं यह काम करने पर निष्कर्ष निकाला है कि भारतीयों को राजनीति सिखाने के लिए मैं स्वयं भी उपयुक्त नहीं हूँ। इन विद्यार्थियों ने निम्नांकित विषयों में विशेष रुचि दिखलाई है— विकास एवं क्रांति का इतिहास; कार्ल मार्क्स की कैपीटल; मार्क्स के अर्थशास्त्र के सिद्धांत; साम्यवाद और इसकी ऐतिहासिक परिभाषा; काम कैसे करें; सोवियत राज्य क्या है तथा इसके उद्देश्य, और यह पूँजीवादी राज्यों से किस रूप में भिन्न है; श्रमिक-वर्ग का अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन।"[4]

वास्तविकता यह है कि सामाजिक विज्ञान से संबंधित विषयों में स्तरोन्नयन के लिए जो कुछ करना सम्भव था, वह किया गया। अध्यापकों और व्याख्याताओं की व्यवस्था हुई। बरकत ने 'राजनीतिक कार्य' की शिक्षा दी, कोलोसोव ने राजनीतिक अर्थशास्त्र पढ़ाया, कन्नत्सेव एवं वेरा फ्रीमान ने 'राजनीति का क ख ग'

1. देखिए पृ० 253-256 का अधोभाग।
2. एस ए सी एस ए, एस 25025, आर 1, एफ 11, पृ० 11
3. वही, आर 1, एफ 11, पृ० 9, 11; आर 1, एफ 2, पृ० 54
4. वही, आर 1, एफ 11, पृ० 8

(आरम्भिक ज्ञान) तथा एलक्जेण्डर फ्रीमान को व्याख्यानों को व्यवस्थित करने का प्रभारी नियुक्त किया गया।[1]

भारतीयों को सामाजिक एवं पार्टी गतिविधियों में सक्रिय करने के उद्देश्य से इस स्कूल में आमन्त्रित किया जाता था। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों में से एक संयुक्त कम्युनिस्ट प्रकोष्ठ बनाया गया—एम० शफ़ीक़, मसूद अलीशाह, अब्दुल हमीद, अजीज और सलीम इसके विद्यार्थी सदस्य थे। प्रकोष्ठ के अध्यक्षमंडल के पूर्ण सदस्य के रूप में शफ़ीक तथा वैकल्पिक सदस्य के रूप में अब्दुल हमीद को चुना गया था।[2] भारतीयों ने क्लब-घर में पर्याप्त रुचि ली। मनोरंजन तथा सांस्कृतिक शिक्षा की व्यवस्था के लिए एक आयोग का गठन हुआ, जिसके अध्यक्ष आई० पी० मारचेंको, उपाध्यक्ष नज़ीर तथा सचिव एम० शफ़ीक थे।[3] ए० एम० तारकानोव ने एक विद्यार्थी द्वारा लिखित तीन अंक के एक नाटक—'द मून-रसिया'—की भारतीयों द्वारा पूर्वाभ्यास करने की सूचना दी थी। 12 मार्च, 1921 के दिन एक अंतर्राष्ट्रीय सांध्य-सभा में ये विद्यार्थी 'सर्वहारा सांस्कृतिक समव' के सदस्य बन गए। उन्होंने पहले एक रूसी नाटक तथा बाद में 'मून-रसिया' को प्रभावी शैली में अभिनीत किया।[4] दुर्भाग्य से, इस नाटक का मूल पाठ नहीं मिल सका। इसके शीर्षक से जैसाकि व्यक्त होता है कि इसमें सोवियत रूस की 'अक्तूबर क्रांति' को पथ-प्रदर्शक मशाल के रूप में प्रस्तुत किया गया था जो भारतीयों को भी अपने देश की मुक्ति का एक मार्ग दिखलाती थी। मेरा विश्वास है कि इसका लेखक बीस वर्षीय कवि हबीब वफ़ा रहा होगा, जिसने 'सांस्कृतिक शिक्षा-आयोग' के नाट्य-अनुभाग का निर्देशन किया था।[5] बाद में, उसने सोवियत नागरिकता ले ली तथा सोवियत लेखक संघ का सदस्य हो गया। सोवियत नाट्य-गृहों में उसके नाटक खेले गए तथा उसकी कविताएँ साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। 'पूरबी अध्ययन संस्थान' में वह प्रोफेसर बना तथा 'भारतीय भाषाओं' की पीठ पर काम किया। सोवियत संघ में वही पहला व्यक्ति था, जिसने हिंदुस्तानी के पाठ्य-क्रम को वैज्ञानिक पद्धति से संचालित किया।

सैनिक स्कूल के स्टाफ ने भारतीयों की राजनीतिक शिक्षा एवं निर्देश की

1. एस ए सी एस ए, एस 25025, एफ 2; पृ० 54; आर 2, एफ 36, पृ० 7, 12; आर 1, एफ 2, पृ० 36
2. वही, आर 1, एफ 3, पृ० 6, 7, 13
3. वही, आर 1, एफ 6, पृ० 3
4. वही, आर 1, एफ 11, पृ० 8; एस 110, आर 5, एफ 523, पृ० 4।
5. वही, आर 1, एफ 6, पृ० 3

प्रक्रियात्मक जटिलताओं को समझते हुए कोई हड़बड़ी नहीं दिखाई थी। जब नगर की आर्थिक क्षतिपूर्ति करने वाली सुब्बोत्निको (शनिवार) मे विद्यार्थियों को आमंत्रित करने का सुझाव आया तो शिक्षण-विभाग के प्रमुख एस० कलमिस्तेव ने एक रिपोर्ट में प्रधानाध्यापक को लिखा (फ़रवरी 1921 में) कि "भारतीयों ने स्वयं को अभी तक स्कूल के अनुकूल नहीं बनाया है। वे यहाँ के अनुशासन की परम्पराओं को नहीं समझते तथा अपनी विशिष्ट जातीय पृष्ठभूमि के कारण स्वयं को अलग-थलग रखते हैं। उनकी न तो कोई राजनीतिक शिक्षा है और न ही सैनिक···। इसलिए प्रशिक्षण के पहले कुछ महीनों में उन्हें रविवारों (वस्क्रेस्निकस) को काम के लिए नहीं कहना चाहिए। इस अवधि में उनके राजनीतिक, शारीरिक और सैनिक प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए तथा जितनी जल्दी सम्भव हो सके उतनी जल्दी उन्हें रूसी भाषा सीखने की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।" प्रधानाध्यापक इन बातों से सहमत थे।[1]

भारतीयों ने राजनीतिक शिक्षा मे जितनी जल्दी दक्षता हासिल की, वह आशा से अधिक थी। 14 फरवरी, 1921 को स्टाफ की एक आम बैठक मे देश की युद्ध से ध्वस्त अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण मे शनिवारों और रविवारों को श्रमदान की भूमिका पर विचार-विमर्श हुआ। इसकी रिपोर्ट ए० एम० तारकानोव तथा एम० शफ़ीक ने तैयार की। इन्होंने सोवियत गणतंत्र की कठिन आर्थिक स्थिति की समीक्षा की तथा शिक्षकों, प्रशिक्षणार्थियों तथा लाल सैनिकों को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु काम करने के लिए आमंत्रित किया। शफ़ीक का कहना था कि "भारतीयों को शनिवारों-रविवारों (श्रमदान दिवस) मे पूरे जोश, उत्साह और लगन से काम करना चाहिए क्योंकि सोवियत सरकार ने उन्हें शरण एवं सुरक्षा प्रदान की है और जो पूरब की सर्वहारा की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है।" बैठक में दोनों रिपोर्टों के आधार पर प्रस्ताव पारित किया कि प्रशिक्षणार्थियों को "रविवारों मे उपस्थित होना चाहिए।"[2] 17 अप्रैल को वे सभी रविवारों में सम्मिलित हुए तथा 19 अप्रैल को स्कूल के प्रबंधकर्ताओं ने उनके कार्य का निरीक्षण करने के लिए एक आदेश प्रसारित किया। रविवारों (श्रमदान दिवस) मे सम्मिलित होने वाले इन शिक्षकों तथा भारतीय प्रशिक्षणार्थियों के बारे मे बताया गया कि इन्होंने "पूरी शक्ति और लगन से यह कार्य सम्पन्न किया। और युद्ध से नष्ट सोवियत अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण मे अपने कर्तव्य का पालन किया।" इनकी अभिशंसा में यह उल्लिखित किया गया कि "जब वे अपनी मातृभूमि लौटेंगे तब वे भारतीय सर्वहारा को नेतृत्व प्रदान करने में पूरी तरह सक्षम एवं समर्थ होंगे

1. एस ए सी एम ए, एम 25025, एफ 2, पृ० 49
2. वही, एफ 3, पृ० 12

और ब्रिटिश शासन को अंतिम रूप से समाप्त कर सोवियत शासन जैसे सर्वहारा के शासन की स्थापना करेंगे।"[1]

सभी तरह की शस्त्र-विद्या प्राप्त करने वाले इन पहले भारतीयों की सैनिक शिक्षा के विषय में कुछ कहना तो कठिन है लेकिन राजनीतिक शिक्षा के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इन्होंने राजनीतिक शिक्षा में दक्षता प्राप्त की थी, क्योंकि सामाजिक विषयों के योग्य शिक्षकों ने इनके बीच बहुत काम किया था। वे सोवियत नागरिकों के निकट-संपर्क में आए, तथा इस देश के जन-कार्यों में शिक्षकों के साथ मिलकर काम किया। इस कारण अनेक भारतीयों ने समाजवाद के विचारों को बहुत गहराई से समझा। इसके साथ उन्होंने सोवियत राज्य का स्वरूप और लेनिन के सिद्धांतों पर आधारित नीतियों के सार-तत्त्व एवं सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद और जातीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार को बहुत नजदीक से समझा। वे सोवियत रूस में प्राप्त ज्ञान और अनुभवों से सज्जित होकर भारत लौटे। इस वजह से बोल्शेविक विचारों के प्रभाव से भयभीत होकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत पर रूस के आक्रमण की झूठी अफ़वाहों को प्रचारित किया।

बूर्ज्वा इतिहासकारों की इस संबंध में यही धारणा रही है कि सोवियत रूस ने भारत पर अधिकार करने की योजना बनाई थी तथा इस दिशा में कुछ व्यावहारिक क़दम उठाए गये थे।

भारतीय विद्वान बंद्योपाध्याय का प्रस्थान बिंदु यही है। जबकि उसने इस बात को भी अपनी पुस्तक में स्वीकार किया है कि भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के कुछ नेता, जिनमें महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के नाम भी हैं, सोवियत अधिकारियों के उक्त विचार से सहमत नहीं थे। इस विचार को 'अक्तूबर क्रांति' की विजय के संदर्भ में ब्रिटिश प्रेस द्वारा प्रचारित किया गया था तथा 1919 के आंग्ल-अफ़ग़ान युद्ध के दौरान तथा बाद में बढ़ा-चढ़ाकर विस्तारित किया गया। बंद्योपाध्याय ने गांधी जी के विचार उद्धृत करते हुए कहा है कि "मुझे बोल्शेविक-भयदर्शन (धमकियों) में कोई विश्वास नहीं है।"

इस लेखक ने भारतीय नेताओं के उन वक्तव्यों को कई प्रसंगों में उद्धृत किया है जो भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दमनकारी नीतियों का प्रत्याख्यान करते हैं तथा सोवियत रूस की सहायकारी भूमिका को सराहते हैं। गांधी ने कहा था कि "एशिया के देशों में सोवियत संघ के भ्रातृ-भाव तथा अफ़ग़ानिस्तान में राजा अमानुल्लाह की ब्रिटिश-विरोधी नीतियों ने ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के मन्द उभरते

1. एम ए सी एम ए, एस 25025, भार 2, एच 17, पृ० 21

रूप को अनुशासित रखने में अच्छी भूमिका निबाही है।"[1] बंद्योपाध्याय ने स्वय को इतने तक ही सीमित न रखते हुए कुछ और अरोचक निष्कर्ष निकाले हैं। उसने लिखा है कि यद्यपि महात्मा गांधी की "कम्युनिस्ट विचार दृष्टि से कोई वैचारिक सहानुभूति नहीं थी" तथापि "उस समय सोवियत संघ के बारे में उनके विचार भी यही थे कि प्रत्यक्षतः या परोक्षतः सोवियत संघ विश्व के मुक्ति संघर्षों का सहायक है।" तथा "रूसी क्रांति ने भारतीय जनों की उनके मुक्ति संघर्ष में सहायता की है।" बन्द्योपाध्याय ने यहाँ तक लिखा है कि "उस समय तो भारत के पुराणपंथी रूढ़िवादी नेता भी रूसी क्रांति को अपने पक्ष में मानते थे।"

इसीलिए सवाल पैदा होता है कि अपनी पुस्तक में बन्द्योपाध्याय उक्त वस्तुगत निष्कर्षों से, सोवियत-विरोधी अभियान का सामंजस्य कैसे बिठा पाये हैं? पहले उन्होंने इन राष्ट्रीय नेताओं के 'अक्तूबर क्रांति' के पक्ष में प्रस्तुत किए गए विचारों को असंगत ठहराया है क्योंकि ये भारतीय नेता सोवियत सरकार के आक्रामक स्वरूप को नहीं जान पाए थे। उसने लिखा कि "इन नेताओं के विचार इस बात का संकेत है कि इन्हें भारत के सम्बन्ध में लेनिन, बोल्शेविक सरकार, कॉमिंटर्न, ताशकंद तथा मध्य एशिया के अन्य भागों में सोवियत गतिविधियों की वैचारिक, रणनीतिक और कूटनीतिक दाव-पेचों की जानकारी नहीं थी।"[2]

सोवियत रूस द्वारा सन् 1920 से पूर्व भारत पर अधिकार किए जाने का आरोप उस ब्रिटिश प्रचार का अंग है जिसमें सोवियत संघ के विरुद्ध इंग्लैंड के हस्तक्षेप को न्यायसंगत ठहराया जाता था। सामान्यतया, उस समय साम्राज्यवादी सरकारें सोवियत शासकों पर 'अतृप्त आक्रामकता' तथा पूरे विश्व को अपनी गिरफ्त में कर लेने का आरोप लगा रही थीं। लेनिन ने ऐसे कल्पित एवं भ्रामक आरोपों की खिल्ली उड़ाते हुए इन सरकारों के वर्ग-स्वभाव की पोल खोल दी थी। आर सी पी (बी) की आठवीं कांग्रेस पर पार्टी कार्यक्रम की रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था, "अब सीदमान की पार्टी का कहना है कि हम जर्मनी पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। यह कितना बेहूदा और हास्यास्पद है। लेकिन बूर्ज्वाजी के अपने स्वार्थ हैं और उनके पास अपनी प्रेस है जिसे वह लाखों-करोड़ों की संख्या में छापकर पूरे संसार को वितरित करती है। विल्सन अपने स्वार्थ के कारण इसका समर्थन कर रहा है कि बोल्शेविकों के पास बहुत बड़ी फौज है और वे बोल्शेविकवाद को जर्मनी में आरोपित करना चाहते हैं।"[3]

---

1. जी० बंद्योपाध्याय, भारतीय राष्ट्रवाद'''पृ० 143-144
2. वही, पृ० 143, 144, 145
3. वी० आई० लेनिन, 'आर सी पी (बी०) की आठवीं कांग्रेस, मार्च 18-23, 1919', संकलित रचनाएँ, प्रति 29, 1977, पृ० 173

आज के कुछ पाश्चात्य इतिहासकार पहले से भी आगे बढ़कर इन आरोपों को प्रमाणित करने की खोज में लगे हुए हैं। एक अमरीकन इतिहासकार डेविड एन ड्र्हे, इनमें से एक हैं, जो उक्त सोवियत-विरोधी विचारों की लगाम थामकर सामने आए हैं। इनकी सोवियत एवं कम्युनिस्ट-विरोधी एक पुस्तक 'सोवियत रूस और भारतीय साम्यवाद' में भारतीय क्रांतिकारियों के प्रति अवज्ञा का भाव प्रदर्शित करते हुए उनकी धारणाओं को तोड़ा-मरोड़ा गया है। इसी पुस्तक से वद्योपाध्याय ने अपने तर्कों का मसाला जुटाया है। रूस-भारत के सम्बन्धों के प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालते हुए ड्र्हे बतलाता है कि पॉल और एलक्जेण्डर प्रथम ने नेपोलियन से मिलकर इंग्लैंड को पददलित करते समय भारत पर भी प्रहार किया तथा उन्नीसवीं शताब्दी में दूसरे रूसी ज़ारों ने भारतीय उपमहाद्वीप पर सैनिक अभियानों के निष्फल प्रयास किए। इस सबके बावजूद यह इतिहासकार भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "ज़ारवादी रूस न तो भारत पर आक्रमण कर सकता है और न ही उसे मुक्ति प्रदान करा सकता है। वह इस प्रायद्वीप में ब्रिटिश शासन का स्थान भी नहीं ले सकता।" इसके बाद उसने बिल्कुल भिन्न विषयों से सम्बन्धित"[1] सोवियत मंतव्यों का वर्णन किया है। ड्र्हे का विचार है कि "भारत के संदर्भ में विश्वक्रांति का मतलब है, छद्म रूसी राज्य को ब्रिटिश राज्य का स्थानापन्न बनाना, जो भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में भारत पर अपना शासन स्थापित करता।"[2] यहाँ पर इसी का समानधर्मा किंतु रोचक विचार लेव पसवोल्स्की का है। जिसने लिखा कि "रूस अपने स्वभाव से ही अतृप्त आक्रामक है···यद्यपि अपने साम्राज्यी पूर्वजों से भिन्न अर्थ में है।" वह आज भी एशिया तक अपनी क्रांति का विस्तार करके विश्व क्रांति का सपना देख रहा है। तथा "भारत में सशस्त्र अभियान भी क्रांतिकारी आग लगाने के लिए है।"[3] ड्र्हे और पसवोल्स्की से अलग भारतीय मूल के एक अन्य अमरीकी इतिहासकार चतर सिंह सामरा ने सोवियत रूस के मध्य एशिया क्षेत्र में आस्ट्रियाई, जर्मन तथा तुर्क युद्ध-बंदियों (पी ओ डब्ल्यू) की उपस्थिति अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से तुर्क-जर्मन सेना द्वारा भारत पर आक्रमण करने का गम्भीर ख़तरा उत्पन्न कर देने की संगति बैठाई। इसने सोवियत रूस द्वारा प्रेरित किसी अनभिज्ञ 'जर्मन दुरभि संधि' का उल्लेख करते हुए लिखा : "उसने भारत को धमकी दी है।"[4] इस इतिहासकार ने

1-2. डेविड एन० ड्र्हे, पूर्ववर्णित, पृ० 12-13
3. लेव पसवोल्स्की, सुदूर पूर्व में रूस, मेकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क 1922, पृ० 6, 71, 101
4. चतर सिंह सामरा, भारत और आंग्ल-सोवियत सम्बन्ध (1917-1947), एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1959, पृ० 25

सोवियत रूस में ब्रिटिश हस्तक्षेप को न्याय-संगत ठहराने का प्रयास करते हुए यहाँ तक लिखा है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के कार्य अपनी आत्म-सुरक्षा के लिए थे क्योंकि बोल्शेविकों ने न केवल तुर्क-जर्मन-जिहाद को प्रोत्साहित किया वरन "भारत में कम्युनिज्म के विस्तार के लिए पहले युद्ध स्तर पर तत्पश्चात् भावात्मक स्तर पर काम किया।" सोवियत सरकार द्वारा तुर्क-जर्मन-जिहाद को 'प्रोत्साहित' करने वाले तर्क की पुष्टि में यह लेखक सोवियत तुर्किस्तान में ब्रिटिश हस्तक्षेप-कारियों में से कुछ व्यक्तियों के संस्मरणों का उल्लेख करता है। इनके नाम हैं—काशगार में ब्रिटिश के कांसुल (दूत) पी० टी० इदरटन[1], ताशकंद में ग्रेट ब्रिटेन के तथाकथित सैनिक कूटनीतिक मिशन के अध्यक्ष ले० कर्नल एफ० एम० बेले[2] तथा मेजर जनरल डब्ल्यू० मेलसन।[3] मेजर जनरल मेलसन के नेतृत्व में ही अगस्त 1918 ब्रिटिश सेनाओं ने ट्रांस-कैस्पियन क्षेत्र पर हमला बोल दिया।

चतरसिंह सामरा के पास इस तथ्य के लिए कोई प्रमाण नहीं है। उसने उपर्युक्त नेताओं की राय का उल्लेख मात्र किया है कि "तुर्क-जर्मन सेना अफ़गानिस्तान से होकर भारत के विरुद्ध अभियान चला सकती है।"[4] जबकि यह सर्वज्ञात तथ्य है कि सोवियत रूस में तुर्क-जर्मन सेना जैसी कोई चीज नहीं थी। देश के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए कुछ पहले युद्धबंदी अवश्य थे, जिन्हें 1918 से नियमित रूप से अपने-अपने देशों को भेज रही थी।

सामरा ने अपनी पुस्तक का आरम्भ इस विवादास्पद प्रश्न से किया है कि सोवियत रूस की भारत के प्रति नीति जारशाही साम्राज्यवादी स्वरूप की थी या इसके विपरीत थी। उसने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है। लेकिन सोवियत-विरोधी मनगढ़ंत बातों को 'टाइम्स ऑफ लंदन' से उद्धृत कर दिया है तथा ब्रिटिश हस्तक्षेपकारियों के संस्मरणों से पूर्वाग्रहग्रस्त रिपोर्टों को उद्धृत कर पाठकों को ढूहे के मत को स्वीकार कराना चाहा है। ढूहे के तर्क अधिक विस्तृत हैं लेकिन किसी रूप में स्वीकार्य नहीं हैं। उसके तर्क स्वय की खोजों, गैर-आलोचनात्मक संदर्भों तथा असंगत निष्कर्षों पर आधारित हैं। सोवियत रूस के आक्रामक मंतव्य को प्रमाणित करने के लिए लेखक ने अपने ही तर्क गढ़ लिये हैं कि एम० एन० रॉय द्वारा बनाई गई भारत और उसकी सीमाओं पर सैनिक अभियान

1. पी० टी० इदरटन, एशिया के केन्द्र में, कांसटेबिल एण्ड कम्पनी लि०, लंदन, 1925
2. एफ० बेले : मिशन टु ताशकंद, जोनथन केप, लंदन, 1946, पृ० 8-9
3. विल्फाड माल्सन, 'तुर्किस्तान को ब्रिटिश सैनिक मिशन—1918-1920 जर्नल ऑफ द सैण्ट्रल एशियन सोसाइटी, प्रति IX, पार्ट II,
4. चतर सिंह सामरा, पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ० 24

की योजना का 1920 के शरद में रूस की कम्युनिस्ट पार्टी के पोलित ब्यूरो तथा जन-कमिसार-परिषद् ने अनुमोदन किया। तथा लेनिन ने भी उस योजना का समर्थन यह महसूस करते हुए किया था कि "यह विश्व क्रांति के हित में है।"[1] जबकि ऐसा कुछ नहीं है। सैनिक अभियान की इस योजना में 'वामपंथ' की शैशव-कालीन अव्यवस्था तथा लक्षण प्रतिबिम्बित होते हैं जिससे पूरबी देशों के कम्युनिस्टों के साथ कुछ सोवियत अधिकारी भी आक्रान्त थे। लेनिन पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस रोग का पता लगाया तथा कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के समय, इसके पहले तथा बाद में भी इस रोग से कड़ा संघर्ष करते रहे।

कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर 'राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों पर लेनिन की ड्राफ्ट थीसिस' पर प्रारम्भिक विचार-विमर्श में तुर्किस्तान से आए सोवियत कार्यकर्त्ताओं के एक समूह—टी० रस्कुलोव, एन० खदजायेव एवं अन्य—ने अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से भारत को 'लाल सेना' ने मुक्ति के प्रयाण का सवाल उठाया था। 12 जून, 1920 के एक पत्र में उन्होंने लेनिन को लिखा था कि "सोवियत रूस की सहायता से मुस्लिम सर्वहाराओं द्वारा भारत की मुक्ति होगी और यह लंदन में क्रांति होने से पहले ही होगा···।"[2]

'लोकमंगल' (ब्लैसिंग) को थोपने का उक्त विचार न केवल भारत के संदर्भ में था वरन् रूस की सीमाओं से लगे तमाम औपनिवेशिक देशों के बारे में था, जिसे ये० ए० प्रिब्राजेंस्की ने भी व्यक्त किया था। इन्होंने लेनिन के तर्कों का विरोध करते हुए पूरबी देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के समर्थन में कम्युनिस्टों के कर्तव्य बताते हुए अनुमान लगाया था कि "यदि नेतृत्वकारी राष्ट्रीय समूहों से आर्थिक समझौते की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं तो सेना से उनका दमन करना अवश्यम्भावी है।"[3]

लेनिन ने उन तमाम योजनाओं, प्रयासों का जोरदार खंडन किया, जिनमें पूरबी देशों में 'समाजवादी क्रांति' लाने में सशस्त्र सेनाओं का उल्लेख था। उन्होंने प्रिब्राजेंस्की की टिप्पणी का जोरदार शब्दों में विरोध करते हुए बहुत गुस्से से कहा कि "इसके दूसरे तरह के अर्थ निकलते हैं और इसे प्रमाणित भी नहीं किया जा सकता। यह कहना ही गलत है कि सेना से दमन 'अवश्यम्भावी' है। यह बुनियादी रूप से गलत है।"[4] पार्टी की आठवीं कांग्रेस में लेनिन ने बहुत जोर देकर

1. डेविड एन० ड्रु् है, पूर्वोल्लिखित, पृ० 31
2. सी पी ए, आई एम एल, एफ 489, आर 1, एफ 4, पृ० 5
3. कम्युनिस्ट इस्तोरी, के पी एस एस, नं० 2, 1958, पृ० 16
4. वी० आई० लेनिन, 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर प्रारम्भिक ड्राफ्ट थीसिस पर टिप्पणियाँ,' संकलित रचनाएँ, खंड 31, 1974, पृ० 555

यह कहा था कि "साम्यवाद को बलात् आरोपित नहीं किया जा सकता।"[1] जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि वाम-विचारों वाले एशियाई कम्युनिस्टों ने कई बार यह प्रस्ताव रखा था कि 'लाल सेना' का मुक्ति अभियान न केवल भारत में क्रांति की ज्वाला जलाने के लिए हो वरन् चीन, तुर्की तथा ईरान में भी हो। लेकिन लेनिन ने ऐसे प्रस्तावों को ज़ोरदारी से अस्वीकृत कर दिया।[2] यह अस्वीकृति भी कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस से पहले लेनिन की एम० एन० रॉय से हुई बातचीत की तरह थी।

पूरब की जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को कम्युनिस्टों की अपरिहार्य सहायता के प्रश्न पर लेनिन के विचार कभी नहीं बदले। जिन्हें कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस का अनुमोदन भी प्राप्त था।

इससे स्पष्ट है कि भारत और उसकी सीमाओं में सैनिक अभियान की वाम-संकीर्णतावादी योजना को न तो आर सी पी (बी) की केंद्रीय समिति के पोलित ब्यूरो, न जन-कमिसार परिषद् और न ही लेनिन का अनुमोदन प्राप्त था। इसलिए डेविड ड्रहे के उक्त विवाद के आधार का पता नहीं चलता? एम० एन० रॉय के संस्मरण ही ड्रहे का एकमात्र स्रोत हैं। लेकिन रॉय के संस्मरणों में भी भारतीय क्रांति के सैनिक संस्करण के प्रश्न पर लेनिन की असहमति बहुत स्पष्ट है।[3] दूसरी बात यह है कि संस्मरण वाला यह स्रोत एकदम विश्वसनीय एवं प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसमें जाने-अनजाने अनेक गलतियाँ हैं तथा इसके विस्तृत सत्यापन की आवश्यकता है। जैसाकि ताशकंद में गठित तथाकथित भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रश्न और दूसरे बहुत से मुद्दों पर रॉय से गलतियाँ हुई हैं जिन पर पहले विचार हो चुका है।

वस्तुतः इस प्रकरण में पूरी जाँच-पड़ताल की ज़रूरत है। सबसे पहले हम एम० एन० रॉय द्वारा तात्कालिक रूप से लिखित एक सुप्रसिद्ध दस्तावेज़ को देखें, जब कि संस्मरण लगभग 35 वर्ष बाद लिखे गए। अखिल भारतीय अस्थायी केंद्रीय क्रांतिकारी समिति के कार्यों पर कामिंटर्न की आधिकारिक रिपोर्ट में इस बारे में एक भी शब्द नहीं है। यदि रॉय की सैनिक योजना को 'जन-कमिसार-

---

1. वी० आई० लेनिन, 'आर सी पी (बी) की आठवीं कांग्रेस, मार्च 18-23, 1919', संकलित रचनाएँ, प्रति 29, 1974, पृ० 175
2. विस्तृत विवरण के लिए देखिए : एम० ए० पेरसित्स 'कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर कम्युनिस्टों और मुक्ति आंदोलन के सम्बन्ध की समस्याओं पर वैचारिक संघर्ष' नरोदिनी अजी इ अफ्रीकी, न० 5, 1974, पृ० 45-47
3. एम० एन० रॉय के संस्मरण, पृ० 417

परिषद्' का अनुमोदन होता तो इसका रिपोर्ट में उल्लेख न होना असंभव है। जबकि इस रिपोर्ट में भारतीय क्रांतिकारियों की न केवल व्यावहारिक गतिविधियों का विस्तृत लेखा-जोखा है बल्कि उसकी पृष्ठभूमि भी अंकित है।

एम० एन० रॉय के वामपंथी विचारों से सूत्र लेकर सैनिक तरीकों से भारत में समाजवादी क्रांति करने का आरोप, बोल्शेविकों पर लगाते हुए ड्रूहे ने अपने तर्कों के प्रमाण जुटाने का प्रयास किया है। उसने ईरान, शिञ्ज्यिांग आदि के जन-आंदोलनों को सहायता की सोवियत नीति और विशेष तौर से अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से भारत की सहायता को आक्रमण की संज्ञा प्रदान की है। यह आश्चर्यजनक है कि उसने चीन और तुर्की की जनता से मित्रता और सहकार की सोवियत नीति का उल्लेख नहीं किया तथा इस संबंध में 1917 में सोवियत सरकार द्वारा प्रकाशित रॉय की योजना तथा 'रूस और पूरब के मेहनतकश मुसलमानों के नाम अपील' को विवाद का विषय नहीं बनाया है।

ड्रूहे की 'प्रमाण-शृंखला' में सबसे 'रोमांचकारी' कहानी 1 अक्टूबर, 1920 को ताशकंद में दो रेलगाड़ियों के पहुँचने की है। लेखक के अनुसार 27-27 डिब्बों वाली इन रेलगाड़ियों में हथियार, गोला-बारूद, अन्य साज-सामान, खुले हुए वायुयान, सोना-चाँदी तथा पौंड-रुपए आदि भरे हुए थे। एक डिब्बे में सैनिक प्रशिक्षकों का एक समूह था तथा इस अभियान के नेता-अध्यक्ष एम० एन० रॉय अफ़ग़ानिस्तान वाले दूसरे डिब्बे में थे।[1] ओवरस्ट्रीट और विण्डमिलर ने भी इस कहानी को उद्धृत किया है।[2] इन दोनों ने एक बात और जोड़ दी है कि बोल्शेविकों द्वारा "ब्रिटेन के विरुद्ध हथियार दिए जाने के अलावा स्वयं भारत ने ही क्रांति-निर्यात करने की आकर्षक योजना प्रस्तुत की थी।"[3] तथा यह दावा है कि रॉय के ताशकंद पहुँचने से पहले ही भारत पर आक्रमण करने के लिए उसने 'लाल सेना की पहली अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड'[4] बना ली थी। लेकिन देखना यह है कि वास्तव में हुआ क्या था?

ताशकंद में हथियारों एवं गोला-बारूद के साथ कुछ सैनिक प्रशिक्षक पहुँचे जरूर थे और ये अफ़ग़ानिस्तान के लिए ही थे लेकिन अमानुल्लाह खाँ की सरकार के अनुरोध पर सोवियत सरकार के वायदे के अंतर्गत इन्हें पहुँचाया गया था। 27 नवम्बर, 1919 को लेनिन ने इस विषय पर अमानुल्लाह खाँ के एक पत्र का

1. देखिए : डेविड एन ड्रूहे, पूर्वोल्लिखित, पृ० 32
2. देखिए : जेन डी० ओवरस्ट्रीट, मार्शल विण्डमिलर, भारत में साम्यवाद, पृ० 35
3. वही, पृ० 8
4. वही, पृ० 35

उत्तर देते हुए काबुल को मित्रता का अपना संदेश भेजा था। मास्को में अफ़ग़ान मिशन के मुहम्मद वली खाँ इस पत्र को लाये थे। इस पत्र में सोवियत प्रतिनिधि-मंडल को काबुल में व्यापार एवं मित्रता-संबंधी संधियों की बातचीत के लिए प्रवेश के निर्देश दिए गए थे तथा इसका उद्देश्य "न केवल दोनों देशों की जनता के साथ में अच्छे पड़ौस के संबंधों को मजबूत करना था बल्कि ग्रेट ब्रिटेन की हिंसक साम्राज्यवादी सरकार के विरुद्ध अफ़ग़ानिस्तान के साथ संयुक्त संघर्ष को प्रोत्साहित भी करना था।" लेनिन ने यह भी लिखा था कि मुहम्मद वली खान से उनकी बातचीत में अफ़ग़ानिस्तान की सैनिक सहायता प्राप्त करने की आकांक्षा प्रकट होती है। इसलिए सोवियत सरकार "अफ़ग़ान जनता को इस प्रकार की सहायता व्यापक स्तर पर देने के लिए वचनबद्ध है।"[1] प्रसंगतः यह उल्लेखनीय होगा कि अमीर के अनुरोध पर काबुल जाने वाला उक्त सैनिक प्रशिक्षकों का समूह न तो रॉय के नेतृत्व में था और न ही नियंत्रण में। रॉय तो इस ट्रेन से ताशकंद की अपनी यात्रा मात्र कर रहे थे।

उत्पीड़ित जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में अपनी अटल प्रतिबद्धता के कारण सोवियत सरकार ने ब्रिटेन से कठिन संघर्ष में स्वाधीन हुए अफ़ग़ानिस्तान को न केवल सबसे पहले मान्यता दी बल्कि साज-सामान संबंधी यथोचित सहायता भी की। यह रूस और अफ़ग़ानिस्तान दोनों देशों के जनता के पारस्परिक हित में था क्योंकि दोनों ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने अस्तित्व का संघर्ष कर रहे थे। ब्रिटेन ने सोवियत रूस के विरुद्ध एक अघोषित और हिंसक युद्ध आरंभ कर रखा था और वह रूस के भीतरी शत्रुओं—श्वेत सैनिकों तथा बस्माक संगठनों—की मदद कर रहा था। जुलाई 1918 में लेनिन ने कहा था कि "मध्य एशिया के अनेक कस्बों में प्रतिक्रांतिकारियों ने ब्रिटिशों की स्पष्ट सहभागिता से लड़ाई छेड़ रखी है।"[2] इसलिए अफ़ग़ानिस्तान और रूस ने अपने सामान्य हित में ब्रिटिश सेना के विरुद्ध संघर्ष किया, तो इसे किसी रूप में अनुचित नहीं कहा जा सकता और न ही इसका भारत को जीतने से कोई संबंध था।

ब्रिटेन के दबाव की वजह से काबुल ने सोवियत मिशन के प्रवेश से इन्कार कर दिया, इसलिए उसे ताशकंद में ही ठहरना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप इस मिशन के कुछ प्रशिक्षकों ने भारतीय सैनिक स्कूल में पढ़ाना आरंभ कर दिया।

1. ए० एन० खीफ़ेत्स, 'सोवियत रूस और निकटवर्ती पूरबी देश', 1918-1920 मास्को, 1964, पृ० 286-287 (रूसी भाषा में)
2. वी० आई० लेनिन : 'अखिल रूसी केंद्रीय अधिशासी समिति के संयुक्त अधिवेशन में भाषण, मास्को सोवियत, मास्को की फैक्ट्री समितियाँ तथा श्रमिक संघ, 29 जुलाई, 1918', संकलित रचनाएँ, प्रति 28, 1965, पृ० 23

विद्यालय से जो आदेश निकलते थे, उनमें यह सूत्र प्राय: देखने को मिल जाता था कि "अमुक व्यक्ति जो कि रूसी मिशन से अफ़गानिस्तान आया है उसे''' कार्यालय में नियुक्त किया जायगा।" तथा वे जो सैनिक सामान लाते थे, उससे सैनिक प्रशिक्षण दिया जाता था।[1] इसमें कुछ सैनिक साज-सामान का उपयोग प्रशिक्षणार्थियों को पढ़ाने के लिए किया गया।

कहने का मतलब यह है कि सैनिक स्कूल को संगठित करना, शिक्षकों की व्यवस्था तथा वित्तीय, तकनीकी एवं सैनिक साज-सामान की आपूर्ति करना, आदि 1920 के उत्तरार्द्ध में हुई 'आर सी पी (बी) केंद्रीय समिति' की पूर्ण बैठक के एक प्रस्ताव की क्रियान्विति का अंग था, जिसे बूर्ज्वा इतिहासकारों ने भारतीय क्रांतिकारियों को 'हथियारों एवं स्वर्ण' की सहायता के रूप में व्यक्त किया है।

सोवियत रूस द्वारा भारत पर अधिकार किए जाने वाले मंतव्य को तर्कसंगत ठहराने के लिए ड्रूहे एवं अन्य लेखकों ने सब कुछ प्रस्तुत किया है लेकिन ऐसे 'प्रमाण' प्रस्तुत नहीं किए, जो प्रामाणिक एवं विश्वसनीय हों।

'फ़रवरी 1921 की सोवियत-अफ़ग़ान-संधि' का मतलब ड्रूहे के लिए मित्रता की स्थापना न होकर रॉय की सेना को भारत की ओर प्रस्थान करने की तैयारी करने की एक सीढ़ी होना था तथा अफ़गान शहरों में सोवियत कांसुलर कार्यालयों की स्थापना का तात्पर्य 'ब्रिटिश भारत के विरुद्ध प्रचार केंद्र'[2] स्थापित करना था। लेकिन पहली बात तो यह है कि 1920 या 1921 में 'रॉय की सेना' या 'रॉय की ब्रिगेड' जैसी कोई चीज नहीं थी। वस्तुत: 100 या 200 प्रवासी भारतीय अलग-अलग समूहों में विभाजित तथा सोवियत शहरों में इधर-उधर फैले हुए थे, इस कारण वे सैनिक ब्रिगेड नहीं बना सकते थे। दूसरे, ड्रूहे को भारत के विरुद्ध सोवियत प्रचार वाला कोई दस्तावेज, या पुरालेख कब और कहाँ से उपलब्ध हुआ है? यह पता नहीं चलता। हाँ, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध ऐसी सामग्री की कमी नहीं है, जिसने भारत में भी उत्पीड़न-दमन तथा शोषण का राज्य स्थापित कर रखा था। लेकिन भारत और ब्रिटेन समान संज्ञाएँ नहीं हैं।

भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा तुर्किस्तान के ताशकंद एवं अन्य शहरों में किए गए तमाम कार्यों को ड्रूहे ने भारत पर सोवियत अधिकार करने की कार्यवाहियों की संज्ञा दी है। उसने समस्त प्रवासी भारतीयों को सोवियत सरकार के औज़ार मानते हुए दावा किया है कि उसे "ऐसे उत्साही कम्युनिस्ट और अच्छे सिपाहियों की जरूरत थी, जिससे रूस की भारत पर विजय, भारत की सच्ची स्वाधीनता

1. एन ए सी एम ए, एन 250 25, आर 2, एफ 2, पृ० 2, 3, 4, आदि।
2 डेविड एन० ड्रूहे, पूर्वोल्लिखित, पृ० 38

के रूप में दिखाई दे।" यह सब उसी दृष्टि का कमाल है जिसने प्रवासी क्रांतिकारियों से संबंधित अन्य घटनाओं को इसी संदर्भ में देखा है। उनके मुहाजिरीनों के ताशकंद आगमन तथा उनमें से 15 का प्रचार-स्कूल में प्रशिक्षण, तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टी की घोषणा तथा तीन-चार माह की अवधि में 20 से 40 के बीच व्यक्तियों को सैनिक प्रशिक्षण देनेवाले पाठ्यक्रम एवं उत्तरी ईरान पर ब्रिटिश सेना द्वारा अधिकार किए जाने पर ब्रिटिश सेना को छोड़ने वाले कुछ भारतीयों द्वारा 'लाल सेना' में सम्मिलित होना आदि घटनाओं को उपर्युक्त दृष्टि से ही देखा है। जबकि वास्तविकता यह है कि ऊपर उल्लिखित तमाम तथ्य इस बात का संकेत हैं कि उस समय भारत में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पूरे उभार पर था; क्रांतिकारी विचारों वाले भारतीयों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही थी और वे भारत के ब्रिटिश विजेताओं के विरुद्ध निर्णयकारी संघर्ष के तरीके, रास्ते और साधन तलाश रहे थे। सोवियत जनता ने भारतीय क्रांतिकारियों तथा ईरान, तुर्की, कोरिया और चीन के क्रांतिकारियों को प्रचार-सामग्री तथा सैनिक प्रशिक्षण के रूप में जो भी सहायता दी, वह सब अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद जैसे सामान्य दुश्मन के विरुद्ध पूरबी देशों की जनता के मुक्ति-संघर्षों में सोवियत सरकार की वचनबद्धता का ही अंग थी। अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध इन सारी शक्तियों का एक साथ मिलकर संघर्ष करना एक वास्तविकता है और यह आक्रमणकारीओं, 'बसमाक' तथा श्वेत सैनिकों के विरुद्ध चीनी, कोरियाई, ईरानी और तुर्कियों के पूर्ण तथा भारतीय नागरिकों के आंशिक सहयोग के रूप में स्पष्टतः व्यक्त हुआ है। जबकि इनके विपरीत ड्रूहे, सामरा, बंद्योपाध्याय तथा अन्य लेखकों के पास इस संबंध में कहने के लिए कुछ नहीं है कि ये लोग भारत या किसी अन्य पूरबी देश की भूमि छीनने के लिए क्या तैयारियाँ कर रहे थे।

ड्रूहे और सामरा दोनों ने बोल्शेविकों द्वारा मध्य एशिया को 'बसमाक' तथा आक्रांताओं से स्वाधीन कराये जाने वाले संघर्ष को भारत को जीतने की तैयारियों के रूप में देखा है। इन दोनों लेखकों ने 'तुर्किस्तान मोर्चे' के कमांडर जी० या० सोकोल्नीकोव के 'पामीरों' की ओर सैनिक टुकड़ी भेजे जाने वाले 10 अक्तूबर, 1920 के एक आदेश की व्याख्या सोवियत रूस की भारत के विरुद्ध आक्रामक योजना के रूप में की है। यहाँ पर बतौर सामरा द्वारा उद्धृत उस आदेश का सार प्रस्तुत है: "पामीर डिवीजन के साथियो, तुम्हें एक दायित्वपूर्ण कार्य सौंपा गया है। सोवियत गणतंत्र ने तुम्हें भारत और अफ़ग़ानिस्तान—मित्र देशों के सीमांतों पर पामीर कौमियों की रक्षा करने हेतु भेजा गया है। पामीर, भारत से क्रांतिकारी रूस को अलग करता है। (भारत की तीस करोड़ जनता अँग्रेज़ों के आधीन है)। इस टैबिलमैंड (पामीर) पर मुक्ति-सेना के लाल-ध्वज को फहराना है। अँग्रेज़-उत्पीड़कों से सर्वहारा भारतीय जनता जल्दी ही यह जानेगी कि उन्हें मैत्री-सहायता

अलभ्य नहीं है।"[1] कहने का मतलब यह है कि सोवियत पामीरों की ओर सोवियत सैनिक इकाइयों को सीमाओं की रक्षा करने के लिए भेजना स्वाभाविक एवं वैध था।[2] भारत की इन उत्तरी सीमाओं पर बसी जनजातियाँ ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ कई बार विद्रोह कर चुकी थीं, इस कारण वे अपना क्रांतिकारी स्वरूप बनाती चली जा रही थीं तथा ब्रिटेन इस सबसे चिंतित था, इसलिए 'लाल-सेना' का भारत की उत्तरी सीमाओं की ओर प्रयाण उचित एवं स्वाभाविक था। अत: सोवियत व्यवस्था वाली सरकार के समक्ष पैदा होने वाली इन समस्याओं की वस्तुगत परिस्थितियाँ थीं और सोकोल्नीकोव ने इस संबंध में जो कुछ कहा है वह पूरी तरह ठीक है। इसलिए भारत की सहायता के लिए सोवियत रूस की तत्परता को भारतीयों की इच्छा के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए न कि इस उपमहाद्वीप को जीतने के अर्थ में।

हु_हे की मान्यता है कि स्वयं लेनिन ने यह घोषणा की थी कि "पेकिंग और कलकत्ता के रास्ते से यह सड़क लंदन और पेरिस तक जाती है।"[3] लेकिन लेनिन ने ऐसा कभी नहीं कहा। लेखक ने कहीं यह नहीं बताया है कि यह 'उक्ति' लेनिन ने कहाँ और कब कही है? वैसे ये या इनसे मिलते-जुलते शब्दों का संबंध ट्राट्स्की से है, लेनिन से नहीं। ट्राट्स्की ने 5 अगस्त, 1919 को आर सी पी (बी) की केंद्रीय समिति के समक्ष अपनी एक योजना रखी, यह "भारत के विरुद्ध एक कैवलरी कोर (30,000–40,000) खड़ी करने की योजना थी।" जिससे यूरोप में क्रांति जल्दी सम्भव हो सके। ट्राट्स्की ने अपनी योजना के समर्थन में लिखा कि "अफगानिस्तान, पंजाब और बंगाल के रास्तों से होकर यह सड़क पेरिस और लंदन तक जाती है।"[4] आर सी पी (बी) की केंद्रीय समिति ने लेनिन की अग्रिम भूमिका से इस दुस्साहसिक योजना को नामंजूर कर दिया।"[5]

सोवियत रूस में प्रवासी भारतीयों द्वारा राजनीतिक शिक्षा लेकर भारत

---

1 [illegible] सिंह मामरा, भारत और आरम्भ सोवियत संबंध, पृ० 52-53, हैरिस एन हु_हे, मार्क्सवाद कम्युनिज्म और भारतीय राष्ट्रवाद, पृ० 36
2. देखिए, [illegible], 8 दिसंबर, 1920, पृ० 2
3 देखिए एन हु_हे, पूर्वोक्त, पृ० 31
4 देखिए, ट्राट्स्की के पेपर्स 1917-1919, खंड 1, [illegible] 1964, पृ० 625
5 [illegible] डी० एम० [illegible], '[illegible] क्रांति की परिस्थितियाँ और [illegible]', [illegible], मास्को, 1972, पृ० 11 (रूसी भाषा में)

लौटना पूरी तरह सच है। लेकिन इस काम का उद्देश्य 'लाल सेना' को तैयार कर भारत को जीतना कतई नहीं था। इसका उद्देश्य था कि भारत के ये पहले क्रांतिकारी सोवियत रूस के यथार्थ को अपनी जनता को बतलाएं तथा इस प्रक्रिया से उन्हें क्रांतिकारी लक्ष्यों की ओर मोड़ें, जिससे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष एवं कम्युनिस्ट आंदोलन विकसित हो सके। उनके सोवियत रूस आने के पीछे की वास्तविकता यही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सोवियत सरकार द्वारा प्रवासी भारतीयों तथा निकटवर्ती पूरबी देशों के क्रांतिकारियों को दी जाने वाली सभी तरह की सहायता के पीछे सोवियत सरकार की मंशा यही थी कि वह एशिया की जनता के मुक्ति-संघर्षों में सहयोग करे, जिससे सोवियत रूस के साथ समझौते का एक रास्ता बन सके। यद्यपि, इस नीति से वह साम्राज्यवादी ताकतों से अपनी सुरक्षा के उद्देश्य को भी पूरा कर रहा था क्योंकि साम्राज्यवादी ताकतें सोवियत रूस के विरुद्ध एशियाई देशों का उपयोग कर रही थीं। कहने का मतलब है कि इस सम्बन्ध में ड्रहे तथा अन्य लेखकों के तर्क निराधार एवं सोवियत विरोधी मंशा से ग्रस्त हैं।

भारत के एक बुर्ज्वा इतिहासकार जफर इमाम ने ड्रहे की इस धारणा का जोरदारी से खण्डन किया है। इस लेखक की मान्यता है कि रूस-अफगान द्वारा भारत पर आक्रमण की धमकी की ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा आधिकारिक घोषणा करने के बावजूद कांग्रेस के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य ने इस आरोप को 'साफ-साफ झूठ एवं मनगढ़न्त बताया, जिससे वे राष्ट्र का ध्यान मुक्ति के लक्ष्य की प्राप्ति से दूसरी ओर मोड़ सकें।' जफर इमाम का निष्कर्ष है कि "1920 में ट्राट्स्की के अलावा किसी जिम्मेदार सोवियत नेता ने सैनिक कार्यवाही द्वारा ब्रिटिश शासन से भारत की मुक्ति का समर्थन नहीं किया।"[1]

मास्को में भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का पश्चिमी समूह

पहले भारतीय कम्युनिस्टों ने अपनी योजना के अनुसार 'अखिल भारतीय क्रांतिकारी कांग्रेस' के आयोजन का प्रयास किया, यद्यपि उनके नेताओं की वामपंथी संकीर्णतावादी मानसिकता भी मार्ग की एक बाधा थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने, वस्तुतः साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों से मेल की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी। इसलिए यूरोप में रह रहे राष्ट्रीय क्रांतिकारियों से ही एकता की आशा बची थी।

अक्टूबर या नवम्बर 1920 के आरम्भ में रॉय और उनके साथियों ने इनके साथ पत्राचार आरंभ किया। नवम्बर के अंतिम दिनों में वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय

1. जफ़र इमाम, पूर्व-पश्चिम सम्बन्धों में उपनिवेशवाद, पृ० 143-144

"भारत एशिया के दूसरे हिस्सों और अफ्रीकी महाद्वीपों से इस मामले में उत्कृष्टता प्राप्त है।" इस थीसिस में 'वाम' कम्युनिस्टों के भारत की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के आशावादी मूल्यांकन के बारे में—'अमूर्त उत्साहवाद का अधकार'-जैसा वक्तव्य वास्तव में बहुत संगत था।

इन लेखकों ने भारतीय अर्थव्यवस्था की बहु-संरचना से उत्पन्न कठिनाइयों पर विशेष ज़ोर दिया। उन्होंने लिखा "समकालीन भारत में सामंतवाद, कुटीर उद्योगों के मध्यकालीन गण-संगठन (श्रेणी-संगठन) तथा आधुनिक औद्योगिकवाद का अद्भुत मिश्रण है।" (पृ० 2)

इन लेखकों ने मार्क्स के वर्ग और वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा "भारतीय समाज भी दूसरे समाजों की तरह शोषक-शोषित वर्गों में विभाजित है।" जबकि भारतीय समाज की विशिष्टता यह है कि इसमें वर्गों की खाई के साथ-साथ भारतीय इतिहास के आरम्भ से ही सामाजिक एवं धार्मिक विभाजन एवं परस्पर-विरोधी मत-मतांतरों का बोलबाला रहा है। (पृ० 4)

भारतीय समाज की वर्ग-संरचना को स्पष्ट करने के बाद लेखकों ने सबसे पहले छोटे किसानों की बहुतायत की ओर संकेत किया है। थीसिस में उल्लेख है कि भारत में "कृषि पर आधारित निम्न बूर्ज्वा जनसंख्या सबसे अधिक है; जो कृषि की व्यक्तिवादी एवं पारम्परिक खेती से चिपकी हुई है।" (पृ० 2)

जहाँ तक औद्योगिक सर्वहारा का सवाल है यह असंगठित है तथा वेतन बढ़ाने और काम की अवधि में कमी करने से अधिक के लिए वह संघर्ष नहीं कर सकता। वे इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि भारतीय सर्वहारा में वर्ग-चेतना नहीं है इसलिए पिछड़ेपन, अज्ञानता, रूढ़िवाद से उत्पन्न जाति-व्यवस्था तथा धार्मिक मत-मतांतरों पर विजय पाना बहुत मुश्किल है। विभिन्न पदों पर आसीन श्रमिक निरक्षर हैं इसलिए छपे हुए शब्दों से उनमें प्रचार-कार्य नहीं किया जा सकता। (पृ० 3)

सर्वहारा वर्ग के आत्मनिर्णय में सबसे बड़ी बाधा भारतीय समाज पर ब्रिटिश बूर्ज्वाजी का आधिपत्य है। इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए उन्होंने थीसिस में कहा कि "जो देश राजनीतिक पराधीनता में होता है वहाँ का शोषित-वर्ग अस्तित्व और वर्ग-संघर्ष की प्रकृति को साफ़-साफ़ नहीं समझ सकता।..." (पृ० 7) अपने सिद्धांतों के निष्कर्ष में इन लेखकों ने लिखा कि "भारतीय सर्वहारा, विश्व-सर्वहारा के संघर्ष में उचित स्थान तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद को समाप्त कर दे।" (पृ० 8)

एक दूसरे दस्तावेज़, कामिटर्न के भारतीय आयोग को 'ज्ञापन' (4 अगस्त, 1921) में चट्टोपाध्याय और लुहानी ने विस्तार से यही विषय स्पष्ट किया कि "इन दिनों भारतीय परिवेश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की व्यर्थता के प्रति उत्तेजना

करने के 'अति' के दूसरे छोर पर जा पहुँचे, जहाँ पार्टी-गठन के लिए संगठनात्मक एवं राजनीतिक तैयारियों का विचार ही त्याग दिया गया था।

इस थीसिस में "पूरब में राजनीतिक आजादी प्राप्त करने के लिए बुर्जा प्रजातांत्रिक तथा राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों की एकता के विचार" का समर्थन किया गया था। साथ ही इन लेखकों ने राष्ट्रीय बुर्ज्वा-वर्ग के साथ सहयोग नहीं करने के 'वाम' कम्युनिस्टों के विचार की आलोचना की, जो बुर्ज्वा-वर्ग के सत्ता में आने से डरते थे। थीसिस में कहा गया कि "कम्युनिस्टों की कट्टरता विश्व की वास्तविक राजनीति से उनके मूर्खतापूर्ण एवं शोचनीय अलगाव को सूचित करती है।" (पृ० 13) ये कम्युनिस्टों की-सी संगठनात्मक और राजनीतिक स्वाधीनता के पक्षधर नहीं थे क्योंकि इनका पूर्ण विश्वास था कि ब्रिटिश दासता से भारत की मुक्ति ही 'समाजवादी क्रांति' के बराबर है। इनकी मान्यता थी कि 'ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के बाद भारतीय पूँजीपति वर्ग द्वारा भारतीय सर्वहारा वर्ग के शोषण का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।' (पृ० 13) इस विचार को न्यायसंगत ठहराने के लिए उनकी तर्क-प्रणाली भी यहाँ मौजूद है।

इस थीसिस की दृढ़ मान्यता थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से इतना ताकतवर है कि विश्व पूँजीवाद उसी का दूसरा नाम है। थीसिस में इसकी ओर संकेत है कि 'यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश पूँजीवाद और विश्व पूँजीवाद एक-दूसरे के पर्याय हैं।' (पृ० 9) ब्रिटिश पूँजीवाद चूँकि बुनियादी रूप से भारत पर टिका हुआ है इसलिए जब भारत इस विदेशी प्रभुत्व से मुक्त होगा तो इससे इंग्लैंड का ही विनाश नहीं होगा बल्कि पूरे विश्व की साम्राज्यवादी व्यवस्था समाप्त होगी। इस संबंध में थीसिस में जो कुछ कहा गया वह इस प्रकार है : "ब्रिटिश साम्राज्यवाद की समाप्ति से विश्व पूँजीवाद भी टुकड़ों-टुकड़ों में बिखर जाएगा। और इसके बाद कमज़ोर भारतीय पूँजीपति वर्ग सत्ता पर अपना अधिकार नहीं कर पाएगा क्योंकि सर्वहारा की विश्व क्रांति उसका सफाया कर देगी। भारतीय पूँजीपति वर्ग इतना कम है कि वह विश्व के सर्वहारा विद्रोह के सामने नहीं टिक सकता।" (पृ० 13-14)

सर्वहारा की विश्व-क्रांति में पूरब की निर्णयकारी भूमिका के बारे में एशिया के आरम्भिक कम्युनिस्ट भी यही विचार रखते थे, जो इस थीसिस में कुछ भिन्न है। इसमें विश्व-क्रांति की प्रक्रिया में भारत की भूमिका के बारे में राष्ट्रवादी विचारों पर विशेष बल दिया गया है।

इन भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के 'दर्शन' में एक बात महत्वपूर्ण है कि ये सोवियत रूस को 'विश्व-क्रांति-केन्द्र' के रूप में समझते एवं मान्यता दे रहे थे तथा यह मानते थे कि पूरब के मुक्ति आंदोलनों में इसकी निर्णायक भूमिका होगी,

बारे में जल्दी ही तुमसे बातें करूंगा।"[1] लेनिन की इस बातचीत के सार का पता नहीं चलता कि यह कब हुई।[2] लेकिन इस दस्तावेज की लेनिन द्वारा की गई आलोचना की कल्पना आसानी से की जा सकती है। चट्टोपाध्याय और उसके साथियों ने मार्क्स के वर्गों और वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया था। वे इसे सीमित राष्ट्रीय सीमाओं में या अधिक-से-अधिक समान राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों वाले देशों में ही प्रभावी मानते थे। इन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वहारा वर्ग की एकता को बहुत स्पष्ट शब्दों में अस्वीकृत कर दिया था तथा वे 'दुनिया के मजदूरो और उत्पीड़ित लोगो एक हो' जैसे मार्क्सवादी-लेनिनवादी नारे को नहीं मानते थे।"[3] वे वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत की सीमित समझ मे भी बहुत तर्कसंगत नहीं थे। राष्ट्रीय मुक्तिको सर्वोच्च प्राथमिकता देते हुए

---

1. आर० यूनित्स्काया के 'लेनिन और भारतीय क्रांतिकारी' के पृ० 26 से उद्धृत। 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज' मे लेनिन के उत्तर का दूसरा पाठ मिलता है— प्रति I, पृ० 255 पर लिखा है "प्रिय कामरेड चट्टोपाध्याय, मैंने तुम्हारी थीसिस पढ़ ली है। मैं तुमसे सहमत हूँ। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नष्ट होना अवश्यंभावी है। मैं तुमसे कब मिल सकूँगा, इस संबंध मे मेरे सचिव द्वारा तुम्हें सूचना मिलेगी।"

   उक्त उत्तर के विषय मे पहले मैंने 'असभव होना' लिखा है—(देखिए एम० ए० पेर्सित्स, सोवियत रूस मे भारत के क्रांतिकारी, मास्को, 1973, पृ० 78—रूसी भाषा मे) अब मुझे उक्त उत्तर भी ठीक लगता है तथा आर० यूनित्स्काया द्वारा उद्धृत 'उत्तर' के अनुरूप ही है। सही बात यह है कि लेनिन ने अपनी सहमति के बिंदु को संक्षेप मे लिखा है। उन्होंने लिखा था कि उसने थीसिस पढ़ ली है और उससे सहमत है—इसका मतलब है कि वे 'ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की समाप्ति' तक सहमत थे और शेष बातो के लिए बात करना चाहते थे। यह भी सभव है कि लेनिन ने दो उत्तर दिए हों—एक, पूरे समूह को, जिसे यूनित्स्काया ने उद्धृत किया है और दूसरा, व्यक्तिगत रूप से चट्टोपाध्याय को, जिसे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज मे उद्धृत किया गया है।
2. इस विषय मे भिन्न-भिन्न पक्ष हैं, आर० यूनित्स्काया के अतिरिक्त दूसरा पक्ष और है, जिससे मैं सहमत हूं, एस० वी० मित्रोखिन; 'लेनिन के बारे में भारत', पृ० 115 (रूसी भाषा में) भी देखिए।
3. देखिए : वी० आई० लेनिन, '6 दिसबर 1920 को आर० सी० पी० (बी) के मास्को सगठन के सक्रिय कार्यकर्ताओं की बैठक मे भाषण'—सकलित रचनाएँ, प्रति 31, 1974, पृ० 453

की भाँति थी। वे आँखें खोलने वाली थीं जिससे मुक्ति-संघर्ष के वास्तविक आधार को हम देख सकें और इसके साधन तथा रास्ते से सम्बद्ध अपने विचारों को बदल सकें।[1]

लेनिन ने जहाँ एक ओर रॉय और 'वाम' कम्युनिस्टों की आलोचना भारत में मुक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी ताक़त राष्ट्रीय बूर्ज्वा जी तथा उसके राष्ट्रीय स्वरूप के साथ मिलकर न चल पाने के लिए की, वहीं दूसरी ओर मार्क्सवाद की ओर आकर्षित होने वाले राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की उनके वर्ग-चरित्र की सीमाओं की वजह से की। भूपेंद्रनाथ दत्त ने अपनी पुस्तक में यह बात भी जोड़ी है कि जब लेनिन से कुमार महेंद्र प्रताप, मुहम्मद बरकतुल्लाह, प्रतिवादी आचार्य और दूसरे भारतीय मिले थे, तब उन्होंने उनसे कहा था "भारत जाकर वर्ग-संघर्ष की चेतना फैलाओ, आप देखेंगे कि भारत की स्वाधीनता बहुत समीप है।"[2]

चट्टोपाध्याय एवं उसके साथियों का उक्त दस्तावेज राष्ट्रवाद एवं निम्न-बूर्ज्वा वर्ग की सीमाओं में बँधा था। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भूमिका के विषय में इनके द्वारा की गई अतिशयोक्ति में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को विश्व-पूँजीवाद के समकक्ष बताते हुई इन्होंने साम्राज्यवादी ताक़तों के अंतर्विरोधों को कम कर दिया है। इसके फलस्वरूप, मुक्ति-संघर्ष के लिए दावपेचों की योजना बनाते समय साम्राज्यवादी वास्तविकता को समझने में वे असफल हुए हैं। दूसरी बात यह है कि साम्राज्यवाद के अस्तित्व के लिए उपनिवेशों, विशेषकर भारत, की भूमिका का उल्लेख करते समय भी अत्युक्ति से काम लिया गया है। तीसरे, विश्व-सर्वहारा क्रांति में भारत की निर्णयकारी भूमिका मानना भी पूर्व-कल्पित एवं मिथ्या धारणा से परिचालित है। चौथी और अंतिम बात यह है कि उन्होंने राष्ट्रीय पूँजीपति-वर्ग की राजनीति एवं आर्थिक संभावनाओं को कम करके आँका तथा इस वर्ग की सत्ता में आने की संभावना से इंकार किया। जिसके परिणामस्वरूप इन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति और समाजवादी क्रांति के बीच कोई अंतर नहीं समझा।

अब्दुर रब बर्क़ ने चट्टोपाध्याय और उसके साथियों की थीसिस के प्रावधानों का सामान्यतः अनुमोदन किया लेकिन 29 जुलाई, 1921 के अपने एक लिखित नीति-वक्तव्य में राष्ट्रीय क्रांतिकारी स्वरूप वाले एक लोकप्रिय मंच की

---

1. देखिए : भूपेंद्रनाथ दत्त, 'भारत के भू-अर्थशास्त्र की द्वंद्वात्मकता, मर्द्रेड पब्लिशिंग कमेटी, कलकत्ता, 1952, पृ० III-IV
2. वही, पृ० III-Iv, लेखक ने भारतीय नेताओं के लेनिन से मिलने का समय 1920 का दिया है। वस्तुतः वे जुलाई 1919 में महेंद्र प्रताप की अध्यक्षता में मिले थे।

अवधारणा को गही, उचित एवं संगत प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। रॉय ने कामिटर्न के इस सोच के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाया कि "पूरब के सभी देश एकरूप हैं तथा सभी की समस्याएँ समान हैं।" इसी समय रॉय ने इन देशों के सामन्ती एवं औपनिवेशिक समुदाय को मान्यता देने से स्पष्ट शब्दों में इंकार कर दिया। उन्होंने इस बात को भी अपनी स्वीकृति नहीं दी कि साम्राज्यवाद-विरोध के लिए ये सभी एक हों। उन्होंने यह सिद्ध करने में कि "इन सभी की राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक और सामाजिक परिस्थितियाँ एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं।" इसलिए इनके समक्ष "सभी की अलग-अलग समस्याएँ हैं।'[1] एम० एन० रॉय ने इस तरह का विचार सबसे पहले 1920 में बाकू में आयोजित 'पूरबी देशों की जनता की पहली कांग्रेस' में रखा था। ताशकंद से लिखे एक पत्र में उन्होंने घोषणा की थी कि "पूरबी जनता की कांग्रेस आयोजित करने की नीति एक बड़ी भूल है क्योंकि एशिया के विभिन्न देशों की जनता समान मार्गों पर नहीं चल रही है।"

यह तर्क जहाँ राजनीतिक रूप से ईमानदार नहीं था वहीं सारभूत रूप में ग़लत था। ईमानदाराना इसे इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो लेनिन ने और न ही कामिटर्न ने एशिया के देशों की एकरूपता पर कभी अपने विचार प्रकट किये थे, जैसाकि रॉय ने उन पर आरोप लगाया है। इसके विपरीत, लेनिन ने तो नव-कम्युनिस्टों को सिखाया था कि "सभी देशों में कम्युनिस्ट श्रमिक-वर्ग के आंदोलन की अंतर्राष्ट्रीय रणनीति का तक़ाज़ा है कि सभी में एकता हो, विभिन्नताओं एवं राष्ट्रीय विशिष्टताओं के अनुसार अलगाव न हो और कम्युनिज़्म के बुनियादी सिद्धांतों के अनुसार व्यवहार किया जाए। राष्ट्रीय विशिष्टताओं के अनुसार इन्हे लागू करते समय इनमे उचित संशोधन किया जाएगा।"[2] रॉय का तर्क गलत एवं एकपक्षीय था क्योंकि उनके तर्क मे पूरबी देशों की वस्तुगत सामुदायिकता की उपेक्षा कर केवल विशिष्टताओं को आधार बनाया गया था। 'तीसरी कांग्रेस' के चीनी कम्युनिस्ट प्रतिनिधि झांग तलेई ने पूरबी देशो के 'विकास' एवं पिछड़ेपन की सामान्य बातों की उपेक्षा का दृढ़ता से विरोध किया। 'कांग्रेस' के 'पूरबी आयोग' के समक्ष प्रस्तुत थीसिस में उन्होंने लिखा : "लोगो में क्रांतिकारिता

1. एम० एन० रॉय, 'कामिटर्न की तीसरी कांग्रेस के समक्ष पूरबी देशों के सवालों पर प्रस्तुत थीसिस का प्रारूप', नरोदी देलिग वस्तका, इर्कुत्स्क, न० 3,1921 पृ० 340
2. वी० आई० लेनिन, 'वामपक्षीय साम्यवाद—शैशवकालीन अव्यवस्था' सक- ... ६, प्रति 31, 1974, पृ० 92

की सामान्य अभिरुचियों एव उद्देश्यों की अनदेखी करना बहुत गलत होगा।"[1] यद्यपि पूरबी देशों मे विकास के स्तर भिन्न-भिन्न भी हैं।

रॉय के इस तर्क के पीछे ईरान और तुर्की के आरम्भिक कम्युनिस्टो के वामवाद एवं संकल्पवाद के कारण होने वाली गम्भीर घटनाओं को कामिंटर्न के लिए कम प्रभावी बनाना था। रॉय ने बताया था कि इन घटनाओ से भारत का कोई लेना-देना नहीं है। भारत ईरान और तुर्की से सामाजिक एव आर्थिक विकास मे आगे है। यद्यपि ये घटनाएँ बहुत गंभीर थी। एक बात बहुत साफ़ है कि ईरान के पहले कम्युनिस्ट के वाम-सं ोर्णतावादी दावपेचों के कारण 'गिलान (घिलान) क्रांति' का दुखद विकास हुआ. . तुर्की के पहले कम्युनिस्टो द्वारा तुर्की मे कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियाँ पूरे ज़ोरों से आरंभ कर देने का परिणाम यह हुआ कि जनवरी 1921 में मुस्तफा सबी (सुभी) तथा उनके पद्रह अनुयायियों की निर्मम हत्या कर दी गई। इसका कारण मुस्तफा सबी एव उनके समूह द्वारा तुर्की की तत्कालीन परिस्थितियो का गलत मूल्याकन करना था। उन्होंने तुर्की की श्रमिक जनता की क्रान्तिकारिता को बढ़ा-चढाकर देखा-समझा तथा कमालवादी नेताओ की वास्तविकता को ठीक तरह नहीं जाँचा। मुस्तफा सबी ने तुर्की कम्युनिस्ट संगठनों (वाकू) के केंद्रीय-ब्यूरो के कार्यों की रिपोर्ट देते हुए जून या जुलाई 1920 में लिखा कि "दो या तीन महीनों मे संगठन एक शक्तिशाली क्रातिकारी ताकत बन जाएगा" और कमालवादी "तुर्की के किसानों-मजदूरो को सत्ता सौंप देंगे क्योंकि वे यूरोप के पूंजीवादी साम्राज्यवादियों द्वारा शोषण-दमन को समझ जाएँगे और फिर बोल्शेविकवाद के लिए रास्ता साफ़ होगा।"[2] वस्तुतः, कमालवादियों के सामने इस तरह का कोई विकल्प नही था। इसलिए, वे बेरहमी से देश के आरंभिक कम्युनिस्ट आदोलन को नष्ट करने मे लग गए।

इन भारी नुकसानों से, पूरबी देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन की क्रातिकारी ताक़तों से सहकार की लेनिन की नीति निर्दोष एवं संगत सिद्ध होती है तथा वामपंथी सिद्धांतो से उबरने की जरूरत को प्रतिपादित करती है।[3] जिससे क्रातिकारी आदोलन खत्म न हो। गिलान (घिलान) की घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि

1. बी० जैड० शुमयात्स्की, 'युवा कम्युनिस्ट लीग के इतिहास और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास' से उद्धृत, रिवोल्यूशनी वस्तोक, न० 4, 5, 1928. पृ० 220
2. एस ए सी एस ए, एस 110, आर 1, एफ 69, पृ० 1
3. 'लेनिन ने कहा था कि यदि तुम 'वाम' की सलाह पर चलोगे तो तुम क्रांतिकारी आदोलन को खत्म करोगे' (कम्युनिस्ट से उद्धृत, न० 14, 1969, पृ० 37)

वाम क्रांतिकारी अपने क्रांतिकारी सोच के बावजूद क्रांति को ख़त्म कर रहे थे।

मास्को में भारतीय क्रांतिकारी समुदाय की गतिविधियाँ भी वाम-संकीर्णता-वादी नीतियों के ख़तरे को ही पुष्ट करती हैं जो भारत की क्रांतिकारी ताक़तों को अलग-अलग समूहों में बाँट रही थीं। लेनिन ने रॉय की वामपंथी नीतियों को अस्वीकृत करते हुए राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के साथ कम्युनिस्टों के सहकार का आह्वान किया। लेनिन को भारतीयों के बीच चल रहे कलह-विवाद के बारे में सब कुछ मालूम था। उन्हें भारतीयों के बर्लिन समूह से उनकी राजनीतिक नीतियों के बारे में संदेश प्राप्त हुआ था तथा वे रॉय की वास्तविक स्थिति से भी लंबे समय से परिचित थे। उन्होंने 14 फ़रवरी, 1921 को भारत की स्वाधीनता की समस्याओं पर अब्दुर रब बर्क़ से बातचीत की थी। भारतीय क्रांतिकारी एसोसिएशन के अध्यक्ष ने रॉय की वास्तविक स्थिति की आलोचना करते हुए उनके कार्यों के बारे में लेनिन से शिकायत की। भूपेंद्रनाथ दत्त ने अपनी एक किताब में अब्दुर रब बर्क़ से इस वार्ता के बारे में जानकर लिखा है कि "लेनिन ने भारतीय राष्ट्रवादी एवं कम्युनिस्टों को साथ-साथ मिलकर काम करने पर बल दिया था।"[1]

बहरहाल, एम० एन० रॉय ने 'कामिंटर्न' की 'तीसरी कांग्रेस' के 'पूरबी आयोग' के समक्ष प्रस्तुत अपनी थीसिस में यही सिद्ध करने का प्रयास किया कि उपनिवेशों के अंतर्गत भी विकसित पूँजीवादी देशों का अस्तित्व है। इतना ही नहीं, इन पराधीन देशों की श्रमिक जनता पूँजीवाद से संघर्ष कर रही है क्योंकि वहाँ "सामंतवाद का पूरी तरह खात्मा किया जा चुका है।"[2]

1. ये० या० लूस्तनिक, लेनिन और भारत में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के कुछ पहलू, 1918-1922—लेनिन और एशियाई देशों की इतिहास की समस्याएँ, लेनिनग्राद यूनिवर्सिटी प्रेस लेनिनग्राद, 1970, पृ० 75 (रूसी में)।
2. नरोदी देलिग वस्तका, न० 3, 1921, पृ० 339-340

भारत में सामंतवाद के खात्मे के बारे में एन० एन० रॉय और मुखर्जी ने बाद में भी खूब लिखा है। 1927 के उत्तरार्द्ध में एम० एन० रॉय ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के तथाकथित डी-कॉलोनाइजेशन के सिद्धांत का समर्थन बंद कर दिया, जिसमें भारत के राष्ट्रीय उद्योग को निरुत्साहित करने की बजाय उत्साहित करना था। एम० एन० रॉय की यह दृढ़ मान्यता थी कि भारत में पूँजीवाद की मजबूत बुनियाद है जिसकी वजह से राष्ट्रीय बूर्ज्वा वर्ग का ब्रिटिश साम्राज्यवाद से राजनीतिक समझौता हो चुका है। इस संदर्भ में रॉय ने लिखा कि "राष्ट्रीय बूर्ज्वा, साम्राज्यवाद का शत्रु न होकर उसका बन चुका है।" (देखिए : 'राष्ट्रीय क्रांति में बूर्ज्वाजी की भूमिका', दी इण्डिया, न० 11, नवंबर 1922, पृ० 7)

भारत 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सामंतवाद को नष्ट कर दिया है'—

एम० एन० रॉय के विचार में "भारत जैसे पूरबी देशों में तेजी से वि
करता सर्वहारा एवं भूमिहीन किसान वर्ग ही क्रांति के मूलाधार हैं।"[1] पिछड़े

यह रॉय का तर्क था, जो अब डी-कॉलोनाइजेशन के रूप में सामने आ
था और तार्किक संगति प्राप्त कर रहा था। (देखिए : 'भारत में समाज
क्रांति'—आलेख, 10 अक्टूबर, 1920 के जीवन नेशनलस्तेइ); इस सम
एम०एन० रॉय का बल इसी बात पर था कि 'भारत में बूर्ज्वा क्रांति वि
साम्राज्यवाद के संरक्षण में ही पूरी होगी।' देखिए: द मॉसेज ऑफ इण्डि
न० 11, 1927, पृ० 6)

1928-1929 में लिखी मुखर्जी की किताबों में भी रॉय
स्थापनाओं को प्रतिपादित किया गया था, यद्यपि वह डी-कॉलोनाइजेश
आलोचक थे। मुखर्जी ने लिखा कि "भारत में ब्रिटिश शासन ने, जा
अनजाने, बूर्ज्वा-क्रांति के लिए रास्ता बनाया है ..." जिससे सामंतवाद
हुआ है। (देखिए : मुखर्जी, इंग्लैंड और भारत, मास्को—लेनिन
1929, पृ० 151; एग्रेरियन इण्डिया, मास्को, 1928, पृ० 142—
रूसी भाषा में) मुखर्जी ने भारतीय सर्वहारा वर्ग की जागरूकता तथा कि
से मिलकर क्रांति सम्पन्न करने की भारतीय परिस्थितियों का प्रामा
विश्लेषण किया था (देखिए : इंग्लैंड और भारत, पृ० 342)

मुखर्जी ने भारत के राष्ट्रीय बूर्ज्वा वर्ग को प्रतिक्रियावादी त
बताते हुए कहा कि इसके साथ सहकार असम्भव है। (वही, पृ० 2
380, 343) लेकिन इसके बावजूद उसने यह भी स्वीकार किया कि
पूँजीपति वर्ग की आर्थिक माँगों के प्रति साम्राज्यवाद का रुख हठधर्मित
है जो उसे सर्वहारा वर्ग के साथ चलने को मजबूर कर रहा है।' (
पृ० 236-247)

'भारत में बूर्ज्वा क्रांति सम्पन्न हो चुकी है, इस तर्क के बावजूद मु
की मान्यता थी कि प्रजातांत्रिक-बूर्ज्वा क्रांति उस समय की जरूरतों मे
थी। लेकिन यह उनका औपचारिक वक्तव्य मात्र था। वस्तुतः वे भार
ठीक रूस जैसी समाजवादी क्रांति के समर्थक थे। (वही, पृ० 340-34

आर० ए० उल्यानोव्स्की ने अपनी आरंभिक रचनाओं में मु
एम० एन० रॉय, और यू एस एस आर में उनके अनुयायियों की आलो
की है। (देखिए : 'क्रोनिक द एपोलोजी ऑफ द कॉलोनिअल-
रिजीम', रिवोल्यूशनेर वस्तक, न० 8, 1930, पृ० 299-306, और
नेपथीय नाम यू० रस्तावनेव के ओनोवाल, एग्रेरियन कार्ड़मिम इन इण्डि
मास्को, 1932, पृ० 68-72 रूसी भाषा में)

1. मास्को डेल्निय वस्तक, न० 3. 1921. पृ० 34।

का किसान वर्ग ही वास्तविक क्रांतिकारी वर्ग है। उनका तर्क था कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से विदेशी प्रभुत्व का खात्मा नहीं हो सकता क्योंकि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का सम्बन्ध केवल राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग से है। बहुसंख्यक श्रमिक जनता उक्त आंदोलन का समर्थन अपनी सामाजिक-आर्थिक माँगों की वजह से नहीं करेगी। एम० एन० रॉय ने लिखा था कि "बूर्ज्वा वर्ग की आर्थिक विचारधारा एवं नेतृत्व वाला आंदोलन, बहुसंख्यक जनता का विश्वास नहीं जीत सकता तथा बहुसंख्यक श्रमिक जनता के कष्टों को दूर करने का रास्ता भी बूर्ज्वा वर्ग के पास नहीं है। इस प्रकार के आंदोलन के लिए पूरे राष्ट्र में एकता करना उसके लिए असंभव है।"[1] इसलिए एम० एन० रॉय ने पूरबी देशों की श्रमिक जनता का दो मोर्चों पर संघर्ष करने के लिए आह्वान किया—ये दो मोर्चे थे—विदेशी साम्राज्यवाद और 'जातीय भूस्वामियों (सामंतों) और व्यापारियों का राष्ट्रीय पूँजीवाद।'[2] ह्मॉग तेलेई ने रॉय के प्रस्ताव को 'पूर्णतः ग़लत' बताते हुए अस्वीकृत कर दिया। ह्मॉग ने अपनी थीसिस में कहा कि "इस तरह की नीतियाँ न केवल मध्य-पूर्व के आर्थिक रूप से पिछड़े देशों के लिए अस्वीकार्य हैं बल्कि चीन जैसे देशों के लिए भी व्यवहार्य नहीं हैं जिन्हें रॉय ने पूरब के विकसित देशों में माना है।"[3]

यद्यपि रॉय ने अपनी थीसिस में पूरब के विकसित देशों में 'समाजवादी क्रांति' की ज़रूरत के बारे में बहुत स्पष्टता से कभी नहीं कहा, लेकिन उनकी स्थापनाओं के निष्कर्ष पाठक को कुल मिलाकर यहीं पहुँचाते थे।

परिणामतः, कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस के राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक सवालों वाले साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे की एकता के प्रस्ताव को रॉय की थीसिस में पूर्णतः अस्वीकृत कर दिया गया है। कामिंटर्न की तीसरी कांग्रेस के 'पूरबी देशों के आयोग' ने रॉय की उक्त थीसिस को स्वीकार नहीं किया तथा दूसरी कांग्रेस के प्रस्तावों को ही वैध माना और कोई नये प्रस्ताव पारित न करने का निर्णय किया। एम० एन० रॉय ने कांग्रेस के 12 जुलाई के पूर्ण अधिवेशन में इसका विरोध किया और कहा कि "यह ठीक नहीं है इसलिए इसे बदलना ही उचित होगा"। रॉय ने कांग्रेस से पूरबी देशों के सवाल पर नया आयोग गठित करने को कहा, जो सारे सवालों पर गुणों के आधार पर गंभीरता से विचार कर सके।[4] लेकिन उनका

1-2. नरोदनी देल्निग वस्तका, न० 3, 1921, पृ० 342

3. वी० जेड० शमयात्सकी के 'युवा कम्युनिस्ट लीग और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' से उद्धृत, पृ० 222

4. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के दस्तावेज़, प्रति, 1, 1917-1922 जो० अधिकारी द्वारा सम्पादित, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, ,, ,, पृ० 267

प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ।

भारत में राष्ट्रीय और सामाजिक प्राथमिकताओं के सम्बन्धों के विभिन्न पक्षों पर भारतीय क्रांतिकारियों के तीन समूहों में कामिंटर्न की तीसरी कांग्रेस में और उसके बाद उत्तेजक बहस चलती रही। यद्यपि ये सभी एक साथ कभी इकट्ठे नहीं हुए तथापि कामिंटर्न के 'लघु ब्यूरो' और कांग्रेस के 'पूरबी देशों के आयोग' के समक्ष प्रस्तुत उनके राजनीतिक विचारों में उनके बीच व्यापक मत-वैभिन्न्य प्रकट होते हैं। अतः कामिंटर्न का भारतीय आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक एवं व्यक्तिगत मतभेदों के कारण इन सभी का सम्मेलन बुलाना संभव नहीं है।[1]

प्रवासी भारतीय समुदाय की साम्राज्यवाद-विरोधी क्रांतिकारी ताकतों में एकता स्थापित करने में कामिंटर्न की विफलता का मुख्य कारण एम० एन० रॉय और उसके समूह की वाम-संकीर्णतावादी कट्टरता को माना जाता है। बर्लिन समूह भी वश में नहीं था। इसने ताशकंद में भारत की तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टी की घोषणा तथा रॉय समूह के इस पर प्रभुत्व को स्वीकार नहीं किया। बर्लिन समूह ने स्वयं को स्वतंत्र इकाई के रूप में मान्यता देने के लिए कामिंटर्न पर दबाव डाला। उन्होंने एक सामूहिक संदेश में कामिंटर्न को लिखा कि उन्होंने "लघु ब्यूरो तथा इण्टरनेशनल अधिकारियों को बार-बार कहा है कि हमारे पत्राचार का मुख्य प्रश्न हमें एक समूह के रूप में मान्यता प्रदान करना है जबकि 'लघु ब्यूरो' के 'भारतीय आयोग' की मंशा "हमसे व्यक्तिगत रूप में व्यवहार करने की है न कि समूह के रूप में। इसलिए हमने इसकी सक्षमता से ही इन्कार कर दिया है।"[2]

लेनिन तथा कामिंटर्न की वास्तविक सहभागिता के कारण भारतीय क्रांतिकारियों के बीच मास्को-विवाद का एक सकारात्मक पक्ष भी है। लेनिन के निर्देशों की वजह से भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारी बहुसंख्यक श्रमिक जनता के नजदीक आए। उन्होंने मुक्ति संघर्ष में श्रमिक जनता के महत्त्व को स्वीकार किया। कुछ राष्ट्रीय क्रांतिकारी, मार्क्सवाद-लेनिनवाद के रास्ते पर आगे बढ़े।

एम० एन० रॉय के नेतृत्व में पहले भारतीय कम्युनिस्टों ने भी कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर 1921 के अन्त और 1922 के आरंभ में पुनर्विचार करना आरंभ किया। रॉय के संकीर्णतावादी विचारों के बावजूद, कामिंटर्न की तीसरी कांग्रेस के लिए प्रस्तुत उनकी थीसिस में कुछ मुद्दों पर उनका सकारात्मक रवैया देखा जा सकता है। वे अब इस बात पर जोर नहीं दे रहे थे कि पूरब के देश, जब तक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर लेंगे, तब तक यूरोप का सर्वहारा भी बूर्ज्वा वर्ग से सत्ता प्राप्त नहीं

1. 'कामिंटर्न के लघु ब्यूरो का भारतीय आयोग', 26 जून, 1921
2. वही

कर सकेगा। अब उनका कहना था कि "यूरोप के पूंजीवाद को परास्त करने के लिए उनके पूरबी देशों पर शोषण के एकाधिकार को समाप्त करना जरूरी है।"[1] दूसरी बात यह है कि "क्रांतिकारी आंदोलन में जब तक जनता सक्रिय हिस्सा नहीं लेती तब तक केवल बूर्ज्वा वर्ग के बल पर विदेशी साम्राज्यवाद को नहीं उखाड़ फेंका जा सकता है।"[2]

फरवरी 1922 में पूरबी देशों की वास्तविकता को जानने में एम० एन० रॉय की समझदारी के और सबूत मिलते हैं। पहले एम० एन० रॉय का विचार था कि राष्ट्रीय बूर्ज्वा वर्ग के आंदोलन में श्रमिक जनता भाग नहीं लेती है और न ही ले सकती है। लेकिन बाद में उन्होंने स्वीकार किया कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तथाकथित अतिवादियों ने "सम्पूर्ण देश मे ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं को फैलाने में सफलता प्राप्त कर ली है। केवल धनिक भूस्वामी वर्ग, बड़े पूंजीपति और उच्च अधिकारियों को छोड़कर भारत की सारी जनता ब्रिटिश शासन के प्रति घृणा एवं विद्रोह के भाव से सराबोर है।" उन्होंने आगे कहा कि "असहयोग आंदोलन की सारी कमियों के बावजूद, यह कुछ महीनो में ही सारे देश मे फैल चुका है।"[3]

एम० एन० रॉय के विचारों पर इस आंदोलन का प्रभाव दिखाई देता है। तथापि वह इस बात तक नही पहुँच सके कि उन परिस्थितियों में साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे का गठन करने की आवश्यकता थी। उनकी मान्यता यही रही कि "इन क्रांतिकारी ताकतों को एकजुट कर एक केन्द्रीय पार्टी-संगठन की जरूरत है जो ब्रिटिश शासन की समाप्ति के साथ जनता के आर्थिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगी।"[4] एम० एन० रॉय इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 'राष्ट्रीय कांग्रेस' को जरूरी नहीं मानते थे। उन्होंने कहा कि "कांग्रेस न तो स्थायी राजनीतिक संगठन है और न ही राजनीतिक दलों जैसे इसके निश्चित विचार हैं।"[5]

जहाँ तक कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण का सम्बन्ध है, वे ताशकंद की कठिनाइयों को जानते थे तथा मास्को में बर्लिन समूह की ओर से उनका कड़ा विरोध था। इस सम्बन्ध में एम० एन० रॉय का कहना था कि उन्होंने 'लेनिन की

---

1. नरोदी देम्निग वस्तका, न० 3, 1921, पृ० 339
2. वही, पृ० 342
3. भारत में मौजूदा राजनीतिक स्थिति (कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की अधिशासी समिति को एम० एन० रॉय की रिपोर्ट) (ओ आर सी एस ए, एफ 5402, आर 1, एफ 489, पृ० 5)
4. वही, पृ० 4
5. वही, पृ० 5

चेतावनी'[1] को ध्यान में रखते हुए अन्त तक सावधानी बरती। उन्होंने कम्युनिस्टों का मार्क्सवादी प्रशिक्षण आरम्भ किया तथा कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण का विचार त्याग दिया। पार्टी-निर्माण के लिए वे भारत में ही धीरे-धीरे कदम बढ़ाना चाहते थे।

यद्यपि रॉय ने अपनी रिपोर्ट में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के 'निर्माण' और इसके 'अवैध रूप से काम करने' की प्रक्रिया का उल्लेख किया लेकिन इससे उनका मतलब इतना ही रहा होगा कि यह कार्य सोवियत रूस से कम्युनिस्ट बनकर लौटे हुए लोगों द्वारा प्रारम्भ किया गया होगा और देश में इस काम को आगे बढ़ाया होगा। उन्हें आशा थी कि इस काम में वे "राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की पाँतों में अपना आधार बना लेंगे, जोकि जन-आंदोलन के सम्पर्क में हैं तथा भारतीय आंदोलन के श्रेष्ठ नेतृत्व का प्रतिनिधित्व भी करते हैं।"[2]

---

1. रिपोर्ट ऑन पार्टी वर्क इन इण्डिया एण्ड आर्गेनाइजेशनल प्लान, पार्ट 9, सितम्बर 1925
2. भारत में मौजूदा राजनीतिक स्थिति…(ओ आर सी एस ए, एस 5402; आर 1, एफ 489, पृ० 8)

निष्कर्ष

भारत के सैकड़ों राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का सोवियत रूस के लिए प्रस्थान, बड़ी संख्या में एशिया की जनता का संघर्ष के लिए तैयार होना तथा उनके बीच कम्युनिस्ट तत्त्वों का उदय; उत्पीड़ित एवं दमित 'पूरब' पर महान अक्तूबर क्रांति के क्रांतिकारी प्रभाव का स्पष्ट संकेत हैं।

अक्तूबर क्रांति का ही प्रताप है कि भारत एवं एशिया के अन्य देशों की जनता द्वारा विदेशी साम्राज्यवाद से संघर्ष करने तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए उन्हें सोवियत राज्य जैसा सच्चा मित्र और शक्तिशाली साथी मिला। वस्तुतः, भारतीय क्रांति, सोवियत भूमि की 1917 की अक्तूबर क्रांति से प्रभावित हो रही थी। सोवियत भूमि एक ऐसा मिलन-स्थल था, जहाँ साम्राज्यवादी उत्पीड़न से मुक्ति चाहने वाले पूरबी देशों के राष्ट्रीय क्रांतिकारी, प्रजातंत्रवादी क्रांतिकारी, मार्क्सवाद की ओर अग्रसर होने वाले क्रांतिकारी और स्वयं को कम्युनिस्ट कहने वाले मुक्ति योद्धा मिलते थे।

भारतीय एवं अन्य एशियाई देशों के क्रांतिकारियों की सोवियत रूस में उपस्थिति तथा साम्राज्यवादी प्रभुत्व से उनके मुक्ति संघर्षों में सोवियत अधिकारियों एवं बोल्शेविक पार्टी की सहायता इस बात की सूचक है कि रूसी सर्वहारा क्रांति एवं भारत तथा पूरब के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के बीच राजनीतिक समझौता एवं साझेदारी का एक स्वरूप बनता चला जा रहा था। इस तरह की अलिखित एवं व्यावहारिक संधि ने इन देशों के मुक्ति संघर्षों को सफल कराने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई।

सम्पूर्ण सोवियत रूस, क्रांति का एक सच्चा विद्यालय बन चुका था। पूरबी देशों के लिए वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद का प्रशिक्षण केन्द्र था। भारत के संदर्भ में तो इसका विशेष स्थान है। इनके शिक्षक थे—लेनिन, कामिंटर्न, अनेक सोवियत कम्युनिस्ट और सोवियत जीवन का यथार्थ।

संभवतः, भारत से ज्यादा किसी अन्य पूरबी देश ने लेनिन का ध्यान आकर्षित नहीं किया। लेनिन से बातें करने के भारतीय क्रांतिकारियों को ही सबसे अधिक अवसर मिले। लेनिन ने भी भारत में विशेष रुचि दिखाई। 14 नवम्बर, 1921

की अपनी एक टिप्पणी मे उन्होंने सोवियत पार्टी कार्यकर्ताओं का आह्वान किया कि "भारतीय कामरेडों (साथियो) को उत्साहित करने वाले प्रकाशनों की सख्या में वृद्धि करें तथा भारत और उसके क्रांतिकारी आंदोलन के बारे मे और अधिक सूचनाएँ एकत्र करें।"[1]

लेनिन, कामिटर्न के साथियों, कम्युनिस्टों एव सोवियत जनता से भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का सम्पर्क होने पर उनके विश्व-दृष्टिकोण मे बदलाव आया और वे टटपूंजिया राष्ट्रवाद को छोडकर मार्क्सवाद में दीक्षित हुए। बहुत से राष्ट्रीय क्रांतिकारी तो सोवियत रूस मे ही कम्युनिस्ट हो गए जबकि अन्य सोवियत रूस से लौटने के बाद। उदाहरणार्थ, चट्टोपाध्याय (1880-1937) 1921 के अन्त में मास्को से लौटे, जब वे वापस आए तो कम्युनिस्ट थे तथा कुछ वर्षों बाद वे हमेशा के लिए कम्युनिस्ट बन गए। कुछ लोग सोवियत गणतंत्र मे आने से पूर्व ही स्वयं को कम्युनिस्ट मानते थे, लेकिन उनका विकास सोवियत रूस मे हुआ। कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने मार्क्सवाद को पूरी तरह स्वीकार नही किया लेकिन यहाँ रहते हुए वे वामपथ की ओर आकर्षित हुए, उन्होने मार्क्सवाद के वर्ग एव वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होने, इस बात को भी माना कि मुक्ति आंदोलन मे श्रमिक जनता की निर्णायक भूमिका होती है इसलिए मजदूरो-किसानो के हित मे सामाजिक रूपान्तरण की आवश्यकता है। बूर्ज्वा वर्ग की प्रजातान्त्रिक क्रांति भी इसके बिना सफल नही हो सकती।

इस सदर्भ मे भूपेंद्रनाथ दत्त का विशिष्ट उदाहरण है जिन्होंने अपनी थीसिस की लेनिन द्वारा की गई आलोचना को समझा तथा जब वे मास्को से बर्लिन लौटे तो भारत मे श्रमिक जनता एवं किसान आंदोलन का समर्थन करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का आह्वान किया। 1925 मे जब वे अपने देश वापस पहुँचे तो मजदूरो-किसानो के हितों के लिए सघर्ष करने के लिए स्वयं मैदान मे उतर पड़े।[2]

सोवियत रूस के समीपवर्ती पूरबी देशों की तरह, भारत मे कम्युनिस्ट आदोलन की तीन विशेषताओं को देखा जा सकता है। पहली विशेषता यह है कि यहाँ विकास का प्राक्-पूंजीवादी स्तर होने के कारण ऐसा कोई जनाधार नही था, जो श्रमिक जनता के सघर्ष को आगे बढा सके। दूसरे शब्दों में, भारत, चीन, कोरिया, तुर्की, ईरान मे कम्युनिस्ट आदोलन अभी अविकसित एव आरम्भिक अवस्था मे था तथा राष्ट्रीय मुक्ति सघर्षों के व्यापक स्वरूप में परिलक्षित हो रहा

1. वी० आई० लेनिन, 'एन० आई० बुखारिन को', सकलित रचनाएँ, प्रति 45, 1981, पृ० 376

2 भूपेन्द्रनाथ दत्त, भारत के भू-अर्थशास्त्र की द्वद्वात्मकता, पृ० IV

कारणो से पूरब मे कम्युनिस्ट आंदोलन के [illegible] वर्ग-चेतना के आंदोलन का रूप प्राप्त करने तक इस आंदोलन के पास पर्याप्त आधार मौजूद हैं।

भारत एवं पूरब के अन्य देशों के आरम्भिक कम्युनिस्टो के दृष्टिकोण पर निम्न-पूँजीवादी तथा क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का प्रभाव लम्बे समय तक रहा था। इससे विचारधारात्मक कठिनाइयाँ पैदा हो रही थी। इनमे सबसे अधिक कठिनाई इन कम्युनिस्टों का बचकाना 'वामपथ' उत्पन्न कर रहा था।

दूसरी विशेषता यह है कि भारत एवं सोवियत रूस के निकटवर्ती दूसरे पूरबी देशों में कम्युनिस्ट आंदोलन की दो समानान्तर धाराएँ—एक विदेश मे, दूसरी घर मे (स्वदेश में)—एक साथ आरम्भ हुईं। जो आगे चलकर हरेक देश की कम्युनिस्ट पार्टी के रूप मे एकीकृत होकर विकसित हुईं।

1918 से 1921 के बीच मे उत्पीड़ित पूरब के लोगो ने सोवियत रूस मे राष्ट्रीय कम्युनिस्ट गुटों का निर्माण कर कम्युनिस्ट आंदोलन को विकसित किया। इनमे से अनेक अक्तूबर 1920 मे आर सी पी (बी) में सम्मिलित हो गए। विदेशो मे वास करने वाले भारतीय क्रांतिकारियों ने 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी' के नाम से एक गुट का निर्माण कर लिया था। सोवियत रूस में पूरबी कम्युनिस्टों के गुटो और एशियाई देशों के क्रांतिकारी तत्त्वों में दुतरफा सम्बन्धों की स्थापना हुई। ऐसा करना इसलिए संभव हुआ कि सोवियत अधिकारियो ने पूरब की मजदूर जनता को स्वदेश आगमन एवं क्रांतिकारियों को सभी तरह की सहायता प्रदान की। रूस तथा अपने देशों मे दोनों स्थानो पर पूरब के इन आरम्भिक कम्युनिस्टो ने अपनी राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियो की बुनियादी कांग्रेसों के आयोजनो की तैयारियाँ आरम्भ की। कहने का तात्पर्य यह है कि सोवियत गणतंत्र में अंकुरित पूरबियों के कम्युनिस्ट आंदोलन, राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे, जो एशिया के देशो—भारत, चीन, ईरान, तुर्की और कोरिया मे समानांतर रूप से विकसित हो रहे थे।

तीसरी एवं अंतिम बात यह है कि सोवियत कम्युनिस्टों ने भारत, चीन, तुर्की, ईरान और कोरिया मे कम्युनिस्ट आंदोलन की आधारशिला रखने मे अच्छी खासी मदद दी। एक सच्चे अंतर्राष्ट्रीयतावादी की तरह उन्होंने सोवियत रूस मे वास कर रहे पूरबी देशो के लोगों मे क्रांतिकारी प्रचार एवं संगठन संबंधी कार्य सम्पन्न किए। इस प्रकार, पूरब के नागरिको तथा विशेषकर भारतीयों पर हजारों की संख्या मे महान अक्तूबर क्रांति का प्रभाव बढ़ता चला गया। बोल्शेविकों ने उपनिवेशवाद-विरोधी एवं समाजवादी विचारो का प्रचार करके एशिया की क्रांतिकारी ताकतो को सुगठित करने तथा उन्हें कम्युनिस्ट गुटों के साथ मिलाने मे उल्लेखनीय योगदान किया। यह काम ताशकंद मे कामिंटर्न तथा आर सी पी (बी)

की विशेष राजनैतिक एजेंसियों ने किया। पूरब में अंतर्राष्ट्रीय प्रचार परिषद, कामिंटर्न का तुर्किस्तान ब्यूरो, बाकू (प्रचार एवं कार्य परिषद्), इर्कुत्स्क (आर सी पी (बी०) की केंद्रीय समिति के साइबेरियन ब्यूरो की पूरबी जनता का अनुभाग), तथा बाद में (कामिंटर्न का सुदूर-पूर्व सचिवालय) और ओडेसा (प्रांतीय पार्टी समिति का पूरबी विभाग) ये सब चीन, कोरिया, तुर्की, ईरान और भारत के उन स्थानों पर थे, जहाँ इन देशों के सबसे बड़े मजदूर केन्द्र हैं। लेनिन ने आठवीं पार्टी कांग्रेस के समय कहा था कि आर सी पी (बी) की केन्द्रीय समिति द्वारा, रूस में रहने वाले विदेशी नागरिकों में जो प्रचार किया है इसका अनेक राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियों तथा स्वयं कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह प्रचार उनका महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।[1]

भारत एवं रूस के निकटवर्ती अन्य पूरबी देशों के कम्युनिस्ट आंदोलन के आरम्भिक चरणों की एक विशेषता यह है कि इनमें वाम-संकीर्णतावादी विचारों और कार्यों का व्यापक प्रचलन था। एम० एन० रॉय उनमें सर्वाधिक टिपिकल तथा कट्टर सिद्धांतकार थे।

भारत के आरम्भिक कम्युनिस्टों ने भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का आत्मनिष्ठ तरीक़े से मूल्यांकन किया, उन्होंने अनेक अवैज्ञानिक स्थापनाओं तथा असंगत कार्यों को आगे बढ़ाया, इस सबके पीछे उनके 'वामपंथ' के बचकाने मर्ज का बोलबाला रहा।

एम० एन० रॉय एवं उनके गुट ने भारत को पिछड़ा हुआ होने के बावजूद पूँजीवादी देश माना, जिसे पूँजीवादी-प्रजातांत्रिक क्रांति की अपेक्षा समाजवादी क्रांति की ओर धकेला गया। इनका तर्क था कि अकेली समाजवादी क्रांति ही भारत को स्वाधीन करा सकती है तथा मजदूर वर्ग को सामाजिक मुक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए इस गुट ने 'राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार' को पूँजीवादी-प्रजातांत्रिक क्रांति का एक अंग ही माना, इसे एक ऐसा नारा घोषित किया, जो पूँजीपति वर्ग के स्वार्थ की पूर्ति करता है, सर्वहारा वर्ग की नहीं। रूस के निकटवर्ती पूरब के अन्य देशों के आरम्भिक कम्युनिस्ट भी स्वेच्छा एवं वामवाद की मानसिकता से ग्रस्त थे, उनकी प्राथमिकताओं में सर्वोच्च स्थान पर बूर्ज्वा प्रजातांत्रिक क्रांति न होकर समाजवादी क्रांति ही थी। वे भी राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की साम्राज्यवाद-विरोधी संभावनाओं को नहीं मानते थे और इस वजह से कम्युनिस्टों का इनकी पार्टियों के साथ मिलकर काम करने की बात संभव नहीं [illegible] गलती की ओर इशारा करते हुए बहुत स्पष्टता के साथ

[1] वी० आई० लेनिन, 'आर सी पी (बी) की आठवीं कांग्रेस 18-23 मार्च, 19', संकलित रचनाएँ, खंड 29, 1977, पृ० 161

हा था कि "वाम-कम्युनिस्टों से इस बात का थोड़ा-सा भी पता नहीं चलता कि शक्तियों के संतुलन के प्रश्न के महत्त्व के बारे में कुछ समझते हैं।"[1]

रॉय एवं उनके गुट तथा ईरान, तुर्की और चीन के आरम्भिक कम्युनिस्टों ने जो कुछ कहा, उससे अधिक अपने देशों के सर्वहारा की वर्ग-चेतना के स्तर को बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित किया, परंतु उन्होंने जो कुछ किया उससे पता चलता है कि वस्तुतः उन्हें समाजवादी आकांक्षाओं को पूरा करने की दृष्टि से इस वर्ग पर विश्वास नहीं था, इसीलिए वे अपनी आशाओं की पूर्ति के लिए सैनिक शक्ति पर निर्भर करते थे तथा क्रांति के आरम्भ एवं विकास के लिए उसी का मुँह ताकते थे। भारतीय कम्युनिस्टों को तो यहाँ तक विश्वास था कि भारत में समाजवादी क्रांति का वातावरण तैयार करने की दृष्टि से सीमांत क्षेत्रों के कबीलाई व्यवस्था में रहने वाले भाड़े के टट्टुओं को काम में लिया जा सकता है। ईरान के पहले कम्युनिस्ट शाह के शासन को उखाड़ फेंकने के लिए उसके कुछ सामंतों—खानों—को उससे अलग कर अपना काम बनाने के लिए तैयार थे, जबकि वे केंद्रीय अधिकारियों के प्रति अपना विरोध करने को उतारू होते तब उन्हें उपयोग में लाने को तैयार थे। लेकिन बुनियादी तौर पर, ईरान की कम्युनिस्ट पार्टी का यह विश्वास था कि वे उनके साथ शोषित-उत्पीड़ित तत्त्वों की क्रांतिकारी सेना को भी रखेंगे जबकि चीन के आरम्भिक कम्युनिस्ट तो घुमक्कड़ दस्युओं से ऐसा काम कराने की आशा रखते थे।

क्रांति में सैनिक तत्त्व की निर्णयात्मक भूमिका न केवल पूरब के सर्वहारा और उसके वर्ग-आंदोलन की कमजोरी को प्रदर्शित करती है बल्कि भारत एवं अन्य पूरबी देशों के उदीयमान मार्क्सवादियों पर बड़ी घटनाओं के विशिष्ट सैनिक रूप के प्रभाव को भी दर्शाती है। प्रत्येक एशियाई देश की विशेष परिस्थितियाँ इनमें कुछ-न-कुछ जोड़ती ही हैं। उन्हें पहले कम्युनिस्टों द्वारा राष्ट्रीय क्रांतियों की व्यूह-रचना के रूप में आसानी से स्वीकार कर लिया जाता था। अपने देश के गृहयुद्धों को देखते हुए चीन के आरम्भिक कम्युनिस्टों ने भी अपने विचार इस तरह के बना लिये थे कि भाड़े के सैनिकों एवं घुमक्कड़ दस्युओं को क्रांति में लगाया जा सकता है जोकि राजनीति से बिल्कुल उदासीन थे। उस समय राजनीतिक दृष्टि से अपरिपक्व चीन के कम्युनिस्टों ने इन परिस्थितियों के कारण भाड़े के सैनिकों और घुमक्कड़ दस्युओं के सैनिक दस्तों का निर्माण करना संभव हो सका। इनके माध्यम से वे राजनैतिक सत्ता छीनकर अपने सर्वहारा वर्ग का भाग्य बनाना चाहते थे, जो अभी तक अपनी वास्तविकता को नहीं जान पाया था।

---

[1] वी० आई० लेनिन, 'वामपंथ' बचकानी और टटपुंजिया मनोवृत्ति', संकलित रचनाएँ, प्रति 27, 1974, पृ० 332

ईरान और तुर्की के आरम्भिक कम्युनिस्टों की परिस्थितियाँ भी क्रांति में सैनिक तत्त्व के महत्त्व को बढ़ाने वाली थीं।

ईरान की राजनैतिक स्थिति कुछ भिन्न थी जहाँ एक ओर शाह एवं ब्रिटिश आधिपत्य के विरोध में गिलान में क्रांतिकारी आंदोलन चल रहा था तो दूसरी ओर सैनिक कार्यों में दीक्षित खान थे, जो केंद्रीय सरकार के विरुद्ध थे तथा अपने क्षेत्रों का शासन हथियारों की ताकत से कर रहे थे। तुर्की में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन ओर पकड़ रहा था। 1920 में एन्तेन्ते की सेना के विरोध में स्वाधीनता युद्ध छिड़ा था। इस प्रकार, इन देशों के भाग्य का निर्णय करने में सैनिक तत्व निर्णायक हो गया था।

भारत एवं पूरब के अन्य देशों के 'वाम' कम्युनिस्टों ने कम्युनिस्ट कार्यक्रम की अपार शक्ति में सहज विश्वास के बावजूद जनता में इसके प्रचार एवं संगठन को कम करके देखा। उन्होंने सोचा था कि करोड़ों मेहनतकशों के लिए इसकी घोषणा ही पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त, भारतीय कम्युनिस्टों ने साम्राज्यवाद के बंधन से अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के संदर्भ में अपने देश एवं उसके मुक्ति-संघर्ष का असाधारण रूप से अतिशयोक्ति पूर्ण उल्लेख किया। इस प्रकार, वे अपनी राष्ट्रवादी सीमाओं को प्रदर्शित करते रहे।

इस प्रकार, आरम्भिक भारतीय कम्युनिस्टों के टटपूँजिया क्रांतिकारी राष्ट्रवाद से मार्क्सवाद तक जाने की यात्रा को समझने का पर्याप्त आधार मौजूद है। उन दिनों के पिछड़े भारत के संदर्भ में यह सब स्वाभाविक दिखाई देता है, जैसाकि 19वीं शताब्दी में जर्मनी में था। लेनिन ने कहा था कि "तथ्य यह है कि उस समय के प्रचलित विचार संक्रमणकालीन थे इसलिए मिश्रित एवं सर्वग्राही प्रकृति के थे और टटपूँजिया एवं सर्वहारा समाजवाद के बीच में पड़े हुए थे।"[1]

यही कारण है कि लेनिन ने बड़ी समझदारी के साथ उन विचारों की आलोचना की थी। उन्होंने किसी का नामोल्लेख नहीं किया तथा यह प्रयास भी नहीं किया कि जैसे वे कोई हस्तक्षेप कर रहे हैं। वे समझते थे कि अभी उनका 'वाम' सैद्धांतिक दृष्टि से विकसित एवं परिपक्व नहीं है अतः उन्होंने अपनी ओर से ऐसा कोई सूत्र उन पर आरोपित नहीं किया, जिसे उनका 'वाम' स्वीकार न कर सके। भारत एवं पूरब के अन्य देशों के आरम्भिक कम्युनिस्टों की लेनिन की आलोचना के पीछे यही उद्देश्य था कि वे अपनी 'वाम ग़लतियों' और इन 'आरम्भिक दुखद परिस्थितियों'[2] से उबरकर मार्क्सवाद को सम्पूर्णतः ग्रहण कर लें, अपने जीवन का

---

1. वी० आई० लेनिन, 'टटपूँजिया और सर्वहारा समाजवाद', संकलित रचनाएँ, प्रति 9, 1965, पृ० 438
2. लेनिन का विविध संग्रह, प्रति XXXVII, पॉली तोज्दात, मास्को, 1970, पृ० 224 (रूसी भाषा में)

अंग बना लें।

एशिया के कम्युनिस्ट आंदोलन में 'वामपथ' के बलवान मर्ज के पीछे कई वस्तुगत कारण थे। उनमें कुछ जरूरी कारण थे—सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का पिछड़ा हुआ होना, अविकसित वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा वर्ग का अपूर्ण आत्म-निर्णय। पूरबी देशों के समाजों की इन विशिष्टताओं के कारण, उक्त आरम्भिक कम्युनिस्टों के लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांतों को समझने में कठिनाई हुई।

भारतीय समाज के पिछड़ेपन के कारण आरम्भिक भारतीय कम्युनिस्टों का वाम दृष्टिकोण निर्मित हुआ तथा उनका वैचारिक स्वरूप टटपूंजिया राष्ट्रवाद से मार्क्सवाद तक पहुँचा।

एंगेल्स ने स्पष्ट किया है कि समाजवादी सिद्धांतों की परिपक्वता उस देश के उत्पादन के पूँजीवादी साधनों के विकास के स्तर तथा पूंजीपति वर्ग एवं सर्वहारा के मध्य विरोध पर निर्भर करती है। उन्होंने लिखा है कि "पूँजीवादी उत्पादन की अविकसित परिस्थितियाँ और वर्ग-चेतना की अपरिपक्व परिस्थितियाँ अपरिपक्व सिद्धांतों को जन्म देती हैं।"[1] इसी विचार को विस्तार से सम्पादित करते हुए लेनिन ने कहा कि आर्थिक सम्बन्धों के पिछड़ेपन से क्रांतिकारियों को मार्क्सवादियों के रूप में सुदृढ़ करने में अवरोध पैदा होता है। जिससे वह पूँजीवादी-प्रजातांत्रिक विश्व-दृष्टिकोण की परम्पराओं से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाते।[2]

भारत के पहले कम्युनिस्टों के साथ यही हुआ था कि वे टटपूंजिया राष्ट्रवादी क्रांतिवाद के प्रति अनेक वर्षों से प्रतिबद्ध थे, अतः उसके संस्कारों से मुक्त नहीं हो पा रहे थे। इस विचारधारा से उबरना, या मुक्ति पाना कठिन काम था।

उनकी 'वाम' मानसिकता के पीछे एक कारण उनका अधैर्य भी था, जो उस समय की परिस्थितियों में स्वाभाविक था। वे रूसी क्रांति की कार्बन-कॉपी करना चाहते थे। वे राष्ट्र की स्वाधीनता की बजाय सामाजिक मुक्ति चाहते थे। रूसी क्रांति के अनुभव के बाद इस तरह का कार्य अक्षम्य प्रतीत होता है कि अपने देश में तैयारी के बिना यह कहें कि समाजवादी क्रांति से ही जनता की वास्तविक मुक्ति हो सकती है।

पूरब के इन आरम्भिक कम्युनिस्टों की 'वाम' मनोवृत्ति की ग़लतियों को कॉमिंटर्न में लेनिन ने जितनी स्पष्टता से उद्‌घाटित किया उतना अन्य किसी ने

---

1. एफ० एंगेल्स, 'समाजवाद : काल्पनिक और वैज्ञानिक', कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स में, तीन प्रतियों में संकलित रचनाएँ, तीसरी प्रति, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1976, पृ० 119
2. वी० आई० लेनिन, 'यूरोप के श्रमिक आंदोलन में मतभेद', संकलित रचनाएँ, प्रति 16, 1963, पृ० 348

नहीं, और पूरब के कम्युनिस्ट आंदोलन में इन गलतियों के ख़तरे
लेनिन से अधिक दूसरा कोई व्यक्ति नहीं कर पाया। लेनिन ने रॉय ए
अन्य आरम्भिक कम्युनिस्टों के विचारों की आलोचना की क्योंकि वे
बुद्धिजीवियों, मजदूरों और किसानों को शिक्षित करने एवं पूंजीपति
द्वारा वर्ग के अंतर को बतलाने के बजाय जनता को ताकत या सैनिक तरे
अधिकार में लेने में विश्वास रखते थे; वे उन्हें ऐसे नारे सिखाना चाह
वे आज तक समझ नहीं पाए थे। अतः उनका समर्थन करना आसान न

'वामपंथ के बचकानेपन' के कारण भारत एवं पूरब के अ
कम्युनिस्ट आंदोलन जनता से पूरी तरह कट गए तथा अलग-थलग
ताशकंद और मास्को में भारत के प्रवासी क्रांतिकारियों के बीच संघर्
यह बतलाती है कि उक्त तथ्य कितना सही था। लेनिन ने बड़ी स
अपने अनथक प्रयत्न तथा धैर्य से पूरब के इन वाम क्रांतिकारियों की
की और उन्हें यह बतलाया कि यह न केवल कम्युनिस्ट आंदोलन के लि
देह है बल्कि औपनिवेशिक एवं पराधीन देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदो
लाभप्रद नहीं है। 'अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तथा कामिंटर्न की दूसरी कांग्रे
निस्ट इण्टरनेशनल के बुनियादी कार्यभार' संबंधी अपनी आरम्भि
लेनिन ने लिखा था कि "उपनिवेशों और पराधीन राष्ट्रों में क्रांतिकारी
वाम ग़लतियाँ।"[1]

अगस्त 1921 में लेनिन ने प्रतिपादित किया कि कम्युनिस्टों को
'अब भी बहुत कम प्रशिक्षित एवं संगठित है।' उन्होंने यह भी कहा थ
स्वयं को कठिन परीक्षा के लिए प्रस्तुत करना है तथा अपने आंदोलन के
सीखना है इसलिए हमें इस सेना को पूरे कौशल के साथ प्रशिक्षित क
उचित ढंग से संगठित करना चाहिए।"[2] लेनिन की यह अपील, यद्य
कम्युनिस्टों को सम्बोधित थी तथापि यह उन्हीं की भाँति बहुत कम सं
प्रशिक्षित पूरब के आरम्भिक कम्युनिस्टों पर भी लागू होती है। लेनि
एवं विशेष रूप से भारत के उदीयमान कम्युनिस्टों के लिए इस तरह के
एवं शिक्षा के लिए विशेष जोर दिया।

पूरबी देशों के आरम्भिक कम्युनिस्ट जब तक सोवियत रूस में रहे,
उन्हें लेनिन की रचनाओं का अध्ययन करने का न केवल अवसर मिला थ
लेनिन से बात एवं संवाद करने का भरपूर मौका मिलता था। इस

---

1. लेनिन का विविध संग्रह, ग्रंथ XXXVII, पृ॰ 226

उन्होंने अपने कार्यक्रमों को परिभाषित करना तथा एशिया की जनता के जीवन के वैज्ञानिक ज्ञान से अपनी गतिविधियों को संचालित करना सीखा। उन्होंने क्रांतिवाद की कमज़ोर आधारभूमि के स्थान पर सामाजिक प्रक्रियाओं की मार्क्सवादी समझ को विकसित किया।

लेनिन की आलोचना का इतना असर हुआ कि भारत का उदीयमान कम्युनिस्ट आंदोलन धीरे-धीरे विकसित होने लगा, 'वाम' की रुग्णता से मुक्ति मिलने लगी। 1925 तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना यथार्थतः नहीं हो पाई थी लेकिन अब वह स्थिरता एवं अपने देश की मजदूर जनता का समर्थन प्राप्त करने लगी थी। श्रीनिवास गंगाधर सरदेसाई ने अक्तूबर क्रांति एवं लेनिन की गतिविधियों के महत्त्व को भारतीय क्रांतिकारियों एवं कम्युनिस्टों के संदर्भ में बहुत सही ढंग से एवं विस्तार से प्रतिपादित एवं परिभाषित किया है। जो अब भारतीय जन-जीवन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन चुका है। उन्होंने लिखा "यदि इतिहास का लेखन ईमानदारी एवं सत्यता के साथ होता है, यदि इतिहास का लक्ष्य सत्य को प्रकाशित करना है, उसे छिपाना या तोड़ना-मरोड़ना नहीं है तो संदेह से परे होगा कि हम, भारतवासी लेनिन, रूसी क्रांति एवं सोवियत संघ के ऋणी हैं कि इन सभी ने उस समय हमारे दिलों और दिमागों को उत्साहित किया तथा हमारे दिलों-दिमागों में अपना स्थान बनाया।"[1]

सोवियत रूस में प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों की आरम्भिक समय की गतिविधियों से पता चलता है कि 1917 के ठीक बाद के सालों में भारत के सामाजिक विकास पर अक्तूबर क्रांति का कितना विलक्षण एवं अवरजकारी प्रभाव पड़ा था।

सोवियत रूस में रहने वाले भारतीय क्रांतिकारियों का एक अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू और है। उनके सोवियत जनता, मजदूरों एवं किसानों के निकट सम्पर्क ने मित्रता को जन्म दिया क्योंकि दोनों देशों—सोवियत रूस एवं भारत—का एक लक्ष्य था—विश्व साम्राज्यवाद के उत्पीड़न से मुक्ति प्राप्त करना। सोवियत सरकार एवं जनता ने भारतीयों का अपने हृदय से आतिथ्य-सत्कार किया, उन्हें वस्तु-सामग्री के रूप में प्रदान की, नैतिक समर्थन दिया, सभी तरह के स्कूलों तथा विशेष पाठ्यक्रमों का अध्ययन करने की सुविधाएँ प्रदान की तथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धांतों से सुसज्जित करने में सहायता की। सोवियत जनता इस बात की अभिलाषा रखती थी कि भारत की जनता ब्रिटिश प्रभुत्व से मुक्ति प्राप्त करे और इस कठिन संघर्ष में वे भी उनकी सहायता करें।

---

1. एस० जी० सरदेसाई, भारत और रूसी क्रांति, कम्युनिस्ट पार्टी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967, पृ० 73

दूसरी तरफ, अब भारतीयों को मजदूरों एवं किसानों के राज्य के सम्बन्ध में वास्तविक एवं पहली कोटि का अनुभव होने लगा इसलिए उन्होंने कई बार सोवियत सरकार का प्रभावी समर्थन किया। उन्होंने अक्तूबर क्रांति के सार को समझने की जागरूकता प्रदर्शित की तथा भारत की मुक्ति के लिए इसके महत्त्व को रेखांकित किया।

ईरान में ब्रिटिश सेना में कार्यरत अनेक भारतीय सैनिकों ने लाल सेना के विरुद्ध लड़ने से इंकार कर दिया तथा तुर्किस्तान में फर्गियन सेना के साथ मई, 1920 में एजेली नामक कस्बे में उन्होंने ऐसा ही किया। यह सेना श्वेत-सैनिकों तथा ब्रिटिश यूनिटों से बनी थी। सैंकड़ों भारतीय लाल सेना में सम्मिलित हो गये। ईरान के कम्युनिस्टों ने उन्हें भारतीयों के विशेष 'कम्युनिस्ट डिटेचमेंट' के रूप में व्यवस्थित किया तथा राजनीति का अक्षर ज्ञान कराया।[1]

सोवियत गणतंत्र में प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों में से कुछ तथा चीन, कोरिया, ईरान एवं तुर्की के बड़े-बड़े गुट लाल सेना के साथ हथियार लेकर 'बस्माक' दस्युओं, श्वेत सैनिकों तथा विदेशी आक्रांताओं के विरोध में लड़े।

साम्राज्यवादी निन्दा के विरुद्ध भारतीय क्रांतिकारियों ने सरकार की सोवियत व्यवस्था का समर्थन किया, उसकी मुक्तिकारी भावना के सत्य को फैलाया तथा सोवियत जनता की प्रथम उपलब्धि एवं लाभों से सभी को परिचित कराया। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने सोवियत राज्य की नैतिक एवं राजनैतिक प्रतिष्ठा को शक्ति सम्पन्न करने की दिशा में योगदान किया। इस संदर्भ में एक भारतीय कम्युनिस्ट सकलातवाला के वक्तव्य का स्मरण करना अधिक उचित होगा। यह वक्तव्य उन्होंने 9 जुलाई, 1925 को ब्रिटिश संसद के सदस्य के रूप में हाउस ऑफ कॉमन्स में दिया था। उन्होंने अपने भाषण में भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उपनिवेशवादी कार्यों को उघाड़ कर रख दिया था तथा इसके विरोध में रूस में अक्तूबर क्रांति की मुक्ति की भावना को प्रदर्शित किया। उन्होंने घोषित किया था कि "तुम कहते हो कि तुम जनता के ट्रस्टी (न्यासी) हो। तुम भारत में 150 वर्षों से हो और आज तुम कहते हो कि भारत में ग्रामीणों की शिक्षा असम्भव है और वे ग्रेट ब्रिटेन एवं भारत की जनसंख्या के बारे में समान विचार नहीं रखते।

"हमारे रूसी बोल्शेविक दस्तों ने पाँच वर्ष के भीतर रूसी किसानों को राजनैतिक मताधिकार प्रदान कर दिये हैं, जो भारत के किसान वर्ग के अनुरूप हैं। वहाँ भी अनेक धर्मों को मानने वाले हैं। वहाँ मुसलमान, यहूदी तथा ग्रीक गिरिजाघर के अनुयायी लोग रहते हैं तथा दूसरे भी हैं। बोल्शेविक पाँच वर्षों के भीतर

1. सी आर सी एम ए, एम 5402, आर 1, एफ 156, पृ॰ 56

उन्हें शिक्षित करने में समर्थ हैं जबकि जारशाही के दिनों इनके साथ उतनी ही क्रूरता एवं निर्दयता का व्यवहार किया जाता था जैसाकि पिछले 150 वर्षों से तुम भारतीय किसानों के साथ कर रहे हो।

रूस में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की क्रांति के बाद पांच वर्षों के भीतर 65 प्रतिशत किसान जनसंख्या ने शिक्षा प्राप्त कर ली है और तुम्हारे समाचार पत्रों में आधे दर्जन ब्रिटिश स्त्री-पुरुषों के लेख इस बात के प्रमाण हैं कि रूसी लोगों ने अपने लक्ष्य को भलीभांति पूरा किया है···मैं इस समिति से अपील करता हूँ कि वह भारतीयों के एक आयोग को रूस में इस बात का अध्ययन करने के लिए जाने की अनुमति प्रदान करे कि जनता को राजनैतिक मताधिकार तथा शिक्षा देने में ब्रिटिश कहाँ विफल हुए हैं। वे यह भी पता लगाएँगे कि वैज्ञानिक प्रयोगशाला, संस्थान, स्वास्थ्य घर, औद्योगिक मजदूरों के लिए क्षतिपूर्ति तथा भत्तों में ब्रिटिशों की खोज में क्या छूट गया है जिसे प्राप्त करने में वे असफल सिद्ध हुए हैं।"[1]

इस प्रकार, इन दो जनताओं के मित्रतापूर्ण संबंध पिछले अनेक वर्षों से विकसित हो रहे हैं। अब वे दो राष्ट्रों—सोवियत संघ तथा स्वाधीन भारतीय गणतंत्र—के सहकार एवं मित्रता का विकसित स्वरूप ग्रहण कर चुके हैं। पिछले कुछ दशकों में सोवियत-भारतीय मित्रता, निकट से निकटतर होती चली जा रही है तथा अब यह राष्ट्रों में शांति को सुदृढ एवं शक्तिशाली बनाने में एक महत्त्वपूर्ण कारक बन चुकी है।

1. संसदीय बहस · आधिकारिक रपट, प्रति 186, 1924-1925, पृ॰ 720